राज्यविज्ञान के मूल सिद्धान्त

लेखक
श्री ज्योति प्रसाद सूद, एम० ए०,
अध्यक्ष, राज्यविज्ञान विभाग,
मेरठ कॉलिज, मेरठ

तथा

श्री अ० न० मेहता, एम० ए०, पी-एच० डी०,
अध्यक्ष, राज्यविज्ञान तथा इतिहास विभाग,
बलवन्त राजपूत कॉलिज, आगरा

द्वितीय खण्ड

लक्ष्मी नारायण अग्रवाल
प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता
हास्पिटल रोड, आगरा

१९६२ मूल्य ६ ५० न० पै०

प्रथम संस्करण १९५१
द्वितीय सस्करण १९५३
सशोधित सस्करण (दो खण्डो मे) १९५६
चतुर्थ सस्करण १९६२

प्रकाशक
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
आगरा

वक्तव्य

हिन्दी अब राष्ट्र-भाषा के सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित हो गई है और उत्तर भारत के अनेक विश्वविद्यालयो मे शिक्षा का माध्यम भी बनती जा रही है। अत अब उच्च शिक्षा के विभिन्न विषयो पर हिन्दी मे श्रेष्ठ साहित्य की रचना अत्यन्त आवश्यक हो गई है। लेखक ने राज्य विज्ञान के क्षेत्र म प्रस्तुत पुस्तक द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति के महत्वपूर्ण कार्य म भाग लेने का प्रयास किया है। यह पुस्तक अधिकाश म मेरी अग्रेजी मे लिखी हुई पुस्तक Elements of Political Science का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी रचना मे मुझे बलवन्त राजपूत कॉलिज, आगरा के इतिहास तथा राज्य विज्ञान विभाग के अध्यक्ष, मेरे परम मित्र, श्री अ० न० मेहता एम० ए०, पी-एच०डी० से बडी अमूल्य सहायता मिली है। उन्होने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर अग्रेजी पुस्तक के हिन्दी रूपान्तर का बड परिश्रम मे सशोधन किया है और अपने अनुभव के प्रकाश मे यत्र-तत्र अनेक परिवतन भी किये हैं। कानून शीर्षकवाला अध्याय भी उन्हीं का लिखा हुआ है। आशा है कि यह पुस्तक न केवल हमारे विश्वविद्यालयो एव कॉलेजो के छात्रो को, वरन् राज्य विज्ञान में रुचि रखनेवाले अन्य नागरिको को भी उपयोगी सिद्ध होगी।

शिवरात्रि,
६ मार्च, १९५१

ज्योतिप्रसाद सूद

नवीन सस्करण का वक्तव्य

'राज्य विज्ञान के मूल सिद्धान्त' का यह कुछ अशो मे सशोधित एव परिवर्धित सस्करण पाठको की सेवा मे प्रस्तुत है। अभी हाल ही मे आगरा विश्वविद्यालय ने बी० ए० कक्षाओ के विद्यार्थियो के लिये राज्य विज्ञान के पाठ्य विषय को दो भागो मे विभक्त करके प्रथम वर्ष तथा द्वितीय वर्ष के छात्रो के लिये अलग-अलग पाठ्यक्रम निर्धारित कर दिया है। इस कारण छात्रो की सुविधा के लिये मूल पुस्तक को उसके अध्यायो के क्रम म परिवतन करके तथा स्वतन्त्रता, समानता, अधिकार, उपयोगितावाद, आदर्शवाद, लोकमत, कल्याणकारी राज्य आदि प्रकरणो का, जिनकी मूल पुस्तक मे सक्षेप मे ही व्याख्या की गई थी, विस्तृत विवेचन करके और पाठ्य क्रमानुसार उसे दो भागो म बाँटकर, इस नवीन रूप मे प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है इस सशोधित सस्करण मे छात्रो को सभी आवश्यक पाठ्य सामग्री उपलब्ध हो सकेगी और पुस्तक उनके लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

श्रीगुरुपूर्णिमा,
२२ जुलाई, १९५६

अ० न० मेहता

चतुर्थ संस्करण का वक्तव्य

'राज्य विज्ञान के मूल सिद्धान्त' का यह चतुर्थ संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत हो रहा है। कहीं-कहीं विषय को अधिक सुस्पष्ट एवं सुबोध बनाने के लिये किये हुए कुछ संशोधन और परिवर्धन के साथ अधिकांश में यह तृतीय संशोधित संस्करण का पुनर्मुद्रण ही है। परंतु इसमें कुछ नवीन बातों का समावेश भी किया गया है। छात्रों एवं मित्रों के अनुरोध को स्वीकार कर प्रत्येक अध्याय के अन्त में अभ्यास के लिये कुछ प्रश्न दिये गये हैं जिनकी सहायता में विषय का हृदयगम करने तथा परीक्षा के लिये तैयारी करने में विद्यार्थियों को सुविधा होगी। इसके अतिरिक्त पाठकों को अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध एतद्विषयक प्रामाणिक साहित्य की ओर आकर्षित करने तथा उसके अवलोकन के लिये प्रोत्साहित करने की दृष्टि से जिन अधिकारी लेखकों के विचारों का हमने पुस्तक में स्थान स्थान पर उल्लेख किया है उनकी अंग्रेजी भाषा में लिखित मूल पुस्तकों से पादटिप्पणियों के रूप में कुछ अवतरण भी दिये हैं। आशा है इन नवीन बातों से पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि होगी और वह छात्रों के लिये अधिक उपयोगी हो सकेगी।

श्रीगौरपूर्णिमा
२१ ३ ६२

व्र० न० मेहता

विषय-सूची

राजनीतिक धारणाएँ

वर्तमान युग की राजनीतिक विचारधाराएँ

राजनीतिक धारणाएँ

अध्याय १

प्रभुत्व

अद्वैतवाद (Monism) तथा बहुवाद (Pluralism)

प्रभुत्व की प्रकृति—

आधुनिक राज्य प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है। प्रभुत्व राज्य का एक प्रमुख विधायक तत्त्व है। एक जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नही कर सकती जब तक कि वह ऐसे आंतरिक सगठन का विकास न कर ले जो नागरिकों को आदेश दे सके और उनका पालन करवा सके। राज्य को जनता के मामलों का नियन्त्रण एव नियमन करने की सर्वोच्च सत्ता भी होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यह सत्ता बाहरी नियन्त्रण से मुक्त या प्राय मुक्त होनी चाहिये। इस प्रकार सगठित जनता की सत्ता पर बाहरी अथवा भीतरी किसी प्रकार का नियन्त्रण नही होना चाहिये। राज्य का यह लक्षण प्रभुत्व (Sovereignty) कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि "प्रत्येक राज्य मे कोई व्यक्ति, परिषद या समुदाय (यथा निर्वाचक मण्डल) हो, जिसे सामूहिक इच्छा को कानून के रूप मे अभिव्यक्त करने तथा उसे लागू करने की सर्वोच्च सत्ता हो अर्थात उसे आदेश देने तथा उसका पालन करने की अन्तिम सत्ता हो।"* साराश म, इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक राज्य मे एक सार्वजनिक सत्ता ऐसी होती है जिसके, कानूनी रूप मे, सब हित अधीन होते हैं जिनका वह सार्वजनिक हित की दृष्टि से नियमन एव नियन्त्रण कर सकता है। इस प्रभुत्व के कारण अपनी सीमा के भीतर राज्य समस्त व्यक्तियो एव संस्थाओ से उच्च होता है और उनके व्यवहार का नियमन करने के लिये नियम तथा कानून निर्धारित कर सकता है जिनका उल्

---

*Garner Political Science and Government, p 156 'In every fully independent state there is some person, assembly, or group (e g the electorate) who or which has the supreme power of formulating in terms of law, and of exerting collective will that is the final power to command and obedience to its authority'

पालन करना पड़ता है। विरोध होने पर राज्य की इच्छा को मान्यता दी जाती है। उसका आदेश अन्तिम होता है। अपने प्रभुत्व के कारण ही राज्य उन अधिकारियों एवं स्वतन्त्रताओं का आदि स्रोत है जिनका नागरिक भोग करते हैं। इसी प्रभुत्व के कारण वह समाज में एकमात्र कानून बनानेवाली सत्ता है और कानूनी तथा गैरकानूनी के भेद का स्रोत है। कानून का स्रोत होने के कारण प्रभु अपने बनाये हुए कानून के ऊपर होता है और इसी कारण असीमित होता है। सर्वोच्च होने के कारण वह सबको आदेश देता है परन्तु किसी से आदेश प्राप्त नहीं करता। उसकी इच्छा की कोई कानूनी सीमा नहीं है। उसके बनाये हुए कानून सही समझे जाते हैं चाहे सामाजिक हित की दृष्टि से उनका मूल्य कुछ भी हो। लास्की के शब्दों में, जिस वस्तु का वह इरादा करता है वह इरादे की घोषणा मात्र से ही ठीक समझी जाती है। संक्षेप में, इसका यह अर्थ है कि समाज में राज्य से बढ़कर ऊँची या बड़ी सत्ता नहीं।

अद्वैतवाद (Monism)—

राज्य प्रभुत्व के कभी कभी दो पहलू बताये जाते हैं—आन्तरिक और बाह्य। जो कुछ ऊपर कहा गया है वह उसका आन्तरिक पहलू है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि राज्य को अपने समस्त व्यक्तियों एवं समुदायों को बिना किसी शर्त के आदेश देने का और उससे उसका पालन करवाने का अधिकार है। बाह्य प्रभुत्व का अर्थ 'स्वतन्त्रता' शब्द से अधिक अच्छी तरह प्रकट होता है। इसका अर्थ यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक राज्य को बिना किसी दूसरे राज्य के हस्तक्षेप के अपनी नीति निर्धारित करने और कार्य करने की स्वतन्त्रता है। किसी राज्य को दूसरे राज्यों को उनके कर्तव्यों के सम्बन्ध में आदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिये। वह केवल अपनी इच्छा से ही बँधा रहता है। इस प्रकार राज्य के प्रभुत्व में दो बातें स्पष्ट हैं—राज्य की सीमा के भीतर समस्त व्यक्तियों एवं संस्थाओं पर उसकी सर्वोपरि सत्ता और विदेशी नियन्त्रण से मुक्ति। पहला पहलू बोदा की व्याख्या में स्पष्ट हो जाता है। उसने कहा है कि नागरिकों तथा प्रजा पर कानून से अमर्यादित राज्य की सर्वोपरि सत्ता का नाम प्रभुत्व है।* जेलिनक ने अपनी परिभाषा में दूसरे पहलू पर जोर दिया है। प्रभुत्व 'राज्य' की वह विशेषता है जिसके कारण कानूनी रूप से वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता द्वारा मर्यादित नहीं है।+ बर्गेस ने प्रभुत्व की परिभाषा निम्न

*Sovereignty is the supreme power of the state over citizens and subjects, unrestrained by law (Bodin)

प्रकार की है "वह समस्त व्यक्तियों एवं संस्थाओं पर मौलिक, निरपेक्ष और असीमित सत्ता है। यह आदेश देने तथा उसका पालन कराने की अप्राप्त एवं स्वतन्त्र सत्ता है।"† इस परिभाषा में प्रभुत्व की निरपेक्ष तथा असीमित प्रकृति पर जोर दिया गया है। हम कह सकते हैं कि राज्य की कानून बनाने तथा अपने पूर्ण बल से उन पर अमल करवाने की सत्ता प्रभुत्व है। इस सिद्धान्त को जिसके अनुसार समाज में राज्य की ही एकमात्र सर्वोच्च सत्ता होती है प्रभुत्व का अद्वैतवादी या एकवादी सिद्धान्त (Monistic theory) कहते हैं।

प्रभुत्व का इतिहास—

राज्य के प्रभुत्व (कानूनी) का सिद्धान्त आधुनिक है। यह राज्यविज्ञान की सबसे महत्वपूर्ण धारणाओं में से एक है और अन्तर्राष्ट्रीय विषय-सम्बन्धी विवाद में इसका प्राधान्य है। अरस्तू की 'पालिटिक्स' पुस्तक में प्रभुत्व शब्द कहीं नहीं है और न इसका प्रयोग रोमन विचारकों ने ही किया। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे इस धारणा से परिचित नहीं थे। अरस्तू ने राज्य की सर्वोच्च सत्ता (Supreme power of State) की चर्चा की है। रोमनों ने भी सर्वोच्च सत्ता (Summa Potestas) का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि वे राज्य में सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता का अनुभव करते थे। किन्तु ऐसी सर्वोच्चता, जिसकी उन्होंने कल्पना की, आधुनिक प्रभुत्व-सिद्धान्त के अनुरूप नहीं थी। रोम तथा यूनान में ऐसी स्थिति नहीं थी जिसमें प्रभुत्व के आधुनिक सिद्धान्त का आविर्भाव सम्भव होता। राज्य तथा व्यक्ति एवं संस्थाओं के बीच उस समय विरोध नहीं था और यह विचार कि राज्य ही कानून का स्रोत है, यूनान में विद्यमान नहीं था। वहां राज्य कानून के अधीन था। मध्य-युग में राज्य के लिये कोई भावना नहीं थी और केन्द्रीय सत्ता पर कोई एक-रूप निर्भरता नहीं थी। एक प्रदेश में सत्ता कुछ प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं के बीच वितरित थी। उस युग में चर्च, रोमन सम्राट, सामन्त तथा व्यापारिक संघ व्यक्तियों पर अपने अपने प्रभाव का विस्तार करने के लिये प्रयत्नशील थे। ऐसी स्थिति में प्रभुत्व सिद्धान्त के प्रादुर्भाव के लिये कोई अनुकूल अवसर ही नहीं था। मध्य-युग के अन्त में उस समय की अव्यवस्था में समाज में शान्ति एवं

---

* Sovereignty is that characteristic of the state in virtue of which it cannot be legally bound except by its own will, or limited by any other power than itself (Jellinek)

† Sovereignty is the original, absolute and unlimited power over the individual subject and over all associations of subjects the underived and independent power to command and compel obedience (Burgess)

व्यवस्था की सुरक्षा के लिये राष्ट्रीय राज्यो (National State) का उदय हुआ। इन राज्यो के एकतन्त्रीय शासको ने नागरिक कानून के निर्माण के एकत्रित अधिकार का दावा किया। इसके लिये यह आवश्यक था कि शासक लोग पोप, सामन्तो और स्वशासित नगरो की सत्ता का निषेध करते। इस प्रकार आन्तरिक तथा बाह्य प्रभुत्व के सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु यह शासक (Monarch) का प्रभुत्व था, राज्य का नही। धीरे धीरे यह शासक के प्रभुत्व से पृथक् राज्य का एक प्रमुख विधायक तत्व माना जाने लगा। बोदाँ ने १६वी सदी म सबसे प्रथम राज्य प्रभुत्व का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया। उसके अनुसार प्रभु का मुख्य कार्य कानून बनाना है। प्रभु को अपने निर्मित कानूनो से ऊपर बतलाकर उसने प्रभुत्व को निरपेक्ष बना दिया। उसने इतना अवश्य स्वीकार किया कि प्रभु (Sovereign) दैवी विधान तथा प्राकृतिक नियम से बाध्य है और वह ईश्वर के समक्ष अपने समस्त कृत्यो के लिये उत्तरदायी है। बोदाँ ने तो आन्तरिक प्रभुत्व का प्रतिपादन किया और ग्रोटियस ने उसके बाहरी पहलू पर जोर दिया किन्तु लोक प्रभुत्व (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त पर न तो बोदाँ ने और न बाद म हाब्स तथा लाक ने ही कोई प्रकाश डाला। रूसो के 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त से ही लोक प्रभुत्व के आधुनिक सिद्धान्त का विकास हुआ। इस सिद्धान्त के आधुनिक व्याख्याकारो म ऑस्टिन, ग्रीन और बोसानक्वे प्रसिद्ध हैं। आस्टिन ने इस पर कानूनी दृष्टि से विचार किया और राज्य के कानूनी प्रभुत्व के सिद्धान्त की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या की। ग्रीन तथा बोसानक्वे का विवेचन दार्शनिक अधिक था। ग्रीन ने आस्टिन के मत और रूसो के मत मे सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। हाल म प्रभुत्व के परम्परागत सिद्धान्त की जिसके अनुसार राज्य निरकुश और सर्वशक्तिसम्पन्न माना जाता है बहुवादी लेखको ने बडी तीव्र आलोचना की है। उन्होने परम्परागत सिद्धान्त से बिलकुल विपरीत राज्य की नई भावना प्रस्तुत की है।

प्रभुत्व के लक्षण—

परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार राज्य प्रभुत्व के निम्नलिखित लक्षण माने गये हैं —(१) असीमता, निरपेक्षता अथवा निरकुशता, (२) एकता, (३) अनन्यता अथवा वर्जनशीलता, (४) सर्वव्यापकता, (५) स्थायित्व और (६) अविच्छेद्यता।

(१) निरपेक्षता—राज्य का प्रभुत्व निरपेक्ष अथवा असीम होता है। इसका अर्थ यह है कि समाज मे प्रभु से महान और ऊँची अन्य कोई सत्ता नही होती। प्रभु की कानून बनाने की सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध या किसी प्रकार की कानूनी मर्यादा नही है यद्यपि प्रभु स्वय उन कानूनो से ऊपर है। यह बात

ऑस्टिन के सिद्धान्त मे सर्वथा स्पष्ट है। उसने यह माना है कि निश्चित मानव-प्रभु समस्त कानूनो का स्रोत है और इस कारण उस पर किसी उच्च कानून द्वारा कोई मर्यादा नही लगाई जा सकती। राज्य मे प्रभुत्व-सम्पन्न अधिकारियो की कोई एक सीढीनुमा शृंखला नही हो सकती। कानूनी दृष्टि से यह सिद्धान्त मानना ही पडेगा कि प्रभु कानूनी रूप से अनियन्त्रित है। यह मानना कि प्रभु पर भीतरी या बाहरी किसी बडी सत्ता का नियन्त्रण है, स्वय प्रभुत्व का निषेध होगा। यह सर्वथा विरोधोक्ति होगी।

अनेक व्यक्ति इस असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। वे ऐसी अनेक बाते हमारे सामने पेश करते हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि राज्य की असीम सत्ता जैसी कोई चीज नही हैं। प्रभुत्व भीतर से व्यक्तियो तथा समूहो के अधिकारो, दैवी कानूनो की मर्यादाओ, न्याय की भावना, धार्मिक विधि निषेध आदि तथा परम्परा से स्थापित लोकाचार एव देशाचार से सीमित है। ससार मे आज तक ऐसा कोई भी स्वेच्छाचारी शासक नही हुआ और न कभी हो सकता है जो सर्वथा अनियन्त्रित सत्ता का उपभोग करता हो। तुर्की के सुल्तान और रूस के जार भी अपने अपने देश के लोकाचार के विपरीत नही चल सके। जो राज्य नैतिक विचारो की उपेक्षा करता है और नागरिको के धार्मिक व्यापारो मे हस्तक्षेप करता है उसका नाश हो जाता है। प्रत्येक काल मे तथा प्रत्येक स्थान मे राज्य की सत्ता उसके आदेशो की अवज्ञा की सम्भावना के कारण सीमित रही है। भारत मे ब्रिटिश पार्लमिण्ट की सत्ताएँ कानूनी दृष्टि से असीमित थी किन्तु वह भारतीय जनता की इच्छा के विरुद्ध भारत पर कोई सविधान नही लाद सकी। इस विचार से कई लेखक प्रभुत्व को 'सीमित' करना पसन्द करते हैं।

एक अर्थ मे राज्य का प्रभुत्व सीमित कहा जा सकता है, जिन प्रतिबन्धो की चर्चा ऊपर की गई है वे वास्तविक हैं। स्वेच्छाचारी से स्वेच्छाचारी शासक भी अपनी प्रजा की माँगो को अधिक समय तक नही ठुकरा सकता। प्रत्येक सभ्य राज्य को सदाचार तथा न्याय के सिद्धान्तो को मान्यता देनी पडती है और उनका आदर करना पडता है। मनुष्य के प्राकृतिक तथा जन्मसिद्ध स्वत्वो के कारण भी प्रभुत्व पर जो प्रतिबन्ध उत्पन्न होते है, वे भी वास्तविक हैं। किन्तु इन समस्त प्रतिबन्धो के सम्बन्ध मे सबसे बडी आपत्ति यह है कि वे क़ानूनी नही हैं। वे उसी सीमा तक राज्य के लिये बन्धनकारी हैं, जिस सीमा तक वह उन्हे स्वीकार करता है। वे राज्य द्वारा स्वय आरोपित हैं। जो प्रतिबन्ध किसी व्यक्ति द्वारा स्वय अपने ऊपर लगाया जाय, वह वास्तव मे प्रतिबन्ध नही कहा जा सकता क्योकि वह जब चाहे तब उसे हटा सकता है, और राज्य के प्रति-

रिक्त एसा कौन है, जो इस बात का निर्णय कर सके कि राज्य ने इन नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन किया है या नहीं। अत हम गार्नर के इस कथन से सहमत है कि कानूनी दृष्टि से ये मर्यादाएँ वास्तव मे राज्य-प्रभुत्व की मर्यादाएँ नहीं है। "प्रकृति के नियम, सदाचार के सिद्धान्त, ईश्वरीय नियम, मानवता तथा विवेक-बुद्धि के आदेश, लोकमत का भय तथा प्रभुत्व पर अन्य तथा-कथित प्रतिबन्धो का कोई भी कानूनी प्रभाव नही है। यह प्रभाव केवल उसी समय और उसी सीमा तक है जहा तक राज्य उन्हे स्वीकार कर लेता है और उन्हे अमल मे लाता है"* अत हमे इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पडता है कि राज्य प्रभुत्व पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नही है। गार्नर ने लिखा है कि—"जब तक हम उस सत्ता तक नही पहुँच जाते जो कानूनी रूप मे असीमित है, तब तक हम प्रभुत्व का साक्षात्कार नहीं होता। ऑस्टिन ने कहा है कि कानून द्वारा सीमित सर्वोच्च सत्ता विरोधोक्ति है।"†

ऐसे भी विद्वान हैं जो असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त का खण्डन अपने इन मन्तव्यों के आधार पर करते है कि वह नागरिकों की स्वतन्त्रता के प्रतिकूल है, इससे राज्य स्वेच्छाचारी बन जायगा, आज की स्थिति मे राज्य की सत्ताओ को मान्यता देने की अपेक्षा नागरिक स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देने की आवश्यकता है। यह आक्षेप दोहरी भ्रान्ति के कारण किया जाता है। सर्वप्रथम, यह सिद्धान्त तार्किक रूप से हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि यह राज्य का कानूनी अधिकार है कि वह अपने अधीन प्रजा के समस्त व्यापारो पर नियन्त्रण रखे। इसमे राज्य का ऐसा करने का नैतिक अधिकार समाविष्ट नहीं है। समस्त राज्य मे राज्य का नैतिक अधिकार सीमा के परे व्यक्तिगत जीवन का क्षेत्र स्वीकृत है। दूसरे यह समझना भी कठिन है कि राज्य का प्रभुत्व नागरिकों की स्वतन्त्रता के कैसे प्रतिकूल है। जैसा कि आगे दिखलाया जायगा, राज्य का प्रभुत्व नागरिको की स्वतन्त्रता का विरोधी न होकर उसकी सर्वथा अनिवार्य शर्त है। अन्त मे यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को जो चीज सकट मे डालती है वह शासन की अनियन्त्रित सत्ता है—राज्य की

---

*The law of nature, the principles of morality the laws of God the dictates of humanity and reason, the fear of public opinion and other alleged restrictions on sovereignty have no legal effect except insofar as the state chooses to recognise them and give them force and validity (Garner, p 170)

† ' not until we reach that power which is legally unlimited do we come into the presence of the sovereign Supreme power, limited by positive law, said Austin is a flat contradiction in terms (Garner, p 171)

सत्ता नहीं। यह सिद्धांत राज्य के प्रभुत्व का प्रतिपादन करता है, शासन के प्रभुत्व का नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भावात्मक दृष्टि से प्रभुत्व असीमित है। इसके विरुद्ध जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं, वे भ्रान्तिजन्य है। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि कानून निर्माण के क्षेत्र में जिसमें प्रभुत्व के सिद्धांत को विशेष रूप से लागू किया जाता है, यह बात केवल सैद्धांतिक रूप से ही सत्य है। कानून-निर्माण करनेवाली संस्थाओं की व्यवस्था में ऐसी सत्ता अवश्य होनी चाहिये जिसके ऊपर कोई उच्च सत्ता नहीं हो और जिसकी क्षमता इस प्रकार आवश्यक रूप से असीमित हो। किन्तु व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में असीमित प्रभुत्व का विचार अवास्तविक है। बहुतसी बातें ऐसी हैं जिन्हें करने की कानूनी दृष्टि से राज्य को क्षमता है परन्तु जिन्हें वह वास्तव में कर नहीं सकता।

(२) एकता तथा अविभाज्यता—प्रभुत्व की एकता से प्रयोजन यह है कि उसको हम खण्डों में विभाजित नहीं कर सकते। वह सदैव अविभाज्य ही रहता है। प्रभुत्व का सार इच्छा की सर्वोच्चता में है और राज्य के भीतर केवल एक ही सर्वोच्च इच्छा हो सकती है। यदि एक ही राज्य में दो अधिकारियों द्वारा प्रभुत्व सत्ता का प्रयोग किया जाता है, तो वह एक राज्य नहीं, दो राज्य है। कल्हाउन ने जोरदार शब्दों में कहा है कि—'प्रभुत्व समूची चीज है, उसे विभाजित करना उसका नाश कर देना है। वह राज्य में सर्वोच्च सत्ता है। अर्ध प्रभुत्व की बात करना वैसा ही है जैसा आधे वर्ग अथवा आधे त्रिभुज की बात करना।"*

प्रभुत्व की अविभाज्यता उसकी असीमता का अनिवार्य परिणाम है। विभाजित प्रभुत्व उसी प्रकार विरोधोक्ति है जिस प्रकार कानूनों से मर्यादित प्रभुत्व। जो लेखक राज्य की असीमता का विरोध करते है, वे उसकी एकता का भी निषेध करते है। वे विभाजित प्रभुत्व की बातें करते हैं। इस प्रकार लॉवेल ने लिखा है कि एक ही राज्य में दो प्रभुत्वसम्पन्न अधिकारी एक ही प्रजा को आदेश दे सकते हैं, किन्तु भिन्न मामलों में। लॉर्ड का भी विचार है कि दो समकक्ष अधिकारियों के बीच प्रभुत्व का विभाजन हो सकता है। ऐसा संघ-राज्य में होता है। संघ शासन संघीय विषयों के सम्बन्ध में प्रभुत्व-सत्ताओं का प्रयोग करता है और स्थानीय या राज्यों के शासन राज्य के मामलों में प्रभुत्व-सत्ताओं का प्रयोग करते हैं। किन्तु इन मामलों में जिस सत्ता का विभाजन

*Sovereignty is an entire thing, to divide it is to destroy it It is the supreme power in a state and we might just as well speak of half a square or half a triangle as half a sovereignty" (Calhoun, quoted in Garner, p 156)

किया गया है, वह राज्य-प्रभुत्व नही, शासन सम्बन्धी सत्ता है। एक ही प्रभुत्व-सत्ता अनेक रूपों मे प्रकट होती है। सघ राज्य मे जनता की सर्वोच्च इच्छा सघीय विषयो के सम्बन्ध मे सघ शासन के द्वारा अभिव्यक्त होती है और राज्यो के विषयो के सम्बन्ध म राज्यो के शासन द्वारा। प्रभुत्व इच्छा की सर्वोच्चता है, अत उसका विभाजन नही हो सकता क्योकि इच्छा का विभाजन नही हो सकता। बहुवादी लेखक प्रभुत्व का राज्य तथा अन्य समुदायो के बीच विभाजित करते है। इस विचार का समर्थन नही हो सकता। समुदाय राज्य के समकक्ष नही हो सकते, वे राज्य के अधीन ही रहते हैं, चाहे उनके स्वायत्त शासन का क्षेत्र कितना ही विस्तृत हो। बहुवाद को पूर्णत अमल म लाने से राज्य का ही अन्त हो जायगा।

(३) अनन्यता —इसका अर्थ यह है कि राज्य में एक ही प्रभु-सत्ता हो सकती है।

(४) सार्वभौमता—प्रभुत्व की वह विशेषता जिसके कारण राज्य के भीतर सभी व्यक्ति एव सस्थाएँ उसकी अधीनता म रहती हैं, सार्वभौमता कहलाती है। कोई भी व्यक्ति या सस्था उसके नियन्त्रण से मुक्ति पाने का अधिकार नही रखती। किन्तु इसके कुछ अपवाद भी हैं। वैदेशिक राजदूत तथा व्यापारिक प्रतिनिधि, किसी राज्य के भीतर से निकलती हुई विदेशी सेनाएँ, विदेशी राजा जो अस्थायी रूप से उस राज्य मे रह रहे हो, अन्तराष्ट्रीय शिष्टाचार के अनुसार उस राज्य की प्रभुत्व-सत्ता के नियन्त्रण से मुक्त होते हैं। कभी-कभी एक निर्बल राज्य अपनी सीमा के अन्दर रहनवाले किसी सबल राष्ट्र के नागरिको का ऐसा अधिकार दे देता है जिसके द्वारा वे अपने ही राज्य के कानूनो से बाध्य होते हैं। एसी अवस्था मे निर्बल राज्य की प्रभुता का उल्लघन होता है। पिछले कुछ वर्षो तक ऐसी स्थिति देखी जाती थी परन्तु अब प्राय नही रही।

(५) स्थायित्व—राज्य के स्थायित्व के सम्बन्ध मे हम काफी प्रकाश डाल चुके हैं। अत प्रभुत्व के स्थायित्व के सम्बन्ध मे अधिक प्रकाश डालना आवश्यक नही है। इस गुण के कारण जब तक राज्य कायम रहता है तब तक उसका प्रभुत्व भी निरन्तर कायम रहता है। किसी प्रभुत्व सत्ताधारी की मृत्यु के कारण प्रभुत्व का अन्त नही हो जाता। वह तुरन्त ही नवीन उत्तराधिकारी को प्राप्त हो जाता है। निम्नलिखित वाक्य का यही वास्तविक महत्व है। राजा का स्वर्गवास हो गया, राजा चिरायु हो।' (The King is dead, long live the King)

(६) अविच्छेद्यता—प्रभुत्व की अविच्छेद्यता (Inalienability) का अर्थ यह है कि राज्य अपनी प्रभुता का त्याग अपना विनाश किये बिना नहीं कर सकता। प्रभुत्व राज्य का प्राण है। उसका त्याग करना आत्महत्या करना है।* प्रभुत्व दिया जा सकता है या नहीं यह प्रश्न पहले बड़ा महत्वपूर्ण था। अब इसका कोई महत्व नहीं रहा।

इस बात को सदा ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रभुत्व के उपर्युक्त लक्षण कानूनी अथवा वैध प्रभुत्व के ही हैं। प्रभुत्व की कानूनी भावना उसकी अनेक भावनाओं में से केवल एक है। अब हम उन अन्य भावनाओं पर विचार करेंगे।

प्रभुत्व के विभिन्न अर्थ—

यह वास्तव में चिन्तनीय बात है कि राज्य का एक मुख्य तत्व होते हुए भी प्रभुत्व शब्द के अनेक अर्थ हो सकते है।

नाममात्र का प्रभुत्व (Nominal Sovereignty)—प्रभुत्व के विविध अर्थों का स्पष्टीकरण उस समय अच्छी प्रकार हो जायगा, जबकि हम किसी वास्तविक राज्य के सम्बन्ध में विचार करें। ब्रिटेन का ही प्रश्न लें। वहाँ कौन प्रभु है ? साधारण व्यक्ति उत्तर देगा कि राजा ही प्रभु है। राजकीय भाषा में भी इंगलैंड के राजा को प्रभु (Sovereign) कहा जाता है। जब अतीत काल में इंगलैंड के राजा को वास्तविक सत्ता प्राप्त थी तभी से ऐसा प्रयोग होने लगा। आज इंगलैंड के राजा को वास्तविक सत्ता प्राप्त नहीं है, उसकी सत्ता नाममात्र की है। वह राज्य का नाममात्र का प्रभु है। उसकी वास्तविक सत्ता अन्यत्र है। एक पद के रूप में ही राजा को प्रभु कहा जाता है। इस प्रकार का प्रभुत्व नाममात्र का प्रभुत्व है।

कानूनी प्रभुत्व (Legal Sovereignty)—जो सब व्यक्तियों पर लागू होनेवाले कानून बनाने की सर्वोच्च सत्ता को प्रभुत्व का मुख्य लक्षण मानते हैं वे तुरन्त ही कहेंगे कि पार्लमेण्ट अथवा राजा सहित पार्लमेण्ट ही प्रभु है। इस प्रकार का प्रभु कानूनी प्रभु है और इस प्रकार के प्रभुत्व को कानूनी प्रभुत्व कहते हैं। यह राज्य प्रभुत्व की एक वकील की कल्पना है। वह राज्य में प्रभु और सर्वोच्च नियामक में एकरूपता मानता है। इसके द्वारा जिस कानून की घोषणा की जाती है वही राज्य का कानून होता है और सब

---

*Sovereignty can no more be alienated than a tree can alienate its right to sprout or a man can transfer his life and personality without self-destruction.' (Lieber)

नागरिकों पर वे अनधिकारी होता है। न्यायालय उसी कानून पर अमल करते हैं जिसका कानूनी प्रभु निर्माण करता है। उसकी कानून बनाने की सत्ता पर कोई मर्यादा नहीं होती। कानूनी दृष्टि से ब्रिटिश पार्लामेण्ट सर्वशक्तिशाली है। जैसा डायसी का कथन है, वह एक बालक को पूर्ण वयस्क घोषित कर सकती है, वह मृत्यु के बाद किसी भी व्यक्ति को राजद्रोही सिद्ध कर सकती है, वह दोगली सन्तान को औरस सन्तान बना सकती है और यदि वह उचित समझे तो किसी व्यक्ति को अपने ही मामले में न्यायाधीश बना सकती है। ऐसा कोई भी नागरिक अधिकार नहीं है जिसे वह रद्द न कर सके।'

कानूनी प्रभु सदैव निश्चित और स्पष्ट होता है। वह एक शासक (जैसे एकतन्त्र राज्य में), या एक परिषद (जैसे प्रजातन्त्र में) हो सकता है। परिषद् बड़ी हो या छोटी, किसी भी समय उसमें एक निश्चित संख्या में सदस्य होते हैं। इस प्रकार कानूनी प्रभु एक विशिष्ट मानवी सत्ता होता है। वह निश्चित रूप से संगठन और कानून द्वारा स्वीकृत होता है। वही कानूनी भाषा में राष्ट्र की इच्छा को घोषित कर सकता है। सब अधिकार उसी में प्राप्त होते हैं। किसी भी व्यक्ति को उसके विरुद्ध अधिकार नहीं होता। कानूनी प्रभु सर्वोच्च और निरपेक्ष होता है।

राजनीतिक प्रभुत्व (Political Sovereignty)—एक अर्थ में इङ्गलैंड में ब्रिटिश पार्लामेण्ट सर्वोच्च नहीं है यद्यपि इङ्गलैंड में ऐसी कोई सत्ता या अधिकारी नहीं है जो पार्लामेंट के निर्णय को रद्द कर सके या जिसके मत या निर्णय को उसे मानना पड़े किन्तु उसके पीछे एक सत्ता है जिसके आदेशों का उसे पालन करना पड़ेगा और अन्त में जिसकी इच्छा ब्रिटिश राज्य में प्रधान होती है। वह निर्वाचक मण्डल अथवा लोकमत का बल या जनता की शक्ति है। इसलिये यदि हम सत्ता के अन्तिम आश्रय की खोज करनी है, तो हम कानूनी प्रभुत्व तक पहुँच कर ही नहीं ठहर जाना चाहिये। हमें अपना विश्लेषण आगे बढ़ाना चाहिये और उस प्रभुत्व की खोज करनी चाहिये जिसके सामने कानूनी प्रभु भी नतमस्तक होता है। उसे राजनीतिक प्रभु कहते हैं और उसकी सत्ता राजनीतिक प्रभुत्व कहलाती है।

कानूनी तथा राजनीतिक प्रभु में भेद तो स्पष्ट है किन्तु जब राजनीतिक प्रभु की भावना को एक निश्चित रूप देने का प्रयास किया जाता है तो बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। राजनीतिक प्रभु को लोकमत मानना उचित नहीं है क्योंकि प्रजातान्त्रिक देश में निर्वाचित विधान मण्डल ही लोकेच्छा का व्याख्याता माना जाता है। दूसरा अर्थ तो यह होगा कि जो वास्तव में कानूनी प्रभु

है, वही राजनीतिक प्रभु भी है। इसके अतिरिक्त लोकमत ऐसी वस्तु है जो स्थायी नहीं होती। वह सदा किसी न किसी बात से प्रभावित होता रहता है और बड़ा चंचल है। जनता को भी राजनीतिक प्रभु मानना उचित नहीं होगा क्योंकि वह भी धर्माधिकारियों, जमींदारों अथवा सैनिकवादियों के प्रभाव में हो सकती है। ऐसी अवस्था में जनता नहीं वरन वे व्यक्ति ही राजनीतिक प्रभु बन जायगे। जब निर्वाचक मण्डल को राजनीतिक प्रभु मान लेते हैं तब भी ऐसी कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। जहाँ मतदान जनता के एक भाग तक ही सीमित होता है, वहाँ मत न देनेवाला विशाल जन समुदाय भी मतदाताओं पर अपना प्रभाव डालता है। इस प्रकार की कठिनाइयों के कारण ही कुछ लेखक राजनीतिक प्रभुत्व की कल्पना को व्यर्थ मानते हैं। इस प्रकार लीकॉक का कथन है कि राजनीतिक प्रभुत्व के लिये "जितनी ही अधिक खोज की जाती है उतना ही वह अधिक दूर दिख पड़ता है।"[5] यों देखने में तो राजनीतिक प्रभुत्व का विचार अत्यधिक विवेकपूर्ण और तार्किक प्रतीत होता है किन्तु उसकी अधिक परीक्षा करने पर वह एक राजनीतिक 'आदि कारण' बन जाता है जिसकी भौतिक विज्ञान की तरह राज्य विज्ञान के क्षेत्र में व्याख्या नहीं की जा सकती। ऑस्टिन की निश्चित क़ानूनी भावना के बाहर सर्वत्र ... ... दिख पड़ता है।

जो सिद्धान्त अंतिम राज सत्ता को जनता मे मानता है, उसे लोक प्रभुत्व का सिद्धांत कहते हैं। यह सिद्धांत योरोप के इतिहास म समय-समय पर प्रकट हुआ और मिटा है। रोम के राजनीतिक विचार म एक मत था कि सीज़र ने अपना पद तथा अपनी सत्ता अंतिम रूप म रोम की जनता से प्राप्त की। परवर्ती मध्य-युग म पाडुआ के मारसीलिया तथा श्रोक्म के विलियम न इस मत पर जोर दिया। अठारहवी शताब्दी मे रूसो न बडे जोर के साथ इसका प्रतिपादन किया और तभी स यह प्रजातन्त्र का एक आधारभूत एव मौलिक सिद्धांत बन गया है। समस्त प्रजातन्त्रीय देशा म यह साधारणतया माना जाता है कि जनता ही राजनीतिक सत्ता की अंतिम संरक्षिका है।

लोक-प्रभुत्व का सिद्धांत बडा आकर्षक प्रतीत होता है किन्तु जब उसे हम निश्चित रूप देन का प्रयत्न करत हैं तो गम्भीर कठिनाइयां सामन आती हैं। राज्य का अंतिम प्रभु 'जनता' कौन है, इसका निश्चय करना सरल नहीं है और वह किस भाव म प्रभु है, इसकी व्याख्या करना और भी कठिन है। क्या समस्त असंगठित जनता जिसमे स्त्रियां तथा बालक भी सम्मिलित हैं, प्रभु हैं? इसका उत्तर है—नहीं, असंगठित जनता कभी एक प्रभु क रूप म कार्य नहीं कर सकती। यदि हम 'जनता' स तात्पर्य मतदाताओं से लें, तो भी यह स्पष्ट है कि व भी प्रभु नहीं हो सकते, जब तक कि व कानून द्वारा स्वीकृत माध्यम स अर्थात् अपन निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा कार्य न करें। मतदाताओं द्वारा अनियमित ढंग से दिया गया निर्णय उसी प्रकार कानूनी नहीं माना जा सकता जैसे विधान-मण्डल के सदस्यों द्वारा स्वीकृत किया गया गैर-सरकारी प्रस्ताव। यदि हम तर्क के लिये यह मान भी लें कि किसी अनिश्चित भाव मे निर्वाचक प्रभु हैं, तो भी उनकी ओर स प्रभुत्व-सत्ता का प्रयोग निरंतर नहीं हो सकता, वे प्रत्येक प्रश्न पर अपना निर्णय नहीं दे सकते। प्रभुत्व तो सदैव प्रयोग किये जाने की वस्तु है किन्तु निर्वाचक तो समय-समय पर ही कार्य करते हैं। अत यह स्पष्ट है कि अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्रवाले राज्य मे इस शब्द के किसी भी प्रचलित अर्थ मे निर्वाचकों को प्रभु नहीं माना जा सकता। केवल उन्हीं राज्यों मे जहाँ विधान मण्डल द्वारा स्वीकृत कानूनों पर जनता का मत अनिवार्य रूप से प्राप्त किया जाता है अथवा जनता को कानून बनाने का प्रारम्भिक अधिकार (Initiative) है या जहां सामान्य इच्छा को व्यक्त करन के लिय जनता एकत्रित होती है, लोक प्रभुत्व की भावना की उपलब्धि होती है।

किन्तु अप्रत्यक्ष जनतन्त्रवाले बडे राज्यों मे भी लोक प्रभुत्व क सिद्धान्तों का पूर्णत अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि इसमे सत्य नहीं होता तो इसे प्रजातन्त्र का आधार नहीं मान लिया जाता। इसका अर्थ यह मानना चाहिये

कि राजनीतिक सत्ता का एक मात्र सच्चा स्रोत जनता है और समस्त सत्ता का उद्गम जनता से ही होता है। वह (जनता) प्रभुत्व सत्ता का प्रयोग स्वय नही करती वरन ऐसी सत्ता का प्रयोग समाज मे जिस सस्था द्वारा होगा वह जनता की सदभावना और उसकी अनुमति पर आधारित होगी। जनता विधान मण्डल के कार्य म तथा नीति निर्माण के काय मे भाग चाहे न ले किन्तु उसे समस्त वैध सत्ता का स्रोत मानना चाहिये। इस अथ मे यह सिद्धान्त ग्राह्य है और अकाटय भी है। डा आशीवादम् न इस सिद्धान्त के निम्नलिखित परिणाम बतलाय हैं--

(क) शासन का अस्तित्व स्वय अपने हित के लिये नही, जनता के हित के लिये है।

(ख) यदि जनता की इच्छा की जान-बूझ कर उपक्षा की जाय, ता क्रान्ति की सम्भावना रहती है।

(ग) लोकमत की कानूनी रूप म अभिव्यक्ति के लिय सरल साधन प्रस्तुत करने चाहिये।

(घ) शासन को निम्नलिखित साधना द्वारा जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी बनाना चाहिय जैस समय-समय पर निर्वाचन, स्थानीय स्वराज्य, जनमत सग्रह, जनता द्वारा कानून का प्रारम्भिक निर्माण तथा प्रतिनिधिया को वापस बुलाना (Recall) आदि।

(ङ) शासन का अपनी सत्ता का प्रयोग देश के कानून के अनुसार ही करना चाहिय, स्वेच्छाचारी ढग से नही।

राष्ट्रीय प्रभुत्व—फैसिज्म ने राज्य का एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। वह लोक प्रभुत्व को स्वीकार नही करता और उसके स्थान पर राष्ट्र (Nation) के प्रभुत्व का प्रतिपादन करता है। इस सिद्धान्त का यह अभिप्राय है कि राष्ट्र केवल व्यक्तिया के समूहमात्र से कुछ अधिक है, वह एक रहस्यमय एकता है जिसम अतीत, वतमान तथा भावी पीढिया का भी समावेश रहता है। उसकी, व्यक्तिया की इच्छाओ से भिन्न, अपनी इच्छा होती है। यह इच्छा प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त द्वारा मानी हुई लोक इच्छा या सामान्य इच्छा से भी भिन्न होती है। राज्य के रूप मे सगठित राष्ट्र ही प्रभु है। राष्ट्र के हितो तथा व्यक्तिया के हिता मे जब सघष या विरोध हो तो राष्ट्र का हित ही सर्वोपरि होना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति राज्य की पूर्ण अधीनता मे रहते हैं। यह सिद्धान्त लोक प्रभुत्व के सिद्धान्त के, जिसमे व्यक्ति के मूल्य का इतना महत्व है और जो प्रजातन्त्र का मुख्य आधार है, सवथा विपरीत है।

कानूनी एवं वास्तविक प्रभुत्व—कुछ लेखकों ने भौतिक बल पर आधारित प्रभुत्व और कानूनी अधिकार पर आधारित प्रभुत्व में भेद माना है। पहले को वास्तविक प्रभुत्व (De Facto Sovereignty) और दूसरे को वैध प्रभुत्व (De Jure Sovereignty) कहते हैं। यह भेद क्रांति काल में स्पष्ट देखा जा सकता है। जब कोई विजेता या अपहरणकर्ता पुराने शासक को बलपूर्वक राजसिंहासन से उतार कर स्वयं अपनी शक्ति के कारण शासन करने लगता है तब उसे वास्तविक प्रभु माना जाता है। हिटलर जर्मनी के सैनिक राज्यपालों के द्वारा शासन करके सन १९४२ ई० से १९४५ ई० तक हॉलैंड तथा नार्वे का वास्तविक प्रभु रहा। काबुल से अमानुल्ला के पलायन के बाद बच्चा सक्का अफगानिस्तान का वास्तविक प्रभु था। जो प्रभु अपनी सत्ता को संविधान या कानून पर आधारित करता है और जनता की अनुमति से शासन करता है वह वैध प्रभु कहलाता है। सामान्य प्रवृत्ति यह है कि धीरे धीरे दोनों एक हो जाते हैं। जो वास्तविक प्रभु होता है वह वैध प्रभु बन जाता है जबकि उसके द्वारा निर्मित संविधान या कानून को जनता स्वीकार कर लेती है। अबीसीनिया पर इटली के राजा का प्रभुत्व आरम्भ में वास्तविक था किन्तु जब संसार के सभ्य राज्यों ने उसकी विजय स्वीकार करली, तब वह वैध प्रभुत्व हो गया।

आस्टिन इस भेद को अस्वीकार करता है। उसके अनुसार प्रभु सदैव वैध होता है क्योंकि प्रभु की इच्छा ही कानून है। यह भेद शासकों के सम्बन्ध में लागू हो सकता है जो वास्तविक और वैध हो सकते हैं। इस प्रकार का भेद करना गलत नहीं है परन्तु इसका कोई महत्व नहीं है।

आस्टिन का प्रभुत्व सिद्धान्त—प्रभुत्व के जिन रूपों का हमने विवेचन किया है उनमें से राज्य विज्ञान की दृष्टि से कानूनी तथा लोक प्रभुत्व के रूप ही सबसे अधिक महत्व के हैं। आधुनिक समय में इस सिद्धान्त का विवेचन अनेक विचारकों ने किया है जिनमें बोदाँ, हॉब्स तथा बेन्थम के नाम प्रसिद्ध हैं। इसका सर्वोत्तम विवेचन उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज विद्वान जॉन आस्टिन ने किया है। उसने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि 'यदि एक निर्दिष्ट श्रेष्ठ मानव, जो इसी प्रकार के किसी श्रेष्ठ मानव के आदेशों का पालन करने का अभ्यस्त न हो, किसी समाज के अधिकांश भाग को आदेश देता हो और वह अभ्यस्त रूप से उसका पालन करता हो, तो उस समाज में वह निश्चित मानव प्रभु होता है और वह समाज (उस श्रेष्ठ व्यक्ति सहित) राजनीतिक तथा स्वतन्त्र समाज

होता है।"* प्रभुत्व की यह परिभाषा उसकी कानून की उस परिभाषा पर आधारित है जिसमें उच्चतम व्यक्ति द्वारा निम्न व्यक्ति को दिये गये आदेश को कानून माना गया है। आस्टिन ने आगे यह भी लिखा है प्रभुत्व सम्पन्न व्यक्ति या संस्था द्वारा स्वतन्त्र राजनीतिक समाज के व्यक्तियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से जो कुछ भी आदेश दिया जाय उसके अतिरिक्त कानून और कुछ नहीं है।†

इस ठीक-ठीक समझने के लिये इस कथन का विश्लेषण निम्न प्रकार किया जा सकता है। (१) प्रभुत्व सत्ता प्रत्येक राजनीतिक समाज के लिये आवश्यक है क्योंकि उसके बिना कोई कानून नहीं हो सकता, और कानून के अभाव में कोई राजनीतिक समाज नहीं हो सकता। (२) यह प्रभु सदैव निश्चित होता है चाहे वह एक व्यक्ति हो या संस्था। इसके द्वारा प्रभुत्व के अस्तित्व को अनिश्चित जन समाज में या अव्यक्त सामान्य इच्छा में माननेवाले सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है। (३) इस निश्चित श्रेष्ठतम मानव के आदेश का समाज का अधिकांश अभ्यस्त रूप से पालन करता है। इस प्रकार प्रभुत्व का जनता द्वारा आदेश पालन से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जिस समाज का बहुमत प्रभु के आदेश का पालन करने का अभ्यस्त नहीं होता उसमें वह स्थगित हो जाता है। (४) मानव प्रभु का समस्त नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिये। उसे समाज के अन्दर या बाहर किसी अन्य मानव से आदेश प्राप्त करने का अभ्यास नहीं होना चाहिये, उसके ऊपर और कोई नहीं होता, वह सर्वोच्च होता है। प्रभुत्व असीमित और निरपेक्ष होता है। (५) कानून प्रभु का आदेश होता है। प्रभु की जो इच्छा होती है, उसी का नाम कानून है। समाज के लिये स्वतन्त्र रूप से कानून बनाने की सत्ता प्रभुत्व का मुख्य लक्षण है। चूंकि कानून प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति है इस कारण कोई भी कानून उसके लिये बंधनकारी नहीं होता। प्रभुत्व कानूनी दृष्टि से असीमित है। यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि आस्टिन ने यह कदापि नहीं माना कि प्रभु की सत्ता पर कोई

---

*If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior receive habitual obedience from the bulk of a given society that determinate human superior is sovereign in that society, and that society (including that superior) is a society political and independent

†Law is nothing but what 'is set directly or circuitously, by a sovereign person or body to a member or members of the independent political society wherein that person or body is sovereign or supreme'

भौतिक, नैतिक, बौद्धिक या सामाजिक प्रतिबन्ध नही है। उसने केवल राज्य के कानूनी निरपेक्ष प्रभुत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना—

उपर्युक्त सिद्धान्त की प्रत्येक बात की तीव्र आलोचनाएँ की गई है किन्तु उन सब में कुछ सत्यांश अवश्य हैं। इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे पहली आपत्ति यह की जाती है कि यह पूर्वी साम्राज्यो पर और आधुनिक राज्यो पर भी लागू नही किया जा सकता। ऑस्टिन ने जिस प्रकार के प्रभु (Sovereign) का प्रतिपादन किया है, उसका अस्तित्व हम कही भी नही पाते, यहा तक कि तुर्की के सुल्तान, रूस के ज़ार और भारत के मुगल सम्राटो को भी हम इस रूप मे नही देखते। सर हेनरी मेन ने अपने महान् ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर यह आग्रहपूर्वक बतलाया है कि पूर्वी समाजो मे स्वेच्छाचारी राजाओ की इच्छा ही सर्वोपरि नही थी। उनके आदेश ऐसे नही थे जिनको ऑस्टिन कानून कह सकता। जो नियम प्रजा के जीवन का नियमन करते थे उनका स्रोत अतीत काल से प्रचलित लोकाचार, भावनाओ, विश्वासो और अंधविश्वासो मे था। अधिकांश मामलो मे उन पर अमल घरेलू न्यायालयो द्वारा होता था, राजाओ द्वारा नही। यह विचार कि कानून राजा द्वारा निर्धारित किया जाता है, आधुनिक है, प्राचीन समाजो म इसका अस्तित्व नही था। इस प्रकार ऑस्टिन ऐसी कोई सामाजिक स्थिति नही है जिसमे मनुष्य केवल अपने लाभ के लिए ही काम करता हो, उसी प्रकार प्रकृति म भी कोई पूर्ण निरपेक्ष प्रभु (Absolute Sovereign) नही है।"* जिस प्रकार वास्तविक वृत्त ज्यामिति द्वारा निर्दिष्ट समस्त सत्या को पूर्ण मे व्यक्त नही कर सकता उसी प्रकार किसी वास्तविक समाज म ऑस्टिन के प्रभु का भी अस्तित्व सम्भव नही है। परन्तु इस कथन का यह अर्थ नही है कि राज्य और उसके प्रभुत्व की कानूनी प्रकृति की कल्पना के रूप म यह सिद्धान्त बिल्कुल ही अग्राह्य है। ऑस्टिन ने राज्य म प्रभु द्वारा प्रयुक्त सत्ताओ की व्यवस्था करने का प्रयत्न नही किया। वह तो केवल प्रभुत्व की कल्पना का अर्थ समझने के लिए उसका विश्लेषण कर रहा था। इस आपत्ति के मूल्यांकन के लिए हमे राज्य की वास्तविक क्षमता और कानूनी कल्पना स रूप म प्रभुत्व के बीच भेद करना चाहिए।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि वह राज्य म सच्ची प्रभुत्व-सत्ता के विश्लेषण एव खोज का काय पूर्णता के साथ नहीं

---

* Quoted by Leacock Elements of Political Science p 57

करता । वह केवल कानूनी प्रभु का ही विचार करके रुक जाता है और राजनीतिक प्रभु के सम्बन्ध में मौन रहता है जिसके सामने वास्तव में उसे झुकना पड़ता है । वह आधुनिक राज्य में लोकमत के प्रभाव की उपेक्षा करता है । इस प्रकार वह अपर्याप्त है । राजनीतिक प्रभुत्व के सम्बन्ध में विचार करने की कठिनाइयों का पिछले पृष्ठों में उल्लेख हो चुका है, अतः उसके सम्बन्ध में यहाँ अधिक विवेचन अनावश्यक होगा ।

इसके विरुद्ध तीसरा आक्षेप यह है कि निश्चित श्रेष्ठतम मानव की कल्पना प्रभुत्व की दार्शनिक कल्पना के विपरीत है जिसके अनुसार प्रभुत्व सामान्य इच्छा में है । सामान्य इच्छा की व्याख्या करना कठिन भले ही हो परन्तु उसे केवल कपोल-कल्पित समझना गलत होगा । प्रजातन्त्र में विश्वास उसी के आधार पर टिका हुआ है । जो प्रभुत्व सिद्धान्त सामान्य इच्छा पर विचार नहीं करता, वह वास्तव में अपर्याप्त है । ग्रीन ने यह भली भाँति प्रमाणित किया है कि ऑस्टिन के सिद्धान्त के निश्चित श्रेष्ठतम मानव के आदेशों का समाज का बहुमत इस कारण पालन करता है कि वह जन-साधारण की इच्छा का प्रतिनिधि माना जाता है । * समाज को जो चीज संगठित रूप में रखती है वह प्रभुत्व-सत्ता की शक्ति या बल नहीं वरन् सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना है जिसका दूसरा नाम सामान्य इच्छा है । ऑस्टिन का सिद्धान्त इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता कि समाज इच्छा पर आधारित है, बल पर नहीं । वह बल पर अनावश्यक जोर देता है और इच्छा के तत्त्व की उपेक्षा करता है ।

इस सिद्धान्त का एक दूसरा दोष यह है कि इसकी कानून की कल्पना अधूरी है । यह सत्य है कि कोई भी नियम कानून का रूप उस समय तक धारण नहीं कर सकता जब तक उसका निर्धारण कानूनी प्रभु द्वारा नहीं होता किन्तु यह भी सत्य है कि कानून का स्रोत विधान मण्डल की इच्छा से भिन्न है । कानून का स्रोत लोकाचार, न्याय भावना आदि है । कानून को केवल प्रभु का आदेश मानना बिलकुल गलत है । इस पर आगे विचार किया जायगा ।

अन्त में, इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी आक्षेप किया जाता है कि इससे राज्य स्वेच्छाचारी बन जाता है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ह्रास होता है ।

---

* The determinate human superior will do so (receive habitual obedience) upon condition that behind that superior determining his will and inspiring his acts, is recognised the general will whose agent he is ' (Barker Political thought in England p 28)

आजकल अनेक लेखक यह मानते हैं कि राज्य का प्रभुत्व सीमित है। वे निरकुश प्रभुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। इस पर विचार किया जा चुका है।

सब कुछ देखते हुए, कानूनी दृष्टि से ऑस्टिन का सिद्धान्त सही है। एक आधुनिक राज्य मे जितने भी प्रभाव काम करते हैं उन सब पर हम विचार कर सकते हैं और इस सिद्धान्त से उनका सामजस्य स्थापित कर सकते हैं। परन्तु ऐसा करने से इस सिद्धान्त की यथार्थता और निश्चितता नष्ट हो जायगी। यदि हम इन गुणो को पसन्द करते हैं तो हमे ऑस्टिन का सिद्धान्त स्वीकार करना पडेगा।

प्रभुत्व का स्थान—

कुछ राज्यो मे यह जान लेना सरल है कि निश्चित उच्चतम मानव कौन है जो समाज के बहुमत से अपने आदेशो का अभ्यस्त रूप से पालन कराता है और जिसमे श्रेष्ठ अन्य कोई ऐसा नही है जिसके आदेश का मानने का वह अभ्यस्त हो। इगलैड जैसे देश मे जहा वैधानिक कानून तथा साधारण कानून मे कोई भेद नही है, राजा सहित पार्लामेंट ही कानूनी प्रभु है। उसकी कानून बनाने की सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध नही है। किन्तु अमेरिका के सयुक्त राज्य जैसे देश मे, जहा विधान-मण्डल की कानून बनाने की सत्ता पर लिखे सविधान द्वारा प्रतिबन्ध लगे हुए हैं, जिन्हे विधान मण्डल नही हटा सकता और जहा सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून को असाविधानिक घोषित कर सकता है, कानूनी प्रभुत्व के स्थान का खोजना बहुत ही कठिन है। कुछ विचारको के अनुसार ऐसे राज्य मे प्रभु ऐसी सस्था है जो सविधान मे सशोधन कर सकती है। इस प्रकार के उत्तर मे कठिनाई यह है कि सविधान परिषद् समय-समय पर ही काम करती है, निरतर नही, परन्तु प्रभुत्व का प्रयोग अविराम रूप मे होता है।

गेटेल प्रभुत्व को 'शासन की समस्त कानून निर्माण करनेवाली सस्थाओ की समष्टि मे मानता है।' कानून बनानेवाली सस्थाओ मे विधान मण्डल, न्यायालय (क्योंकि वे कानून का निर्माण कानूनो की व्याख्या करके करते हैं), प्रशासनाधिकारी (जबकि वे अध्यादेश आदि जारी करते है) तथा निर्वाचक-मण्डल (जब वह जनमत-सग्रह आदि का प्रयोग करता है), आदि सब आ जाते हैं। यह विचार राज्य तथा शासन मे भेद नही करता। अनेक कानून बनाने वाली सस्थाएँ, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, शासन के अग हैं, उनकी सत्ताएँ मौलिक नही हैं। यह मत सतोषजनक नही है।

क्या सामान्य इच्छा प्रभु है—

प्रभुत्व की दार्शनिक कल्पना के अनुसार सामान्य इच्छा (General Will) को ही प्रभु माना जाता है। यह सिद्धान्त कानूनी प्रभुत्व के सिद्धान्त के विरुद्ध है। यह सामान्य इच्छा की कल्पना आधुनिक राज्य विज्ञान को रूसो की देन है। इस विचार की व्याख्या करना कठिन है। यह सर्वथा भावात्मक है जिसकी स्थिति दृश्य जगत में नहीं है। ग्रीन की व्याख्या के अनुसार सामान्य उद्देश्यवाली सामान्य चेतना का सामान्य इच्छा वह सक्त है जिसके बिना समाज एक सामूहिक इकाई के रूप में कायम नहीं रह सकता। राज्य केवल व्यक्तियों के समूह का ही नाम नहीं है। वह उनकी नैतिक तथा सामूहिक एकता का नाम है। अब प्रश्न यह उठता है कि व्यक्तियों को नैतिक एकता के सूत्र में कौन बांधता है? ग्रीन का उत्तर है—प्रजा या जनता एकता के सूत्र में सामान्य उद्देश्यों का सामान्य चेतना के कारण बँधी रहती है। सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना को सामान्य इच्छा कहा जा सकता है। यह सामान्य चेतना ही अधिकारों को जन्म देती है और उन्हें कायम रखने के लिये आवश्यक स्थितियां प्रस्तुत करती है। इसलिये इसे प्रभु मानना उचित है।* आस्टिन के निश्चित श्रेष्ठ मानव के आदेशों का पालन समाज का बहुमत इस कारण करता है कि जनता उसे सामान्य इच्छा की साकार प्रतिमा मानती है, वह यह अनुभव करती है कि उसके आदेश सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित हैं। जिस समय वह उच्चतम मानव सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करना त्याग देता है या जनता का विश्वास-भाजन नहीं रहता तो वह जनता की निष्ठा का भी पात्र नहीं रहता। अतः अन्तिम विश्लेषण में, सामान्य इच्छा या सामूहिक ढंग से सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कार्य करनेवाले समाज से कम कोई वस्तु प्रभु नहीं है।

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा एकात्मक इच्छा है परन्तु वह एक व्यक्ति की इच्छा नहीं है। वह एकात्मक इच्छा इस अर्थ में है कि वह अपने संघात रूप में समस्त समाज की इच्छा है। बोसान्क्वे की भाषा में वह समाज की इच्छा है। उसे जो एकात्मकता प्राप्त होती है, वह उस सामान्य उद्देश्य के कारण होती है जो व्यक्तियों को सम्बद्ध कर एकता के सूत्र में बांधता है और

---

*The sovereign authority must in the ultimate analysis be reduced to the society itself or rather to the common consciousness of a common end which constitutes the society. If that consciousness creates rights, it creates the sovereignty which is the condition of their maintenance' (Barker, op. cit. p. 28.)

जो उसके बनने मे प्रभाव डालता है। वह इच्छा सामान्य तथा एकात्मक उस समय नही रहती, जबकि उसको बनाते समय व्यक्तिग्रो का लक्ष्य सामान्य हित नही रहता। वह सबकी इच्छा भी नही है जिसका अर्थ वैयक्तिक इच्छाग्रो का योग होता है ग्रौर जिससे उसका (सामान्य इच्छा का) सघर्ष हो सकता है। वह ग्रावश्यक रूप से बहुमत की इच्छा भी नही होती। बहुमत सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नही करता यदि वह स्वार्थ ग्रथवा व्यक्तिगत लाभ की भावना से प्रेरित होता है। इस प्रकार सामान्य इच्छा जनसख्या का प्रश्न नही है, वह तो भावना या प्रयोजन की बात है। उसका प्रादुर्भाव उस समय होता है जबकि समाज का प्रत्येक सदस्य सार्वजनिक हित को ग्रपना हित बना लेता है ग्रौर इस प्रकार ग्रपने ग्रापको सब लोगो के साथ समान उद्देश्य मे बाध लेता है। वाइल्ड ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—'एक बुद्धिमान मनुष्य की उस हित की ग्रोर ग्रमिट प्रेरणा जो (हित) ग्रपना विस्तार करके सामान्य हित मे परिणत हो जाता है।' * जो बात ध्यान मे रखनी चाहिये वह यह है कि इच्छा की सामान्यता उसके समर्थको की सख्या से नही बनती वरन सामान्य हित से बनती है। कभी कभी महात्मा गाँधी जैसा एक ग्रात्म-त्यागी तथा पवित्र ग्रात्मा समाज के बहुमत की ग्रपेक्षा समाज की सामान्य इच्छा का सर्वश्रेष्ठ ढग से प्रतिनिधित्व करता है। इसमे हमको सामान्य इच्छा का एक दूसरा लक्षण मिलता है। सामान्य इच्छा विवेकपूर्ण एव तर्कसगत है। सामान्य इच्छा विवेक से कम नही है क्योकि मानव के कार्यो के पथप्रदर्शन मे वह सक्रिय रहता है। मनुष्य सामान्य इच्छा को ग्रपनी इच्छा समझते हैं ग्रौर जान बूझकर उसके ग्रादेश का पालन करते हैं क्योकि प्रत्येक को उसमे ग्रपनी इच्छा दिखाई देती है जो ग्रपनी वास्तविक प्रकृति मे विवेकपूर्ण है। हम उसको नागरिको की ग्रसली इच्छाग्रो का सगठित रूप ग्रथवा उसमे जो कुछ सर्वोत्तम है उसकी ग्रभिव्यक्ति समझ सकते हैं। डॉ० ग्राशीर्वादम् ने उसे नागरिकता की मूर्त भावना कहा है। सामान्य इच्छा पवित्र ग्रौर निरपेक्ष है क्योकि वह विवेकपूर्ण है। विवेकपूर्ण एव पवित्र होने के कारण वह सदैव ठीक होती है। उसका ध्येय उस वस्तु को प्राप्त करना है जो निर्धारित परिस्थितियो मे सर्वश्रेष्ठ होती है। जो सर्वश्रेष्ठ है उसके सम्बन्ध मे यदि हमारा निर्णय गलत है, तो सामान्य इच्छा भी गलत हो सकती है

---

* The ineradicable impulse of an intelligent being to a good extending beyond itself, insofar as that good takes the form of a common good' (Wilde Ethical basis of the state, p 56)

परन्तु फिर भी वह ठीक है क्योंकि उनका लक्ष्य सामान्य हित है। जैसा कि स्वयं रूसो ने कहा है—"सामान्य इच्छा सदैव ठीक होती है किन्तु जो निर्णय उसका पथ प्रदर्शन करता है वह सदैव उचित नहीं होता।"* लॉर्ड ने सामान्य इच्छा के एक दूसरे लक्षण—उसके स्थायित्व—की ओर संकेत किया है। यह विचारों तथा हितों के सादृश्य में पाया जाता है जो लोगों में परिव्याप्त होकर उन्हें एक निश्चित रूप देता है। चरित्र, जैसा कि दर्शनशास्त्र के ज्ञाता हमें बतलाते हैं, इच्छा की स्थायी वृत्ति का नाम है। यह अपेक्षाकृत स्थायी एवं निश्चित होती है। सामान्य इच्छा स्थायी होने के कारण 'जनता की भावना के तूफान में या राजनीतिज्ञ की तरंगों में, चाहे वह कितना ही लोक प्रिय हो, नहीं होती, वह तो जनता के चरित्र में होती है। इस प्रकार सामान्य इच्छा अक्षय होती है। उसका नाश जनता के नाश के साथ ही हो सकता है अन्यथा नहीं।

यह कल्पना भावात्मक है, यह एक आदर्श की व्याख्या है जिसे पूर्ण रूप में कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु अन्य आदर्शों के समान यह सामाजिक जीवन का नियमन करता है और उस सीमा तक इस आदर्श की नित्य प्राप्ति होती रहती है। इस प्रकार यह आदर्श तथा वास्तविक वस्तु दोनों ही है।

सामान्य इच्छा की कल्पना का काफी राजनीतिक महत्व है। इसका अर्थ यह है कि राज्य एक सावयव इकाई है जिसकी अपनी इच्छा है। वह स्वार्थी तथा असम्बद्ध व्यक्तियों का समूहमात्र नहीं है। इस इच्छा का नागरिकों की इच्छाओं से पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता किन्तु उसको नागरिकों की इच्छाओं से एकरूप नहीं माना जा सकता। वह उनसे आगे निकल जाती है और उनमें प्रवेश कर जाती है और उनमें से किसी में भी उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। दूसरे, वह इस कथन की पुष्टि है कि 'राज्य एक जीवित आदर्श और आध्यात्मिक वास्तविकता है।' वह कोई ऐसा साधन नहीं है जिससे व्यक्ति या व्यक्तिसमूह अपना स्वार्थ सिद्ध कर सके। "राज्य का वास्तव में अपने नागरिकों के जीवन से पृथक् कोई जीवन नहीं है किन्तु उसका जीवन किसी भी व्यक्ति या उसके नागरिकों की किसी भी पीढ़ी के जीवन से

---

*'The general will is always in the right, but the judgment which guides it is not always enlightened.'

अधिक लम्बा, पूर्ण एवं विस्तृत है।"* आस्टिन के सिद्धान्त की एक मुख्य अपूर्णता इसी में है कि वह सामान्य इच्छा की कल्पना के विपरीत है।

ग्रीन का मत

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रभुता के स्वरूप तथा स्थान के सम्बन्ध में ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जो सर्वथा पूर्ण और सर्वमान्य हो। स्पष्टता एवं निश्चितता की दृष्टि से ऑस्टिन का सिद्धान्त अधिक ग्राह्य है परन्तु वास्तविकता की दृष्टि से रूसो का सिद्धान्त अधिक ठीक है। टी० एच० ग्रीन ने इन दोनों स्पष्ट विरोधी सिद्धान्तों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसका कथन है कि रूसो के विरुद्ध ऑस्टिन का यह मत ठीक है कि प्रभुत्व ऐसे निश्चित व्यक्ति या व्यक्तिसमूह में निवास करता है जिसमें कानूनों का निर्माण करने, उन्हें लागू करने तथा उनका पालन कराने की क्षमता होती है और जो किसी प्रकार के कानूनी नियन्त्रण से मुक्त होता है। इसके साथ ही ऑस्टिन के विरुद्ध रूसो का यह कथन भी ठीक है कि प्रभु के आदेशों के पालन का प्रधान कारण भय नहीं, वरन् यह विचार एवं अनुभूति है कि सार्वजनिक कल्याण की सिद्धि के लिये ऐसे आदेशों का पालन आवश्यक है और व्यक्तिगत कल्याण सार्वजनिक कल्याण का अभिन्न अंग है, अर्थात् हम कह सकते हैं कि एक निश्चित श्रेष्ठ मानव के आदेशों का पालन इसलिये किया जाता है कि हम उसे सामान्य इच्छा का प्रतीक मानते हैं। प्रभु असीमित दमनकारी शक्ति का प्रयोग नहीं करता। उसकी शक्ति का आधार है अपने सामान्य हितों के सम्बन्ध में जनता की निश्चित धारणाओं के साथ उस शक्ति का सामंजस्य। जब तक सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति प्रभु के आदेशों में होती रहती है तब तक उसके आदेशों का अभ्यस्त रूप से पालन होता रहता है, परन्तु यदि प्रभु के आदेशों से उसका संघर्ष हो तो जनता का अभ्यस्त रूप से आदेश-पालन समाप्त हो जाता है और प्रभु प्रभु नहीं रहता।

प्रभुत्व के सिद्धान्त पर आक्षेप—

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की कल्पना पर अनेक प्रकार के आक्षेप होने लगे हैं। कुछ विचारक तो प्रभुत्व को राज्य का आवश्यक

---

*"The state indeed has no life apart from the lives of its members but it has, or may have, a longer, broader and fuller life than that of any individual or any generation of its citizens." (Lord Principles of Politics p 139)

विधायक तत्व ही नही मानते और कहते हैं कि राज्य के लिये प्रभुत्व आवश्यक नही हैं। अन्तराष्ट्रीय विधान के लेखक तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति के प्रेमी राज्य की बाह्य प्रभुता को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सहयोग की अभिवृद्धि मे एक बडी बाधा मानते हैं। कई विधानशास्त्री प्रभु को कानून का स्रोत नही मानते और कहते है कि कानून राज्य से भी पहले का है और इस कारण वह राज्य से स्वतन्त्र है। किन्तु इस सिद्धान्त पर सबसे प्रबल प्रहार बहुवादी करते हैं जो राज्य के अन्तर्गत वर्तमान सगठित समुदायों के दृष्टिकोण से विचार करते हुए राज्य के प्रभुत्व को व्यर्थ और खतरनाक मानते हैं। हम इन सभी प्रकार के आक्षेपो पर विचार करेंगे।

प्रभुत्व का निषेध—

राज्य विज्ञान के अनेक विचारक जिनमे लेबेण्ड (Laband) और जेलिनेक (Jellinek) मुख्य है प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों का स्वीकार करते हुए भी यह मानते हैं कि राज्य के निर्माण मे प्रभुत्व कोई आवश्यक तत्व नही हैं। जेलिनेक का कथन है कि प्रभुत्व कोई निरपेक्ष तत्व नही हैं। राज्य के विकास मे उसका आकस्मिक घटना के रूप मे उदय हुआ है। सक्षेप मे, वह एक ऐतिहासिक तत्व है। प्राचीन काल मे ऐसे भी राज्य थे जो प्रभुत्व सम्पन्न नही थे। मध्ययुग के सामन्ती राज्य इसी प्रकार के राज्य के उदाहरण हैं। भविष्य मे भी ऐसे राज्य हो सकते है जो प्रभुत्व-सम्पन्न न हो। उनके अनुसार राज्य और प्रभुत्व सम्पन्न राज्य दोनो आवश्यक रूप से एक नही है। राज्य का सार-तत्व प्रभुत्व मे नही, राज्य सत्ता मे अर्थात् आदेश देने और उनका पालन कराने तथा शासन करने की सत्ता मे है। वे इस सत्ता को आधिपत्य (Domination) की सत्ता कहते हैं। लेबेण्ड प्रभुत्व और आधिपत्य की सत्ता मे भेद करता हुआ कहता है कि प्रभुत्व तो सर्वोच्च सत्ता है जिससे ऊपर कानूनी दृष्टि से बन्धनकारी आदेश देनेवाली कोई दूसरी सत्ता नहीं है और आधिपत्य की सत्ता से आशय है समाज की अपने ही अधिकार से आदेश देने तथा शासन करने की शक्ति। जेलिनेक के विचार मे प्रत्येक समाज जो अपनी ही व्यवस्था के अनुकूल, अपनी मौलिक सत्ता के कारण और दमन के मौलिक साधनो द्वारा आधिपत्य की सत्ता का प्रयोग करने के योग्य हो, एक राज्य है।'* इस प्रकार लेबेण्ड और जेलिनेक

* Every community which may exercise the power of domination conformably to an order which is its own, in virtue of an original power and by original means of constraint is a state.' (Jellinek, quoted by Garner Political Science and Government, p 180)

दोनो के अनुसार संघ के विधायक राज्य भी, उदाहरणार्थ स्विट्ज़रलैण्ड के केण्टन तथा अमेरिका के संयुक्त राज्य के अंगभूत राज्य, राज्य कहलायेंगे।

प्रभुत्व को राज्य का आवश्यक तत्व माना जाय या नहीं यह विचारक की प्रभुत्व तथा राज्य की प्रकृति सम्बन्धी कल्पना पर निर्भर है। यदि हम प्रभुत्व को विभाज्य मानलें तो हमें इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि यदि किसी राजनीतिक समाज में प्रभुत्व के कुछ तत्व नहीं हों तो भी व्यावहारिक अर्थ में उसे राज्य माना जा सकता है। किन्तु यदि हम प्रभुत्व को ही राज्य की प्रमुख कसौटी मानते हैं तो हमें यह मानना पड़ेगा कि जिस राजनीतिक समाज में प्रभुत्व का तत्व नहीं, वह यथार्थ में राज्य नहीं कहला सकता। अधिकांश विचारक इस दूसरे विचार के ही पक्ष में हैं और राज्य की कल्पना को इतनी विस्तृत नहीं बनाना चाहते कि उसमें संघ के विधायक राज्य भी सम्मिलित हो जांय।

इसके अतिरिक्त अनेक लेखक आधिपत्य की सत्ता और प्रभुत्व में कोई भेद नहीं समझते। उनके अनुसार दोनों एक ही वस्तु है, उनमें केवल नाम का भेद है। यदि आदेश देने की और उसका पालन कराने की सत्ता मौलिक है, किसी दूसरे से प्राप्त नहीं की गई है तथा स्वतंत्र है, तो वह सत्ता प्रभुत्व से किसी प्रकार कम नहीं है।

जेलिनेक और लेबेण्ड दोनों संघ के सदस्य-राज्यों को राज्य की कोटि में रखते हैं किंतु यह मानना भूल है कि ऐसे राज्य अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी बाहरी इच्छा के अधीन नहीं हैं और पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं। प्रत्येक संघ राज्य में उसके सदस्य राज्य कानून तथा व्यवहार में एक उच्चतर इच्छा के अधीन होते हैं जो उनकी स्वतन्त्रता एवं क्षमता को मर्यादित करती है। अमेरिका के संयुक्त राज्य में सदस्य-राज्यों के संविधान संघीय संविधान के विरुद्ध नहीं हो सकते और न वे अपनी इच्छानुसार अपनी शासन प्रणाली में ही परिवर्तन कर सकते हैं।

प्रभुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता—राज्य प्रभुत्व पर दूसरा आक्रमण अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के कारण किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास से राज्य के प्रभुत्व पर कई प्रतिबन्ध लग गये हैं। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के क्षेत्र में प्रभुत्व के सिद्धान्त ने अराजकता की स्थिति पैदा कर दी है। राज्यों के बीच विवादों के शान्तिमय समाधान के मार्ग में यह सिद्धान्त बाधक रहा है। इसने राष्ट्रसंघ (League of Nations) के मानववादी तथा अन्य कार्यों के मार्ग में भयंकर बाधाएँ उपस्थित की। सर्वोच्चता की

भावना, जिस पर यह सिद्धान्त आधारित है, राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध के क्षेत्र मे बिलकुल लागू नही हो सकती। समस्त राष्ट्र समान है (उनके समान अधिकार हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मामलो के निर्णय मे उनके मत समान नही हैं), कोई भी एक राज्य दूसरे राज्य से श्रेष्ठ नही है। अत किसी भी राज्य को अपने मनमाने ढग से कोई ऐसा कार्य करने नही दिया जा सकता जिसका अन्य राज्यो पर प्रभाव पडता है। उसे उनके हितो का भी ध्यान रखना पडता है और उनकी स्वाधीनता के लिये समुचित आदर भाव रखना पडता है। अन्तर्राष्ट्रीयता के शक्तिशाली समर्थक हैरॉल्ड लास्की ने राज्य-प्रभुत्व के विरुद्ध इस प्रकार अपना विचार प्रकट किया है—'अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे स्वतन्त्र प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का विचार मानवता के कल्याण के लिये घातक है। जिस ढग से एक राज्य को दूसरे राज्य के साथ व्यवहार करना चाहिये वह ऐसा विषय नही है जिसके सम्बन्ध मे राज्य को ही एकमात्र निर्णायक मान लिया जाय। राज्यो का सामान्य जीवन राज्यो के सामान्य समझौते का विषय है। इङ्गलण्ड को यह निर्णय नही करना है कि वह किस प्रकार के शस्त्र बनायेगा और कितने प्रवासियो को अपने देश मे आवास की अनुमति देगा। इन बातो का राष्ट्रो के सामान्य जीवन से सम्बन्ध है और इसलिये इसका मतलब यह है कि इसके सम्बन्ध के लिये कोई एक विश्व-सगठन हो।'*

एक ऐसे विश्व-सगठन का आदर्श, जिसमे पृथक्-पृथक् राज्य अपनी राष्ट्रीय प्रभुता का परित्याग कर दें, व्यवहार्य हो या नही परन्तु इससे कोई भी इन्कार नही कर सकता कि प्रत्येक राज्य द्वारा अपने प्रभुत्व पर जोर दिया जाना राज्यो के बीच सहयोग की भावना के विकास मे बाधक रहा है और इसने युद्ध की भावना को प्रोत्साहन दिया है। हम उस समय तक ससार मे न्याय की प्रतिष्ठा नही कर सकते और युद्ध बन्द नही कर सकते, जब तक कि प्रत्येक राज्य एक दूसरे के सम्बन्ध मे अपने हितो का स्वय अपने को निर्णायक मानता रहेगा और युद्ध के द्वारा अपने हितो की रक्षा करने की प्रणाली का

---

*"The notion of an independent sovereign state is on the international side, fatal to the well being of humanity The way in which a state should live its life in relation to other states is clearly not a matter in which that state is entitled to be the sole judge England ought not to settle what armaments she needs, the tariffs she will erect the immigrants she will permit to enter These matters affect the common life of peoples, and they imply a unified world organized to administer them Laski. A Grammar of Politics, p 65

आश्रय लेता रहेगा। मानवता के हितों की यह माँग है कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की कल्पना का अन्तर्राष्ट्रीय विधान से बहिष्कृत कर दिया जाय। राज्य की आन्तरिक प्रभुता का कायम रखते हुए बाह्य प्रभुता का अन्त कर देना असम्भव नहीं है। एक बात और है। जिस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य की आन्तरिक प्रभुता पर अनेक प्रकार की मर्यादाएँ आरोपित हैं उसी प्रकार उसकी बाह्य प्रभुता पर भी मर्यादाएं हैं। कोई भी राज्य सरलता से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मनमानी नहीं कर सकता। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अगस्त १९४५ में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय के समक्ष न्यूरम्बर्ग में जर्मनी के युद्ध बन्दियों पर जो मुकदमे चलाये गये थे उनमें आक्रामक युद्ध करना राज्य का अधिकार स्वीकार नहीं किया गया था। संयुक्त राष्ट्र (U N O) के चार्टर में भी सभी सदस्य राष्ट्रों को किसी भी राज्य की प्रादेशिक अखण्डता अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध बल प्रयोग या उसकी धमकी का निषेध किया गया है।

प्रभुत्व और कानून—

प्रभुत्व के सिद्धान्त के आलोचकों में ड्यूग्वी तथा क्राब का महत्वपूर्ण स्थान है। ड्यूग्वी का कथन है कि 'प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य मर चुका है या मरणासन्न है।' 'प्रभुत्व का सिद्धान्त अपनी उत्पत्ति में मिथ्या है, इतिहास ने उसे मिथ्या सिद्ध कर दिया है और सभी बातों पर विचार करते हुए वह व्यर्थ एवं खतरनाक है।'* कानून की प्रकृति के विषय में उसका अपना सिद्धान्त है जिसके आधार पर वह प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य के सिद्धान्त का खण्डन करता है। वह आस्टिन के इस मत को उचित नहीं मानता कि कानून प्रभु का आदेश है जिसे बल का समर्थन प्राप्त है। वह इस विचार को भी स्वीकार नहीं करता कि राज्य ही वह सत्ता है जो वैध या अवैध वस्तु में भेद स्थापित करता है। राज्य कानून का निर्माण नहीं करता। उसके अनुसार कानून व्यवहार के उन नियमों का नाम है जो समाज में रहनेवाले मनुष्यों को वास्तविक रूप में नियन्त्रण करते हैं। कानून बन्धनकारी इस कारण नहीं होता कि वह किसी संगठित सत्ता का आदेश है वरन केवल और प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं के कारण

---

* The sovereign state is dead or is on the point of dying '
The notion of the sovereign state is false in its origin, further falsified by history and all things considered useless, worse than useless dangerous ' (Duguit quoted by Garner Political Science and Government p 155)

होता है। मनुष्य के लिये समाज मे रहना अनिवार्य है। समाज बना रहे, सामजिक जीवन सुचारू रूप से चल सके और मनुष्य उसके लाभो का प्राप्त कर सकें, इसके लिये कुछ सामान्य नियमो का सबको पालन करना ही होगा, अन्यथा सामजिक जीवन नष्ट हो जायगा। ड्यूग्वी का कथन है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से इन नियमो का जानते हैं और आत्महित स प्रेरित हाकर वे उनका पालन करते है। व जानते हैं कि उनकी विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति सबक साथ सहयोगपूवक रहकर तथा पारस्परिक आदान प्रदान द्वारा ही हो सकती है और इसी प्रकार वह सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं । यही सामाजिक समैक्य (Social Solidarity) है और यही मनुष्य का लक्ष्य है। ड्यूग्वी समस्त कानून का सक्षिप्त करके तीन सामान्य नियमो के रूप मे प्रस्तुत करता है—(१) उन सब कामो का आदर करो जो सामाजिक समैक्य क लक्ष्य द्वारा निर्धारित होते हैं (२) उन कार्यों को न करो जो विपरीत लक्ष्य द्वारा निर्धारित होते है, और (३) सामजिक समैक्य की अभिवृद्धि के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करो।

कानून के अनुसार सब लोग व्यवहार करें और उनका पालन करें इसके लिये कोई गारण्टी होनी चाहिये। ड्यूग्वी का कथन है कि यह गारण्टी मनोवैज्ञानिक होती है सगठित दमनशक्ति अथवा समाज की औचित्य को भावना नही। जनता कानून का पालन इस कारण नही करती कि उसकी रचना ऐसे अधिकारी द्वारा की गई है जिसके पास दमनकारी सत्ता है वरन् इसलिये कि उनका पालन करके ही सामाजिक जीवन की रक्षा की जा सकती है और सामाजिक जीवन क लाभ उठाये जा सकते हैं। कानून के पालन म दण्ड-भय उतना काम नही करता जितना सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति। मनुष्य देखता है कि समाज उसके कामो का सामाजिक समैक्य के नियमो के साथ अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के विचार से अनुमोदन करता है या नही। किसी व्यक्ति या राज्य द्वारा किया गया कोई भी कार्य जो सामाजिक समैक्य के नियम का उलघन करता है, अवैध है। इस प्रकार मौलिक अर्थ म कानून आचरण के वे नियम है जिनका सामान्य व्यक्ति इस कारण पालन करते है कि सामाजिक जीवन के लाभ सुरक्षित रह सकें और उनकी अभिवृद्धि हो सके। इस प्रकार कानून सामाजिक जीवन के परिणाम हैं और सामाजिक समैक्य की आवश्यक शर्त हैं राज्य द्वारा निर्मित नियम नही। ड्यूग्वी का कथन है कि राज्य का कानून से कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है, राज्य की सत्ता का कोई कानूनी या नैतिक औचित्य नही है। उसके अनुसार राज्य एक निश्चित प्रदेश मे रहनेवाले व्यक्तियो की एसी सस्था है जिसम

शक्तिशाली लोग दुर्बल लोगों पर अपनी इच्छा आरोपित करते हैं। शासकों की सत्ता बहुमत की संख्या के बल पर अथवा अल्पमत भी धन की श्रेष्ठता या बुद्धि की श्रेष्ठता पर निर्भर हो सकती है परन्तु किसी भी दशा में राजनीतिक सत्ता का आधार तो केवल शारीरिक दण्ड है जिसे शासक उनके आदेशों का उल्लंघन करनेवालों को दे सकते हैं।

इस प्रकार ड्यूग्वी राज्य की सत्ता और कानून की सत्ता में भेद स्थापित करता है। कानून राजनीतिक संगठन अर्थात राज्य से पहले का है, वह उससे स्वतन्त्र है, श्रेष्ठ है और उससे अधिक व्यापक है। वह राज्य की क्षमता को सीमित करता है, उसकी सीमा निर्धारित करता है, राज्य कानून की सीमा निर्धारित नहीं करता। यदि राज्य कोई ऐसा काम करता है जो सामाजिक समन्वय के विरुद्ध हो तो वह कानून के विरुद्ध काम करता है। शासन का बल उसी समय और उसी सीमा तक उचित या वैध है जब तक और जहाँ तक उसका प्रयोग कानून के पोषण के लिये अर्थात सामाजिक समन्वय के हित में होता है। इस प्रकार राज्य का काम पहले से ही वर्तमान कानून को अमल में लाना है। राज्य के कानूनों का पालन उसी दशा में अपरिहार्य है जब कि उनमें उन नियमों का समावेश हो जिन्हें मानना ही चाहिये अर्थात जिनका सामाजिक समन्वय की दृष्टि से मानना अनिवार्य है। इस प्रकार कानून वस्तुपरक (Objective) है, राज्य के किसी भी काम का कानूनी औचित्य उसके स्रोत पर नहीं, उस लक्ष्य पर आधारित है जिसकी वह पूर्ति करता है।

क्राबे के भी ऐसे ही विचार हैं। वह भी इस विचार का खण्डन करता है कि कानून का निर्माण राज्य द्वारा होता है और प्रभु की इच्छा ही कानून है। उसके अनुसार कानून उन साधारण या विशेष, लिखित या अलिखित, नियमों का समुच्चय है जो मनुष्यों की औचित्य भावना (Sense of right) से उत्पन्न होते हैं।* कोई भी नियम जो इस भावना पर आधारित नहीं है कानून नहीं है चाहे लोग उसका स्वेच्छा से या दबाव के कारण पालन क्यों न करते हों। इसका आशय यह नहीं है कि किसी व्यक्ति के लिये कानून का निर्धारण उसी

---

* There are no sources of law, as the text books teach there is only one source of law, viz, the feeling or sense of right Upon this all law is based, whether it be positive law, customary law or the unwritten law in general (Krabbe The Modern Idea of the state, given in Spahr Readings in Recent Political Philosphy, p 497)

की न्याय धारणा के कारण होता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही न्याय-भावना से प्राप्त कानून का पालन करने लगे तो समाज का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। किसी भी समाज में औचित्य सम्बन्धी धारणाओं के सम्बन्ध में लोगों में मतैक्य नहीं होता। ऐसी अवस्था में बहुमत को मानना पडता है और इस प्रकार कानून वही है जिसे समाज के समुचित विचारवाले बहुमत की औचित्य भावना चाहती है। इसका स्रोत औचित्य भावना है। इस प्रकार कानून व्यक्तिगत (Subjective), वस्तुपरक (Objective) नहीं। इस भावना को मूर्त रूप विधान मंडल द्वारा निर्मित कानूनों में मिलता है। यह विश्वास किया जाता है कि विधान-मंडल में जनता के बहुमत की औचित्य भावना प्रकट होती है। इस प्रकार राज्य कानून नहीं बनाता, वह तो केवल जनता की औचित्य-भावना से प्राप्त नियमों को अर्थात् कानून को औपचारिक रूप दे देता है। विधान मंडल के वे कानून जो इस भावना से प्राप्त नहीं होते, कानून नहीं हैं। इस प्रकार क्राब के अनुसार कानून राज्य से ऊपर और अपनी उत्पत्ति में उससे स्वतन्त्र है।

लास्की का भी कथन है कि कानून का स्रोत न तो राज्य है और न कोई छोटा समुदाय ही, वरन व्यक्ति है जो अपनी अन्तरात्मा अथवा विवेक के अनुसार कार्य करता है। इस प्रश्न पर नागरिकों के दृष्टिकोण से ही विचार करना चाहिये। 'वे ही ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने जीवन में राज्य के काम के परिणामों का अनुभव करते हैं, अतः वे ही ऐसे व्यक्ति हैं जो उसके गुणों के सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं, वे अपनी अनुमति देकर कानून को मान्यता प्रदान करते हैं। वे उसका अनुमोदन करते हैं क्योंकि उससे उनकी इच्छाएँ सन्तुष्ट होती हैं। इसलिये श्रेष्ठ कानून वह है जिसके परिणामस्वरूप इच्छा की यथासम्भव अधिकतम सन्तुष्टि होती है।'* इस प्रकार लास्की कानून का स्रोत व्यक्ति के अन्तःकरण में मानता है।

कानून के इस सिद्धान्त में काफी सत्यांश है। कानून राजा या व्यवस्थापिका परिषद् के अर्थात् प्रभु के आदेशमात्र ही नहीं हैं। उन पर समाज में प्रचलित

---

* 'They are the persons who feel the results of state action in their lives, they, therefore, are the only persons who are entitled to pronounce on its quality They make the law valid by consenting to it They consent to it as it satisfies their desires A good law, therefore, is a law which has, as its result maximum posible satisfaction of desire' (Laski Law and the State, quoted in Coker Recent Political Thought, p 538)

न्याय अथवा औचित्य की भावनाओं का काफी प्रभाव पडता है। कानून की वस्तु अथवा उसका विषय (Content समाज की भावनाओं, जनता के अनुभवों आदि से प्राप्त होता है। राज्य में आज्ञामात्र से कोई भी नियम कानून के रूप में मान्यता नहीं प्राप्त कर लेता। यदि कोई कानून सामाजिक भावनाओं के प्रतिकूल होता है तो उसका विरोध होता है और राज्य को उसे रद्द कर देना पडता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि लोकमत, सामाजिक औचित्य भावना अथवा सार्वजनिक उपयोगिता का विचार ही कानून बनाने के लिये पर्याप्त नहीं है। किसी भी समाज में आचार विचार आदि के अनेक नियम प्रचलित होते हैं परन्तु वे कानून नहीं होते। उनका भंग करनेवाले को न्यायालय दण्ड नहीं देते। जब तक कोई नियम समुचित अधिकारी द्वारा प्रचारित नहीं किया जाता तब तक वह कानून का रूप नहीं धारण कर सकता। इस प्रकार यह मत एकपक्षीय एवं अपूर्ण है, जिस प्रकार कानून को प्रभु का आदेशमात्र माननेवाला सिद्धान्त एकपक्षीय एवं अपूर्ण है। कानून में दो बातें होती हैं—उसकी विषय वस्तु और उसका रूप। कानून की विषय वस्तु हम सामाजिक न्याय भावना आदि स्रोतों से प्राप्त होती है पर उसका रूप (Form) प्रभु से प्राप्त होता है। कानूनी प्रभुत्व का सिद्धांत केवल उसके औपचारिक स्रोत (Formal source) पर जोर देता है और यह सिद्धांत उसके विषय-सम्बन्धी स्रोत (Material source) पर। ड्यूगी क्राब लास्की आदि ने कानूनी प्रभुत्व के दोषों पर प्रकाश डालकर तथा उसके वस्तु विषय के स्रोतों का महत्व बतला कर अच्छी सेवा की है परन्तु हम उनके इस विचार का समर्थन नहीं कर सकते कि कानून राज्य से स्वतन्त्र है। यथार्थ में राज्य ही कानून बनाता है, वही विभिन्न स्रोतों से कानून की विषय वस्तु ग्रहण कर उसे कानून का रूप देता है।

बहुवाद—प्रभुत्व पर बहुवादी आक्रमण—

जैसा हम ऊपर लिख आये हैं। प्रभुत्व पर सबसे प्रबल प्रहार बहुवादियों का है। मोटे रूप में वे राज्य के असीमित प्रभुत्व पर यह कह कर आक्षेप करते हैं कि समाज में राज्य ही एकमात्र आवश्यक समुदाय नहीं है, उसमें अनेक आवश्यक समुदाय होते हैं जो राज्य के समान ही हैं। मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि अनेकों उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार के समुदायों में अभिव्यक्त होती है। इन समुदायों में कोई एक दूसरे से वास्तविक या नैतिक रूप में श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि सभी व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए उसके विकास में आवश्यक भाग लेते हैं।

इस प्रकार के बहुवादी विचार अनेक सम्प्रदाय के अनेक लेखकों ने प्रकट किये हैं। इन लेखकों में अनेक प्रकार के मतभेद हैं परन्तु मूल बात में उनमें अधिकतर मत-साम्य है। अराजकतावादी तथा सिंडिकलिस्ट विचारक राज्य के प्रभुत्व पर ही आक्षेप नहीं करते, वे तो राज्य को एकदम हटा ही देना चाहते हैं। गिल्ड-समाजवादी लेखक राज्य को अलग तो नहीं करना चाहते परन्तु उसके प्रभुत्व के विरोधी हैं। कुछ विचारक जैसे जर्मनी का गियर्क (Gierke), इंगलैण्ड के मेटलण्ड (Maitland), फिगिस (Figgis) आदि ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर, और लिण्डसे (Lindsay), बार्कर (Barker), लास्की (Laski) आदि, फ्रांस के पॉल बॉकार (Paul Bancour) तथा ड्यूग्वी (Duiguit) और हॉलैण्ड का लेखक क्राब Krabbe व्यक्ति तथा समुदायों की स्वतन्त्रता के हित में राज्य के असीमित प्रभुत्व को कम करना चाहते हैं या उसे नियन्त्रित करना चाहते हैं। इस प्रकार के सभी लेखक बहुवादी (Pluralists) कहे जाते हैं क्योंकि वे राज्य के एकात्मक प्रभुत्व के स्थान पर समाज के अन्तर्गत संगठित समुदायों को अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और राज्य के समकक्ष बनाकर अनेक प्रभुओं को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। संक्षेप में, राज्य की सत्ता को कम करके उसे संगठित समुदायों में विभक्त करके उसके एकात्मक संगठन के स्थान पर संघात्मक संगठन करना चाहते हैं।

परिवतन के साथ-साथ राज्य के सिद्धान्ता मे सदा परिवर्तन होते रहे हैं। प्रभुत्व के कानूनी सिद्धात का उदय ऐसे समय मे हुआ था जबकि समाज म सघष था जिसका निराकरण एक सर्वोच्च प्रभु की स्थापना के द्वारा ही हो सकता था। उस समय समाज की प्रमुख आवश्यकता व्यवस्था, सुरक्षा और न्याय की थी और इसी कारण राज्य की सर्वोच्च सत्ता आवश्यक थी और उसके आदेशा को बिना मीन मेष के मानना अनिवाय था। परन्तु अब समय बदल गया है। *अब राज्य का मुख्य काम सुरक्षा नही रहा, अब वह अनेक प्रकार के सामाजिक* एव आर्थिक काम करने लगा है, और अब उसका प्रमुख लक्ष्य आदेश द्वारा सुरक्षा की व्यवस्था नही लोक सेवा होगया है। ड्यूग्वी का कथन है कि आजकल राज्य शिक्षा दरिद्र सहायता, यातायात आदि सम्बन्धी अनेक प्रकार के काय करता है पर तु इन कामा म ऐसी काइ बात नही है जिसका आदेश देने की सत्ता से लेश *मात्र भी सम्ब ध हा।'** अब राज्य पुलिस राज्य या शक्ति राज्य नही रहा जिसमे आदेश का महत्व था अब ता वह लोकसेवी राज्य बन गया है जिसम आदेश का कोई महत्व नही रहा।

पिछले वर्षों मे प्रजातन्त्र की असफलता और प्रजातन्त्रीय सस्थाआ की स्वाभाविक दुबलता के कारण भी इस बहुवादी प्रवत्ति को प्रोत्साहन मिला है। प्रजातन्त्रीय सस्थाए प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर निर्मित हैं। यह कहा जाता है इस प्रकार के प्रतिनिधित्व से समाज के विभिन्न हितो का प्रतिनिधित्व नही मिलता और अल्पमत समुदाय अपने हिता की रक्षा नही कर पाते। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर निर्मित सस्थाए समाज का सच्चा प्रतिनिधित्व नही कर सकती, उनका निर्माण व्यावसायिक एव वृत्तिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होना चाहिये।

वतमान काल मे राज्य के काय भी बहुत बढ गये है जिसके परिणाम स्वरूप राज्य-काय की कुशलता मे बडी कमी आगई है। वाड का कथन है कि वतमान राज्य के केन्द्र मे ता रक्तबाहुल्य है और परिधि पर रक्त की कमी

---

* When the government performs these additional functions we see no command, no prerogatives of a sovereign will, no manifestations of the traditional imperium When the state furnishes education poor relief, and transportation it does nothing that can be remotely connected with the power to command › (Duguit, extracted in Spahr Readings in Recent Political Philosophy, p 476)

है।'* मेकाइवर इस स्थिति का परिणाम बताते हुए कहता है कि सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ है असमर्थता।'†

विज्ञान की अपूर्व उन्नति तथा उत्पादन के संगठन के विकास ने भी जिसके कारण अब विभिन्न राज्यों के लिये अलग अलग रहकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करने के स्थान पर अंतराष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देना आवश्यक होगया है, इस प्रवृत्ति की सहायता की है। राज्यों का बाह्य प्रभुत्व अंतराष्ट्रीय सहयोग एवं मानव हित के लिये बड़ा बाधक सिद्ध हो रहा है।

उपर्युक्त कारणों से वर्तमान् शताब्दी में अद्वैतवादी राज्य की उपयोगिता एवं आवश्यकता पर आक्षेप किये जा रहे हैं। बार्कर का कथन है कि 'कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना निष्फल नहीं है जितना कि प्रभुत्व सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त।'‖ लिण्डसे ने कहा है कि 'यदि हम तथ्यों पर दृष्टिपात करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि प्रभुत्व सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त खण्डित हो चुका है।'§ लास्की का कथन है कि 'यदि हम प्रभुत्व की कल्पना मात्र का त्याग कर दें तो राज्यविज्ञान को उससे स्थायी लाभ पहुंचेगा। उसके विचार से राजनीतिक दर्शन के लिये कानूनी प्रभुत्व के सिद्धान्त को समुचित मानना असंभव है।'**

इन सभी बहुवादी लेखकों में, जैसा हम ऊपर बतला आये हैं, विस्तार की बातों में मतभेद है, परन्तु मूल बात में अर्थात् राज्य के असीमित प्रभुत्व को नियन्त्रित करने की इच्छा में वे सब एकमत हैं। विभिन्न लेखकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है।

---

* 'There is apoplexy at the centre and anemia at the circumference' (Ward Sovereignty, p 86)

† 'Omnipotence means incompetence' (Mac Iver)

‖ No political commonplace has become more arid and unfruitful than the doctrine of the sovereign state' (Barker, quoted in Asirvatham Political Theory, p 704)

§ 'If we look at the facts it is clear enough that the theory of the sovereign state has broken down' (Lindsay quoted in Garner Political Science and Government p 184)

** 'If would be of lasting benefit to political science if the whole concept of sovereignty were surrendered' (Laski Grammar of Politics, p p 44 45)

'It is impossible to make the legal theory of sovereignty valid for political philosphy' (Ibid p 55)

(१) गियक, मेटलण्ड, फिगिस आदि लेखको न ऐतिहासिक दृष्टि स प्रभुत्व के सिद्धात का खण्डन किया है। उन्नीसवी शताब्दी के अत की ओर गियक तथा मैंटलैण्ड न मध्यकालीन श्रेणियो के अध्ययन क फल-स्वरूप निगम सिद्धात (Theory of Corporations) का प्रतिपादन किया था। वतमान शताब्दी के लखका ने इनके सिद्धात के प्रभाव का स्वीकार किया है। गियक और मैंटलण्ड का सिद्धान्त है कि समाज मे स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हानेवाले स्थायी समुदाया क व्यक्तित्व हात हैं जो वास्तविक हैं, काल्पनिक नही। प्रत्येक समुदाय की अपन सदस्या की चेतना एव इच्छाम्रो मे भिन्न स्वय अपनी चतना एव इच्छा होती है। प्रत्यक समुदाय अपने अपने काय क सम्पादन क लिय राज्य की अनुमति के बिना ही नियम बनाता आ रहा है और इस प्रकार समाज मे काम मे आनेवाले कानूना क निर्माण मे भाग लता रहा है। राज्य का कानून निर्माण करन का काय प्रमुख है परन्तु अनन्य (Exclusive) नही है। इन लेखका का उद्देश्य स्थायी समुदाया के निमित्त अधिकारो एव कतव्यो का स्वीकृति के लिये आधार प्रस्तुत करना था। वे चाहत थ कि राज्य इस बात को स्वीकार करले कि इन स्थायी समुदायों के ठीक उसी प्रकार अधिकार और कतव्य होते हैं जसे व्यक्ति के। अधिकारो का आधार व्यक्तित्व है। जिस प्रकार व्यक्तित्व क आधार पर व्यक्ति के तथा राज्य क अधिकार और कतव्य हात हैं उसी प्रकार समुदाया के अधिकार एव कतव्य भी होना चाहिय और राज्य का उनके कामा मे हस्तक्षेप नही करना चाहिय। राज्य उनके ऊपर नही हा सकता और न उसे उनके ऊपर अपरिमित अधिकार ही दिये जा सकते हैं। यह तो तभी उचित हा सकता है जबकि राज्य न उनका जन्म दिया हाता अथवा अपन कामो की दृष्टि से वह उनसे श्रेष्ठ हाता। परन्तु हम देखते हैं कि य दोना बातें नही हैं।

समुदाय राज्य की सष्टि नही, मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता की उपज हैं। आरम्भ से ही मनुष्य की अनेकानक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार के समुदाय स्वाभाविक रूप स उदय हुए हैं। कुटुम्ब, जाति बिरादरी, कबीला, धार्मिक समुदाय आदि राज्य से भी पहले स्वाभाविक रूप से अपने आप ही उदय हुए हैं। चच आदि समुदायों को तो राज्य ने नष्ट करने का भी प्रयत्न किया पर व फिर भी बन रहे। इस प्रकार य समुदाय स्वाभाविक हैं। मकाइवर का कथन है कि य महान समुदाय न तो राज्य के भाग हैं और न उसकी प्रजा ही हैं, उनका अस्तित्व राज्य के समान अपन ही अधिकार से है। राज्य की सत्ता के समान स्वय उनकी अपनी सत्ताएँ हैं। बाकर का कथन है

कि राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह मात्र ही नहीं है जिनका राज्य को छोड़कर एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न हो, वह समुदायों का समुदाय है। उसकी इकाइयाँ असम्बद्ध या पृथक् व्यक्ति नहीं हैं वरन वे व्यक्ति हैं जो पहले से ही सामान्य जीवनयुक्त समुदायों के रूप में संगठित हैं। ये समुदाय व्यक्तियों तथा राज्य के मध्य में स्थित हैं।' अब हम 'व्यक्ति बनाम राज्य' की नहीं 'समुदाय बनाम व्यक्ति' की बात करते हैं।* सारांश में इन लेखकों का विचार है कि समाज के स्थायी समुदाय राज्य की सृष्टि नहीं हैं, वे स्वाभाविक हैं, उनका अपना व्यक्तित्व होता है और उनके अपने अधिकार एवं कर्तव्य होते हैं। अतः राज्य उनके ऊपर नहीं हो सकता और न उसे उनके ऊपर अपरिमित अधिकार ही दिये जा सकते हैं।

फिर, अपने कामों की दृष्टि से भी राज्य समुदायों से श्रेष्ठ नहीं है। जिस प्रकार राज्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है उसी प्रकार अन्य समुदाय भी व्यक्तियों की अनेक प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करके उनके विकास में सहायक होते हैं। यदि राज्य न्याय, सुरक्षा, यातायात आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तो कुटुम्ब बालकों का पालन-पोषण आदि जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, धार्मिक समुदाय व्यक्तियों के आध्यात्मिक विकास में योग देता है, आर्थिक समुदाय उनके आर्थिक हितों की रक्षा करता है। इसी प्रकार अन्य समुदाय व्यक्ति के अनेकानेक हितों की रक्षा करते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो इन सभी समुदायों के काम सम्मिलित रूप में राज्य के काम से कहीं अधिक होते हैं। सत्य बात तो यह है कि मानव जाति की सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति इन समुदायों के ही कारण हो सकी है। ऐसी दशा में राज्य अन्य समुदायों से क्योंकर श्रेष्ठ हो सकता है और उसे अपरिमित अधिकार किस प्रकार दिये जा सकते हैं। दैनिक जीवन में व्यक्तियों का सम्बन्ध इन समुदायों के साथ राज्य की अपेक्षा घनिष्ठतर होता है, और उनके प्रति उनकी निष्ठा भी अधिक होती है। जब व्यक्ति की ऐसे समुदायों के प्रति निष्ठा का राज्य के प्रति निष्ठा से विरोध होता है तो समुदायों के प्रति निष्ठा की विजय हो सकती है और प्रायः होती भी है। अतः ऐसा कोई कारण

---

* 'We see the state less as an association of individuals in a common life, we see it more as an association of individuals, already united in various group eachs with its common life, in a further and higher group for a further and more embracing common purpose (Barker Political Thought in England, p 155)

नहीं दिखाई देता कि राज्य के प्रति निष्ठा-भक्ति को अन्य समुदायों के प्रति निष्ठा भक्ति की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाय।

(२) लास्की के भी यही विचार हैं। वह भी बहुवादी रहा है, यद्यपि आगे चलकर वह प्राय मार्क्सवादी हो गया था।* उसका दृष्टिकोण नैतिक और यथार्थवादी है और वह व्यक्ति को मुख्य मान कर अपने सिद्धान्त का निरूपण करता है। उसका कथन है कि समाज में व्यक्ति ही मूल्य है। उसका उद्देश्य अपने जीवन को यथासंभव श्रेष्ठ बनाना है। मनुष्य स्वभाव से समाज में रहता है और जब एक साथ अनेक मनुष्य निवास करते हैं तो उनके सामान्य जीवन के नियमन के लिये कुछ सामान्य नियम अनिवार्य हो जाते है उन सामान्य नियमों का पालन कराने के लिये शासन की आवश्यकता होती है और इस प्रकार राज्य का निर्माण होता है। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को उसके विकास के लिये विविध प्रकार के साधन उपलब्ध करना है। एक व्यक्ति का हित अन्य सभी व्यक्तियों के हित में अर्थात सामाजिक हित से जुड़ा हुआ है और इस प्रकार राज्य एक ऐसा संगठन है जिसका प्रयोजन समाज के व्यक्तियों को अधिकतम मात्रा में सामाजिक हित का सम्पादन करने के योग्य बनाना है।† राज्य के सभी कामों की कसौटी यही है और उसके आदेशों का पालन भी इसी कारण होता है। इस प्रकार राज्य के आदेशपालन का आधार मुख्य रूप से नैतिक है।

परन्तु समाज में राज्य ही एकमात्र ऐसा संगठन नहीं है जो व्यक्ति के हित साधन और उसके विकास में योग देता है। व्यक्ति की अनेक इच्छाएँ और आवश्यकताएँ होती है जिनकी तुष्टि के लिये वह अनेक प्रकार के समुदायों की सृष्टि करता है। ये सभी समुदाय उसके विकास में सहायक होते हैं। इसी कारण व्यक्ति उनके प्रति निष्ठा रखता है और उनके आदेशों का पालन करता है। राज्य भी एक ऐसा ही समुदाय है। दो बातों में वह अन्य समुदायों से भिन्न अवश्य है। प्रथम, उसकी सदस्यता अनिवार्य है, सभी व्यक्तियों को राज्य का सदस्य होना ही पड़ता है। अन्य समुदायों की सदस्यता व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर है। द्वितीय, अपने आदेशों का पालन करने के लिये वह दण्ड का प्रयोग कर सकता है

---

* मार्क्सवाद स्वीकार कर लेने पर अपने बहुवादी सिद्धान्त में उसने जो संशोधन किया है, उसके विषय में हम इसी अध्याय में आगे विचार करेंगे।

† State is an orgnisation for enabling the mass of men to realise social good on the largest possible scale (Laski Grammar of Politics, p 25)

जो अन्य समुदायो के लिये संभव नही है। परन्तु इस भिन्नता के कारण वह नैतिक दृष्टि से अन्य समुदायों से श्रेष्ठ और सर्वोपरि नही हो सकता और व्यक्तियों का अपने प्रति एकनिष्ठता की माँग नही कर सकता। * किसी समुदाय के प्रति व्यक्ति की कितनी निष्ठा होगी और वह किस समुदाय के प्रति अपनी निष्ठा को प्राथमिकता देगा यह इस बात पर निर्भर है कि किसी मामले मे कौन सा समुदाय उसके नैतिक विकास मे अधिक सहायक है। यदि राज्य और किसी विशिष्ट समुदाय के प्रति उसकी निष्ठाओ मे विरोध हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह राज्य के आदेशो का ही पालन करेगा। वह उसका विरोध कर सकता है और प्राय करता भी है। यदि राज्य चाहता है कि व्यक्ति उसके प्रति निष्ठा को सर्वोपरि माने तो इसके लिये यह आवश्यक है कि वह अन्य समुदायो के साथ प्रतियोगिता करे।

इस प्रकार लास्की का कथन है कि समाज का संगठन एकात्मक नही, संघात्मक है और इसी कारण उसका राजनीतिक संगठन भी संघात्मक होना चाहिये, अर्थात् राज्य का संगठन एकात्मक नही संघात्मक होना चाहिये। राज्य मे निर्णय करने अर्थात् कानून बनाने की सत्ता एक स्थान मे केन्द्रित न होकर विभिन्न संगठित समुदायो मे विभक्त होनी चाहिये और उन्हे अपने-अपने क्षेत्र से सम्बन्धित मामलो मे कानून बनाने और उन्हे लागू करने का अधिकार होना चाहिये।†

(३) लास्की का कथन है कि कोरे सिद्धान्त की बात छोड कर यदि हम यथार्थवादी दृष्टि से देखें तो आधुनिक राज्य न एकात्मक है, न निरंकुश और स्वतंत्र ही है। वह बहुवादी, संविधानिक और उत्तरदायी है। बल-प्रयोग मे वह सीमित है, उसके दिये हुए आदेश आधिपत्य प्रकट करनेवाले नही, निर्देशात्मक होते हैं और वह स्थायी भी नही है वरन् निर्वाचकों की प्रत्येक इच्छा के अनुसार

* 'The state is thus a fellowship of men aiming at the enrichment of the common life It is an association like others. churches, trade unions and the rest It differs from them in that its membership is compulsory upon all that live within its territorial ambit and that it can, in the last resort 'enforce its obligations upon its subjects But its moral character is no different from that of any other association' (Laski Grammar of Politics, p 37)

† 'Because society is federal, authority must be federal also That involves the making of decisions out of the interests which will be effected by them and, in turn, their application by those interests' (Laski Grammar of Politics, p 271)

परिवर्तनशील है। उसकी सत्ता प्रादेशिक एवं व्यवसायिक समुदायों में विभक्त है। राज्य के अन्दर या बाहर उसके कार्य सीमित होते हैं और उनकी आलोचना भी होती है। यथार्थ में वह अन्य समुदायों की भाँति ही एक समुदाय है जिसका काम विभिन्न समुदायों के बीच सामंजस्य एवं उचित सम्बन्ध स्थापित करना है। वह एक लोक-सेवी निगम है।*

(४) यथार्थवादी दृष्टिकोण से विचार करते हुए लास्की का यह भी कथन है कि व्यावहारिक अनुभव से भी राज्य की सर्वशक्तिसम्पन्नता सिद्ध नहीं होती। राज्य की प्रस्तावित योजनाओं एवं कानूनों का जब संगठित समुदाय दृढ़ता से विरोध करते हैं तो राज्य उन्हें कार्यान्वित नहीं कर सकता और उसे उन्हें वापस लेने को विवश होना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के प्रभुत्व का सिद्धान्त अव्यावहारिक एवं असमर्थनीय है। उदाहरणस्वरूप उसने इस सम्बन्ध में कई घटनाओं का उल्लेख किया है। सन् १९१४-१८ ई० के महायुद्ध के दौरान में ब्रिटिश सरकार वेल्स की खानों के विद्रोही मजदूरों के विरुद्ध म्यूनिशन एक्ट को लागू नहीं कर सकी। अमेरिका के संयुक्त राज्य की रेलवे यूनियन ने आम हड़ताल की धमकी देकर कांग्रेस को आठ घण्टे का दिन (काम के लिये) स्वीकार करने को विवश कर दिया था। अपने ही देश में हम सरकार को रेलवे तथा डाकखाने के लोगों की हड़ताल की धमकी के सामने दबते हुए देख चुके हैं। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि राज्य अपने नागरिकों के सम्बन्ध में सर्वशक्तिसम्पन्न नहीं है।

समीक्षा— इस प्रकार बहुवादी सम्प्रदाय के विचारक इस बात को नहीं मानते कि राज्य में एक ही प्रभुत्व होता है और वह प्रभुत्व राज्य का होता है। उनका कथन है कि मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता सामाजिक, धार्मिक आर्थिक राजनीतिक आदि अनेक प्रकार के समुदायों में व्यक्त होती है। ये समुदाय स्वाभाविक रूप से अपने आप उत्पन्न होते हैं, उन्हें राज्य

---

* 'The modern state in not unitary, it is not absolutistic neither is it independent It is pluralistic and constitutional and responsible It is limited in the force it exercises it is directive rarher than dominating, in the decrees it issues it is changing with every desire of the electorate rather than permanent Its power is diffuse in territorial and functional groupings And internally as well as externally its activities and functions are subject to limitations and review Actually the state is an association like other associations It is a public service corporation' (Laski)

उत्पन्न नही करता और न वे अपने अस्तित्व के लिये राज्य की इच्छा पर ही निर्भर हैं और न जिन सत्ताओ का वे उपभोग करते है वे राज्य द्वारा प्रदान की हुई हैं। वे नागरिकों की निष्ठा के लिये राज्य से स्पर्धा करते हैं और अपने अपने क्षेत्र मे वे उतने ही प्रभुत्वसम्पन्न है जितना राज्य अपने क्षेत्र मे होता है। सर्वोच्च सत्ता के लिये राज्य का दावा ससार की वर्तमान अवस्था में सत्य नही है। इस प्रकार ये राज्य के प्रभुत्व के एकाधिकार का विरोध करते हैं और समाज के विभिन्न सगठित समुदायो के लिये प्रभु सत्ता मे भाग की माग करते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारणतया बहुवादी समुदाय के विचारक राज्य के विरोधी नही, वरन राज्य की प्रभुता के विरोधी हैं, अराजकतावादी तथा सिंडिकेलिस्ट सम्प्रदाय के लोग जो, प्राय बहुवादी कहलाते हैं अवश्य राज्य का विनाश चाहते हैं परन्तु वे यथार्थ रूप मे बहुवाद का प्रतिबिम्ब नही करते।

परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो मालूम होगा कि बहुवादी लोग अद्वैतवाद के एक काल्पनिक भूत से डरते हैं।* हेगल के अनुयायियो को छोड कर अद्वैतवादियो में से कोई भी राज्य की सर्वशक्तिसम्पन्नता का दावा नही करता। वे स्वीकार करते हैं कि राज्य की वास्तविक शक्ति प्रभावकारी विरोध की सम्भावनाओ तथा नैतिक नियन्त्रणो द्वारा मर्यादित है। स्वय ऑस्टिन ने प्रभु पर निर्वाचको के प्रभाव को स्वीकार किया था। बोदा, हाब्स, ऑस्टिन आदि अद्वैतवादियो ने यह कभी दावा नहीं किया कि राज्य की आलोचना करना या उसे चुनौती देना या उसका विरोध करना अनैतिक अथवा असामाजिक है। उनका तो इतना ही कथन है कि राज्य का अस्तित्व कानूनो का निर्माण करने तथा उन्हे लागू करने के लिये है और यह अपने ही समान किसी दूसरी सत्ता के अधीन नही हो सकता। वे राज्य को अनुत्तरदायी नही मानते। वे इतना ही कहते हैं कि वह अपने ही समान किसी दूसरी सत्ता के प्रति उत्तरदायी नही होता। कोकर ने अद्वैतवाद की मुख्य बातो को इस प्रकार सक्षेप मे बतलाया है–(१) समाज मे व्यक्तियो और समुदायो के पारस्परिक सम्बन्धो के लिये एक सामजस्य करनेवाले सगठन की आवश्यकता होती है, (२) ऐसे सगठन को अपने प्रदेश के अन्दर अपनी सदस्यता अनिवार्य बनाने का अधिकार होना चाहिये। (३) अपने आदेशो का पालन कराने के लिये उसको

* 'The Political Pluralists are fighting a misunderstood Hegelianism' (Follet)

पास दमनकारी सत्ता होनी चाहिये और (४) किसी भी एक निश्चित प्रदेश म इस प्रकार के दो सगठन नही हो सकते। बहुवादी लाग इन बातो का अस्वीकार नही कर सकते।

जब बहुवादी लोग सगठित समुदायो के लिय अपने अपने क्षेत्र म स्वतन्त्र रूप से काय करने के अधिकार की माग करते हैं तो व यह मान कर चलते हैं कि समाज के विविध समुदाय समानान्तर रूप से चलते हैं और उनके काय बिलकुल पृथक हाते है। परन्तु ऐसा नही है। वास्तविक जीवन मे हम हिना की विभिन्नताएँ एव उनके सघष, तथा निष्ठाओ मे विराध दिखाई देते हैं। ऐसी स्थिति मे विभिन्न समुदाया के बीच सघष या विवादो को दूर करने के लिये तथा समुदायो के सदस्यो को उनके अत्याचार स बचाने के लिये एक सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता अनिवाय है। स्वय बहुवादी भी इस आवश्यकता को मानते हैं और उनम से अनेक प्रभुत्व का विभाजन करके भी विशिष्ट समुदाया के बीच सामजस्य स्थापित करने का काय राज्य को सौंपना चाहते हैं। गियर्क और मेटलण्ड राज्य को अन्य सामाजिक सस्थाओ से श्रेष्ठ मानते है। पालबाकोर राज्य को सामान्य हिता और राष्ट्रीय एकता का प्रतिनिधि मान कर अन्य समुदायो को उसके आधीन स्थान देता है। फिगिस भी राज्य को सामजस्य करनेवाली एजेंसी के रूप म श्रेष्ठ स्थान प्रदान करता है। इसी सम्बन्ध म बाकर का कथन है—राज्य को व्यापारिक सघ, राष्ट्रीय सघ या धर्म-सघ की प्रगति के सामने पीछे रहने के लिये निमन्त्रण दिया जाता है। तथापि ये समुदाय चाहे जितने अधिकार प्राप्त करलें, राज्य सामजस्य स्थापित करनेवाली शक्ति बना रहेगा। यह भी सभव है कि यदि एसे समुदायो को नये अधिकार मिलते हैं तो इससे राज्य को भी लाभ होगा, शायद उसे क्षति की अपेक्षा लाभ अधिक होगा क्योंकि उसे उस समय अधिक महत्वपूर्ण, गभीर एव जटिल समस्याओ का समाधान करना पडेगा।' * स्पष्ट है कि जिस सस्था का काम विभिन्न समुदाया के विवादो एव सघष को दूर कर उनमे

---

* 'We see the state invited to retreat before the advance of the guild the national group, the church Yet whatever rights such groups may claim or gain, the state will still remain *a necessary adjusting force*, and *it is even possible that if groups* are destined to gain new ground, the state will also gain perhaps even more than it loses, because it will be forced to deal with ever greater and ever weighter problems of adjustment (Barker Political Thought in England, p p 159 160)

सामजस्य स्थापित करना होगा, वह उन समस्त समुदायो से उच्चतर होगी और उन पर अपने निर्णयो को लागू करने के लिये उसके हाथो मे दमन-सत्ता भी होगी अर्थात उसके लिये प्रभुत्व सम्पन्न होना अनिवार्य होगा।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि बहुवाद का तार्किक परिणाम अराजकतावादी व्यक्तिवाद है। जिस सिद्धान्त के अनुसार समुदायो का अपने-अपने कार्य मे पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये उसी सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को भी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। ऐसी अवस्था मे शासन के लिये कोई स्थान नही रह जाता और स्थिति पूर्ण अराजकता की हो जाती है। परन्तु बहुवादी इस परिणाम तक पहुँचने का साहस नही करते। वे राज्य को बनाये रखना चाहते है और वह राज्य भी ऐसा है जो प्रभुत्वसम्पन्न है।

राज्य के पक्ष मे सबसे बडा तर्क यह है कि वह एक अनिवार्य और व्यापक समुदाय है। अन्य समुदायो की सदस्यता तो ऐच्छिक होती है उनमे जनता के विशिष्ट वर्ग ही होते हैं और वे विशिष्ट हितो के सरक्षण का ही कार्य करते हैं परन्तु राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है, उसमे प्रदेश की समस्त जनता होनी है और वह जनता के सामान्य एव सार्वलौकिक हितो की रक्षा करता है। अन्य सभी समुदाय राज्य द्वारा स्थापित की हुई शान्ति एव सुरक्षा की स्थिति मे ही काम कर सकते है। वही एक ऐसी संस्था है जो विभिन्न व्यक्तियो एव समुदायो के संघर्षों एव विरोधो का निराकरण करके राज्य की समस्त जनता को एकता के सूत्र मे बाँधती है। श्रीमती फॉलेट ने अपने 'द न्यू स्टेट' नामक ग्रन्थ मे बहुवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, परन्तु उसने भी राज्य का बडा उच्च स्थान दिया है। उसका कथन है कि 'राज्य को हम समुदायो का समुदाय नही कह सकते, क्योकि मेरा पूर्ण व्यक्तित्व किसी भी समुदाय या कितने भी समुदायो के अन्तर्गत नही आ सकता मेरी नागरिकता व्यावसायिक समुदाय की मेरी सदस्यता से बडी वस्तु है। हमे राजनीति मे पूर्ण व्यक्ति की आवश्यकता है आदर्श एकीकृत राज्य सबको अपने आप मे विलीन नहीं करता वह सबको अपने मे समाविष्ट करता है सच्चे राज्य का समस्त हितो को अपने आप मे समेट

लेना चाहिये। उसे हमारी विभिन्न निष्ठाओं को एक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। मेरी आत्मा का निवास राज्य में है।'* लिण्डसे राज्य की अद्वितीयता को स्वीकार करते हुए भी कहता है कि यह अद्वितीयता राज्य को प्रभुत्व सम्पन्न बनाने के लिये पर्याप्त नहीं है। परन्तु यह स्पष्ट है कि मनुष्य के सार्वलौकिक हित समुदायों के आंशिक और विशिष्ट हितों के ऊपर होते हैं और उनकी रक्षा के लिये राज्य को प्रभुत्व सम्पन्न बनाना ही पड़ेगा।

जिन तथ्यों की ओर लास्की ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है वे अखण्डनीय हैं। यह प्रायः देखा जाता है कि कभी-कभी संगठित समुदायों द्वारा प्रतिरोध के कारण शासक अपनी इच्छानुसार कार्य करने में अशक्ति का अनुभव करते हैं, उन्हें उनके दबाव के सामने झुकना पड़ता है। इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि राज्य अपनी नीतियों के लिये हमारा समर्थन उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वे हमारी नैतिक धारणा के प्रतिकूल प्रतीत होती हों। किन्तु इन सब बातों का राज्य के प्रभुत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अशक्ति तो शासन की है जो कभी कभी लोकमत की उपेक्षा कर बैठता है। यह आपत्ति राज्य और शासन में भेद न करने के कारण है।

लास्की ने बहुवाद के समर्थन में बड़ा योगदान दिया था परन्तु आगे चलकर उसे बहुवाद में कमजोरी मालूम हुई। उसने लिखा है कि बहुवाद का प्रतिपादन करते समय मैं यह बात पूरी तरह नहीं समझ पाया कि राज्य अपने स्वरूप से ही वर्ग सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करनेवाली संस्था है। राज्य वास्तव में अनिवार्य रूप से उस वर्ग का साधन हुआ करता है जिसके पास उत्पादन के साधनों का स्वाम्य होता है। उस वर्ग के हितों के संरक्षण के लिये राज्य को अविभाजनीय एवं अनुत्तरदायी प्रभुत्व का दावा करना ही पड़ता है, अन्यथा उन हितों का संरक्षण नहीं हो सकता। उसका कथन है कि यदि राज्य के

---

* The state can not be composed of groups because no group nor any number of groups can contain the whole of me My citizenship is something bigger than my membership in the vocational group We want the whole man in politics The ideal unified state is not all absorptive It is all inclusive The true state must gather up every interest within itself It must take our many loyalties and find how it can make them one The home of my soul is in the state (Follett The New state)

सम्बन्ध मे उसकी यह धारणा सत्य है तो बहुवाद का लक्ष्य व्यापक बन जाता है। समाज म जब तक वग रहग तब तक सम्पत्तिजीवी वग के हितो की रक्षा के लिये प्रभुत्वसम्पन्न राज्य बना रहगा और वह अन्य समुदायो को प्रभुत्व मे भाग नही लेन देगा। अत यदि हम बहुवाद की प्रतिष्ठा करनी है तो हमारा उद्देश्य वगविहीन समाज की स्थापना होना चाहिये। 'राज्य और क़ानून के सम्बध म बहुवादी विचारधारा, उनक प्रति माक्सवादी विचारधारा की स्वीकृति के माग की एक मजिल थी।'* इस प्रकार लास्की जसा उग्र बहुवादी भी वतमान स्थिति मे राज्य प्रभुता की अनिवायता का स्वीकार करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रभुत्वहीन राज्य की बहुवादी कल्पना का समथन नहीं किया जा सकता और न प्रभुत्व की कल्पना का राज्यविनान से बहिष्कार करने का विचार ही स्वीकार किया जा सकता है। सामाजिक सुरक्षा एव व्यवस्था, सामाजिक न्याय, व्यक्तियो एव समुदायो के विवादो का निणय करने, सामान्य हितो की अभिवृद्धि आदि के लिय राज्य की सदा आवश्यकता रहगी। इन कार्यो क सम्पादन क लिये दमनकारी सत्ता की आवश्यकता है और वह एक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य म ही सभव है। समुदाय चाह जितने महत्वपूण हो, उन्हे राज्य के अधीन रहना ही होगा। जैसा बहुवादी चाहते हैं, और यह उचित भी है कि, विभिन्न सगठित समुदायो को अपन अपन क्षेत्र मे काय करने की काफी स्वतत्रता होनी चाहिय और राजनीतिक सत्ता का सगठन सघीय होना चाहिये परन्तु इसके लिय प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का अन्त कर देना आवश्यक नही है। कोकर का कथन है कि 'प्रभुत्व के सिद्धान्त क दुरुपयोग का विरोध करन के लिये या राज्य की नीति निर्धारित करन तथा उस कार्यान्वित करनेवाले सगठन में अधिक विविधता लाने तथा उसका विकन्द्रीकरण करन सम्बन्धी

---

* 'That realised the purpose of pluralism merges into a wider purpose If it be the fact that the state is inevitably the instrument of that class which owns the instruments of production, the objective of the pluralist must be the classless society I now recognize that the pluralist attitude to he state and law was a stage on the road to an acceptance of the Marxian attitude to them (Laski Grammar of politics, Introductory chapter p xii)

योजनाओं की स्वीकृति के लिये राज्य प्रभुत्व के सिद्धान्त का परित्याग करना न तो आवश्यक और न उपयोगी ही मालूम होता है।"*

गेटल का कथन है कि बहुवाद ऐसे युग की स्वाभाविक विचारधारा है जिसमें हितों एवं निष्ठाओं का संघर्ष हो। वर्तमान काल में आर्थिक हितों के विकास और आर्थिक समुदायों की शक्ति के कारण उनके और शासन के विविध वर्गों के बीच सत्ता-संघर्ष उत्पन्न हो गया है। राज्य शीघ्र ही अपने संगठन और कानून को नई परिस्थिति के अनुकूल नहीं बना पाता। ऐसे समय में राज्य की अपरिमित सत्ता का सिद्धान्त कई लोगों को खतरनाक और अवांछनीय मालूम होता है। यह संभव है कि ज्यों ज्यों संघर्ष का निवारण होता जायगा, राज्य सामाजिक जीवन की इन शक्तियों को कानूनी मान्यता देता जायगा और अपने संगठन में अनुकूल संशोधन करता जायगा त्यों-त्यों बहुवाद लुप्त होता जायगा।† इस विचार का समर्थन करते हुए लेविस रॉको ने कहा है कि बहुवादी आलोचना का रूप अब बदल रहा है। अब वह राज्य के ऊपर अधिक आक्षेप नहीं करती, वरन् अधिकाधिक मात्रा में राज्य की सामाजिक रचना के सिद्धान्त का रूप धारण करती जा रही है।§

ऊपर हमने बहुवाद की आलोचना की है और हमें उसकी प्रभुत्वहीन राज्य की कल्पना स्वीकार नहीं है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बहुवाद में कोई गुण नहीं है। उसने अनेक बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके राजनीतिक चिन्तन को बहुमूल्य देन दी है। बहुवादियों ने इस बात पर जोर देकर कि कानूनी दृष्टि से सर्वशक्तिसम्पन्न होते हुए भी राज्यों पर नैतिक मर्यादाएं होनी चाहिये राज्य के उस निरंकुश सिद्धान्त का विरोध किया है जिसके अनुसार राज्य सर्वोपरि समझा जाता है, वह स्वयं साध्य है और समस्त नैतिक नियंत्रणों से मुक्त है। उन्होंने बतलाया है कि आज जिस बात की

* It seems neither necessary nor useful to abandon the doctrine of state sovereignty either to resist perversions of the doctrine or to promote the adoption of proposals for greater diversification and decentralization in the organization for the initiation and execution of state policy' (Coker)

† Gettell Political Science, p 145

§ Pluralistic criticism is becoming more a general theory of the social structure of the state as a coordinating agency' (Lewis Rockow 'The Doctrine of sovereignty of the constitution' in the American Political Science Review (1931)

आवश्यकता है वह राज्य की सत्ता पर जोर देने की नहीं वरन उसकी सत्ताओं पर मर्यादा लगाने की है। उन्होंने कोरे सिद्धान्तवाद से हट कर जल्दी जल्दी बदलते हुए समाज में राजनीतिक जीवन के वास्तविक तथ्यों पर विचार करने की आवश्यकता की ओर संकेत किया है और इस प्रकार यथार्थवादी बनने की प्रेरणा दी है। इसी सिलसिले में उन्होंने राजनीतिक समुदायों से भिन्न अन्य समुदायों के बढ़ते हुए महत्व को प्रकट किया है, ऐसे समुदायों के कामों में अत्यधिक हस्तक्षेप के खतरे बतलाये हैं और ऐसे समुदायों को राजनीतिक व्यवस्था में अधिक कानूनी मान्यता प्रदान करने की आवश्यकता पर जोर दिया है। शासन का विकेन्द्रीकरण, राज्य का संघीय संगठन आदि बातें ऐसी हैं जो अधिकतर लोगों को वाछनीय मालूम होती हैं और राजनीतिक जीवन की समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकती हैं।

प्रश्न

१ प्रभुत्व की परिभाषा कीजिये और कानूनी प्रभुत्व तथा राजनीतिक प्रभुत्व में भेद तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालिये।

२ ऑस्टिन के प्रभुत्व सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिये।

३ राज्य में प्रभुत्व का निवास कहाँ रहता है। क्या जनता प्रभु होती है ?

४ ग्रीन ने रूसो के सामान्य इच्छा के प्रभुत्व के सिद्धान्त तथा ऑस्टिन के कानूनी प्रभुत्व के सिद्धान्त में किस प्रकार सामजस्य स्थापित किया है ?

५ बहुवाद से आप क्या समझते हैं ? सक्षेप में समझाइये।

६ बहुवाद के उदय के कारणों पर प्रकाश डालिये और निम्नलिखित कथन को समझाइये—'बहुवादी आलोचना का रूप अब बदल रहा है। अब वह राज्य के ऊपर अधिक आक्षेप नहीं करती, वरन अधिकाधिक मात्रा में राज्य की सामाजिक रचना के सिद्धान्त का रूप धारण करती जा रही है।'

७ 'हम अब राज्य को सामान्य जीवन बितानेवाले असम्बद्ध व्यक्तियों के समुदाय के रूप में कम देखते हैं, हम उसे ऐसे व्यक्तियों के समुदाय के रूप में अधिक देखते हैं जो अपने अपने सामान्य जीवनवाले समुदायों में पहले से ही परस्पर सम्बन्ध हैं और उनके भी ऊपर अधिक व्यापक

सामान्य जीवन के लिये निर्मित एक उच्चतर समुदाय मे सम्मिलित हैं।' (बार्कर)। इस उक्ति की विवेचना कीजिये।

८ "अब हम 'व्यक्ति बनाम राज्य' नही लिखते हम लिखते हैं 'समुदाय बनाम राज्य'।" (बार्कर)। इसको समझाइये।

९ ड्यूग्वी के इस कथन की समीक्षा कीजिये कि 'प्रभुत्व का सिद्धान्त अपनी उत्पत्ति मे मिथ्या हैं, इतिहास ने उसे मिथ्या सिद्ध कर दिया है और सभी बातो पर विचार करते हुए वह व्यर्थ एव खतरनाक है।'

१० लास्की के बहुवादी विचारो पर प्रकाश डालते हुए उसके इस कथन का अर्थ समझाइये कि 'राज्य और कानून के सम्बन्ध म बहुवादी विचारधारा, उनके प्रति मार्क्सवादी विचारधारा की स्वीकृति के मार्ग की एक मजिल थी।'

११ 'राजनीतिक बहुवादी एक ऐसे हेगेलवाद का विरोध कर रहे हैं जिसे वे ग़लत समझे हैं।' (फॉलिट)। इस पर अपने विचार प्रकट कीजिये।



अध्याय २

क़ानून (विधि)

पिछले अध्याय मे हमने कई स्थानो पर कानून की चर्चा की है। हमें अब इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार करना है। इस शब्द का अनेक अर्थों मे प्रयोग होता है। प्राकृतिक जगत मे इस शब्द से कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकट होता है और मालूम होता है कि घटनाएँ किस प्रकार होती हैं, उदाहरणार्थ, पानी ढाल के नीचे की ओर बहता है, यह प्राकृतिक कानून है। मनुष्य के सामाजिक जीवन का नियमन करनेवाले नियम भी क़ानून कहलाते हैं। यदि उनका सम्बन्ध मनुष्य की इच्छा और इरादे से होता है तो वे नैतिक कानून कहलाते हैं और यदि उसके बाह्य कामो से तो उन्हें सामाजिक या राजनीतिक कानून कहते हैं। इस तरह हम देखते है कि कानून कई प्रकार के होते हैं जिनका सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण हो सकता है—(१) प्राकृतिक, जिनके अनुसार प्राकृतिक जगत मे घटनाएँ घटती हैं। इन नियमो का मनुष्य निर्माण नही करता वरन् प्राकृतिक जगत मे होनेवाली घटनाओ को देखकर उन्हे ढूँढ निकालता है। मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में वे नियम भी प्राकृतिक कानून कहलाते है जो मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था अर्थात् तथाकथित प्राक्-सामाजिक अवस्था म काम म आते थे। (२) नैतिक कानून, जिनका सम्बन्ध मनुष्य की इच्छा या इरादे से रहता है। इनसे उचितानुचित तथा अच्छे-बुरे का भेद मालूम होता है। (३) मनुष्य के बाह्य आचरण-सम्बन्धी क़ानून जो दो प्रकार के होते हैं। (अ) केवल समाज द्वारा स्वीकृत कानून जिनम रीति रिवाज, प्राचीन रूढियाँ आदि सामाजिक जीवन के वे प्रतिष्ठित नियम शामिल हैं जिनका पालन लोकमत के भय से होता है और जिनके उल्लघन के लिये उपहास, निन्दा, सामाजिक बहिष्कार आदि के अतिरिक्त कोई शारीरिक दण्ड नही मिलता। (आ) राजकीय कानून जो राज्य द्वारा स्वीकृत होते हैं और जिनके भग होने पर राज्य दण्ड देता है। राज्य-विज्ञान

का सम्बन्ध इसी प्रकार के कानून से है और यहां उस पर ही विचार किया जायगा।

राजकीय कानून—

राज्य विज्ञान की अन्य भावनाओं के समान कानून की कल्पना भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न की है। विलोबी के अनुसार 'आचरण के वे नियम राजकीय कानून कहलाते हैं जिनके अनुसार न्यायालय न्याय करते हैं, जो उन अनेक नियमों से जो समाज में न्यूनाधिक मात्रा में सामान्यतया माने जाते हैं, भिन्न होते हैं और जिनका पालन अन्ततोगत्वा राज्य की पूरी शक्ति के दबाव के कारण होना है।* हॉलैण्ड ने भी कहा है कि कानून बाहरी आचरण का 'वह सामान्य नियम है जिस पर प्रभुत्वसम्पन्न राजनैतिक सत्ता अमल करवाती है।† गटेल के अनुसार 'कानून प्रतिष्ठित विचारों एवं आदतों के उस अंश का नाम है जिसको शासन की सत्ता और शक्ति का समर्थन प्राप्त सामान्य नियमों के रूप में स्पष्ट और नियमानुसार मान्यता प्राप्त हो चुकी है।॥ उसका कथन है कि केवल वही नियम जिनकी सृष्टि राज्य करता है या जिन्हें राज्य मानता है और जिन पर अमल करवाता है कानून बनते है। ऑस्टिन के मत में प्रभु का आदेश ही कानून है।§

उपर्युक्त परिभाषाओं मे इतना तो मतैक्य है कि राजकीय कानून बाह्य आचरण के नियम हैं और राज्य उन पर अमल करवाता है। परन्तु उन नियमों का स्वरूप क्या है इस पर मतभेद है। ऑस्टिन का कथन है कि प्रभु का आदेश

---

* Laws are those rules of conduct that control the courts of justice in the exercise of their jurisdictions. As distinguished from all other rules of conduct that obtain more or less recognition in a community of men, they are such as have for their ultimate enforcement the entire power of the state.' (Willoughby)

† A law is a rule of action taking cognizance only of external acts, enforced by a determinate authority, which authority is human and among human authorities is that, which is paramount in a political society, or briefly, a law is a general rule of external action enforced by a sovereign political authority.' (Holland)

‖ Law is 'that portion of established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the form of general rules backed by the authority and power of government.' (Gettell)

§ 'Law is the command of the sovereign.' (Austin)

ही कानून है परन्तु गेटल के अनुसार वे नियम भी कानून कहलाते हैं जो पहले से विद्यमान हैं और जिन्हें राज्य ने मान लिया है। इसी प्रकार जनता कानून को क्या मानती है इस पर भी मतभेद है। कानून का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन विभिन्न सिद्धान्तों की चर्चा करें जिनके अनुसार विभिन्न लेखकों ने कानून की कल्पना की है।

(१) विश्लेषणात्मक अथवा आदेशात्मक सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक बोदां, हाब्स, बेन्थम, आस्टिन आदि थे। वर्तमान काल में इंगलैंड में हालैंड और अमेरिका में विलोबी भी इसी सिद्धान्त के समर्थक हैं। यह लोग वर्तमान कानूनों का विश्लेषण करके तथा उनकी अभिव्यक्ति के रूप, उनकी मान्यता तथा उन्हें व्यवहार में लाने के ढंग आदि के आधार पर उनका वर्गीकरण करके कानून के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करते हैं। ऑस्टिन के अनुसार कानून प्रभु का आदेश है। उसकी सृष्टि प्रभु द्वारा होती है और कानून इसलिये है कि वह उसका आदेश है। उसका पालन इस कारण होता है कि प्रभु की शक्ति उसके पीछे है। जिस नियम को इस शक्ति का समर्थन प्राप्त नहीं है वह कानून नहीं कहला सकता। हालैंड का कथन है कि कानून का सबसे स्पष्ट लक्षण यह है कि वह नियन्त्रणकारी है।

(२) ऐतिहासिक सिद्धान्त—

विश्लेषणात्मक सिद्धान्त का एक मुख्य दोष यह है कि उसके अनुसार कानून प्रगतिशील न होकर निश्चल वस्तु रह जाता है उसका कानून के विकास की ओर ध्यान नहीं जाता। इस दृष्टि से ऐतिहासिक सिद्धान्त के समर्थकों ने इसकी बड़ी कड़ी आलोचना की है। उनका कथन है कि कानून प्रभु का आदेश नहीं वरन् प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक रीति रिवाजों का विकसित रूप है। मनुष्य आरम्भ से ही समाज में रहता आया है और तभी से आवश्यकतानुसार सामाजिक नियम बनते रहे हैं जिन्हें लोग मानते आये हैं। सभ्यता की उन्नति के साथ इन नियमों में आवश्यक हेर फेर और वृद्धि होती रही। इन नियमों में से अनेक राज्य द्वारा स्वीकार कर लिये गये और उनका पालन कराने का भार राज्य ने अपने ऊपर ले लिया। शेष अब भी समाज में बिना राज्य के हस्तक्षेप के वैसे ही माने जा रहे हैं। आजकल भी जो नये कानून बनाये जाते हैं उनमें जनता के रीति रिवाजों का पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में से मुख्य जर्मनी का सेविग्नी तथा इंग्लैंड के सर हेनरी मेन, मेटलैण्ड तथा सर फ्रेडरिक पोलक हुए हैं। मेन ने 'एन्शेन्ट लॉ' नामक पुस्तक में विश्लेषणवादियों की कड़ी आलोचना की है। इस पर हम प्रथम भाग में कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। उसका कथन है कि प्राचीन जातियों में कानून धर्म के अंग थे, राजा स्वयं उनको मानता था, उनका निर्माण नहीं कर सकता था और न उनमें कोई परिवर्तन ही कर सकता था। उसने पंजाब के महाराजा रणजीत-सिंह का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अनन्त अधिकारी और निरंकुश होते हुए भी उसे प्राचीन रीति रिवाजों के अनुसार ही शासन करना पड़ता था वह उन्हें हटा कर नये कानून बनाने का साहस नहीं कर सकता था। इस प्रकार इतिहास से प्रकट होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि कानून प्रभु का आदेश हो। इसके उत्तर में आस्टिन का कथन है कि प्रभु जिनके लिये अनुमति देता है

वह उसका आदेश ही है। किन्तु प्रभु अनुमति देने या न देने में स्वतंत्र नहीं होता। जिन रीति रिवाजों को जनता मानती है उनके लिये प्रभु को अनुमति देना ही पड़ती है। प्रतिष्ठित रीति रिवाजों में परिवर्तन करने का प्रभु साहस नहीं कर सकता, नहीं तो उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है।

(३) दार्शनिक सिद्धान्त—

रूसो, कॉण्ट आदि दार्शनिकों का मत है कि कानून जनता की असली इच्छा (Real Will) को प्रकट करते हैं जिसके सामने क्षणिक, तात्कालिक इच्छा (Actual Will) से भिन्न सदा नैतिक लक्ष्य ही रहता है। जब हम कानून मानते हैं तो हम अपनी ही अन्तरात्मा की सच्ची वाणी को मानते हैं। दार्शनिक दृष्टि से प्रजातन्त्र में तो यह मत ठीक हो सकता है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रजातन्त्र में जहाँ शासन दलबन्दी के आधार पर होता है इस मत को स्वीकार करना कठिन है। निरंकुश राज्यों में तो जनता की इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता।

(४) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त—

प्रख्यात फ्रेन्च समाजशास्त्री ड्यूग्वी और डच लेखक क्राब का मत हम ऊपर बहुवादी सिद्धान्त की चर्चा करते समय प्रकट कर आये हैं। उनके विचार में कानून सामाजिक जीवन के परिणाम हैं। समाज में ठीक तरह से रहने और सामाजिक जीवन से लाभ उठाने के लिये व्यक्तियों को कुछ नियम पालने पड़ते हैं। यही नियम कानून हैं। लोग उनका पालन इस कारण नहीं करते कि उनको प्रभु ने आदेश दिया है और उनको भंग करने पर दण्ड मिलेगा वरन इस कारण उनका पालन करते हैं कि उनका पालन किये बिना सामाजिक जीवन ठहर नहीं सकता। प्रभु इन कानूनों का निर्माण नहीं करता, केवल ढूंढ निकालता है। कानून प्रभु को उसके कर्तव्यों का ज्ञान कराते हैं और इस कारण वे उससे भी बढ़ कर हैं।

(५) नैतिक सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त कानून के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डालता, केवल यह बताता है कि हम उनका पालन क्यों करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार हम राज्य के कानूनों को इस कारण नहीं मानते कि वे प्रभु के आदेश हैं या प्राचीन रीति रिवाज हैं वरन इसलिये कि वे हमारे अधिकारों और कर्तव्यों का निर्देश करते हैं और हम उन्हें उचित समझते हैं। इस प्रकार कानूनों के पालन का आधार हमारी नैतिक प्रवृत्ति के अनुकूल होने के कारण उनका औचित्य है। यही कारण है कि जनता कुछ कानूनों को मानती है और कुछ का विरोध करती है। ऐसा नहीं होता तो सभी कानूनों का समान रूप से पालन होता। इस सिद्धान्त के समर्थक लॉस्की,* रॉस्को पाउण्ड आदि हैं।

* Laski Grammar of Politics, p 288 89

उपर्युक्त सिद्धान्तो मे से कोई भी एसा नही है जो कानून के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करा सके, यद्यपि प्रत्येक मे कुछ सत्याश अवश्य है। आदेशात्मक सिद्धात के अनुसार कानून प्रभु के आदेश हाते हैं परन्तु सभी कानून आदेश नही हाते। कुछ कानून तो आदेशात्मक होते हैं, जसे कर सम्बन्धी कानून, जिनके द्वारा हम नियमानुकूल कर देना पडता है और यदि न दें तो हम राज्य की ओर स दण्ड के भागी होते हैं। एसे कानूनो मे निषेधात्मक कानून भी सम्मिलित हैं जिनके द्वारा कुछ प्रकार के काय करने की राज्य की ओर से मनाही की जाती है और जिनका भङ्ग करने पर दण्ड मिलता है। परन्तु कुछ कानून ऐसे हाते हैं जो आदेशात्मक नही, अनुमति सूचक होते हैं जैसे मतदान सम्बन्धी कानून। जिस व्यक्ति मे मतदाता की योग्यता हो वह मत द सकता है परन्तु यदि वह अपना मत न दे तो उसे कोई दण्ड नही मिलता। यह भी सत्य है कि कानूनो का आधार बहुत बडे अश तक हमारे प्राचीन रीति रिवाज हैं और कानून का धीरे धीरे विकास होता है। परन्तु इसके साथ ही हम यह भी मानना पडेगा कि बदलती हुई परिस्थिति मे राज्य को नितान्त नये कानून भी बनाने पडते है, जैसे कारखानो मे आकस्मिक दुर्घटना के लिये श्रमिक को हर्जाना दिलाने की व्यवस्था करने वाले कानून जिनका हम प्राचीन रीति रिवाज मे चिन्ह भी नही मिलता। बहुत स कानून हमारी अन्तरात्मा के अनुकूल हाते हैं परन्तु सभी नही। यह भी सत्य है कि कानून सामाजिक जीवन के परिणाम हैं और व्यक्ति उन्हे सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक मानते है किन्तु सामाजिक जीवन के आदर्श तथा न्याय की भावना सभी व्यक्तियो मे समान नही होती और सभी व्यक्ति इस भावना से कानूनो का पालन नही करते। इस बात से भी हम इन्कार नही करते कि हम कानूनो को केवल इसीलिये नही मानते कि वे प्रभु के आदेश हैं प्रत्युत इसलिये मानते है कि वे हमारी नैतिक प्रकृति के अनुकूल होने के कारण उचित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपूर्ण होते हुए भी प्रत्येक सिद्धान्त मे कुछ सत्य एव ग्राह्य तत्व है। सभी सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक है और इनके तत्वो का उचित समन्वय करके ही हम क़ानून का यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। कानून के स्रोत अनेक हैं जैसा हम अभी आगे देखेंगे, उन्हे हम मानते भी अनेक कारणो से है। परन्तु इतना तो अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि कानून के लिये राज्य की स्वीकृति आवश्यक है और उसके पक्ष मे राज्य का बल होना चाहिये अन्यथा बहुत से लोग उचित होते हुए भी कानूनो को नही मानेंगे और व्यवस्था बिगड जायगी। इस दृष्टि से आदेशात्मक सिद्धान्त अपूर्ण होते हुए भी अधिक ग्राह्य है, उसकी त्रुटियो की पूर्ति अन्य सिद्धान्तो की सहायता से की जा सकती है। क़ानून मे

जिन जिन बातों का समावेश होता है वे अनेक स्रोतों से प्राप्त होती हैं परन्तु उनको निश्चित और नियमित रूप देनेवाली शक्ति प्रभु ही है जिसकी मान्यता प्राप्त किये बिना कोई नियम राज्य की समस्त जनता पर समान रूप से बन्धनकारी नहीं हो सकता और न उसका उपयोग ही न्यायालय न्याय करने में कर सकते हैं।

कानून के स्रोत—

हालैण्ड ने कानून के ६ स्रोत बताये हैं—

(१) रीति रिवाज—

यह कानून का सबसे प्राचीन स्रोत है। प्राचीन काल में समाज में लिखित कानून नहीं होते थे। उस समय लोग अपने पारस्परिक व्यवहार में कुछ रीति रिवाजों का पालन करते थे जो आदत, अनुभव, उपयोगिता, न्याय भावना आदि के कारण अपने आप धीरे धीरे बन गये थे या जान बूझकर बना लिये गये थे। उनके निर्माण में राज्य का कोई हाथ नहीं था। उनका विकास समाज की आवश्यकता के अनुसार होता रहा है और समय-समय पर उनमें परिवर्तन होते रहे हैं। बहुत से रीति रिवाज प्राचीन काल से किसी न किसी रूप में आज तक चले आ रहे हैं। उनका कानून के समान आदर होता है और न्यायालयों में भी वे माने जाते हैं। कई रीति रिवाजों को तो प्रभु कानून का ही रूप दे देता है और वे राज्य के लिखित कानूनों में सम्मिलित हो जाते हैं। इंगलैंड का कॉमन ला प्राचीन रीति रिवाजों का ही संग्रह है।

(२) धर्म—

धर्म का आरम्भ से ही मनुष्य जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। प्राचीन काल में रीति रिवाजों तथा धार्मिक नियमों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था और उनमें कोई भेद नहीं समझा जाता था। अनेक रीति रिवाज तो ऐसे थे जो धर्म के ही अङ्ग माने जाते थे। समाज में जितने नियम बनाये जाते थे उन पर धर्म की दृष्टि से विचार किया जाता था, उन नियमों का उल्लंघन पाप समझा जाता था और ऐसा विश्वास किया जाता था कि उनका उल्लंघन करने पर ईश्वर दण्ड देगा। इस प्रकार रीति रिवाज अधिक पुष्ट हो जाते थे और लोग उनका अच्छी प्रकार पालन करते थे। विल्सन ने बतलाया है कि रोम के प्रारम्भिक कानून धार्मिक नियमों के संग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं थे। भारतवर्ष में तो व्यक्ति के समस्त जीवन पर धर्म का बड़ा नियंत्रण रहा है और हिन्दुओं के अधिकांश सामाजिक नियम उनके धर्म ग्रंथों के आधार पर स्थित हैं। आजकल भी हिन्दुओं के वैयक्तिक कानून (हिन्दू ला) का आधार

धर्मशास्त्र हैं। इसी प्रकार मुसलमानों के वैयक्तिक कानून (मुस्लिम ला) कुरान तथा शरियत के आधार पर बने हुए हैं।

(३) न्यायालयों के निर्णय—

न्यायाधीश न्याय करते समय केवल कानूनों को लागू ही नहीं करते, वे बहुधा नये कानून का निर्माण कर देते हैं। कई बार उनके सामने ऐसे अभियोग आते हैं जिनके सम्बन्ध में कानून अस्पष्ट होता है। ऐसे अवसर पर उन्हें अपनी न्याय-बुद्धि और नैतिकता के अनुसार कानून की सक्षम व्याख्या करनी पड़ती है और उसे स्पष्ट करना पड़ता है तथा उस व्याख्या के अनुसार अपना निर्णय देना पड़ता है। इस तरह वे कानून का विस्तार करते हैं और एक प्रकार से नये कानून की सृष्टि करते हैं। बड़े-बड़े न्यायाधीशों के पेचीदा मामलों में दिये हुए निर्णय आगे के लिये प्रमाण बन जाते हैं और दूसरे न्यायाधीश निर्णय करने में उनका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार बने हुए कानून न्यायाधीश-निर्मित कानून कहे जा सकते हैं।

(४) न्यायाधीश की न्याय-भावना (Equity)—

न्यायाधीश अस्पष्ट कानूनों को अपनी व्याख्या द्वारा स्पष्ट करने के अतिरिक्त एक काम और करते हैं। कभी-कभी उनके सामने ऐसे अभियोग भी आते हैं जिनके सम्बन्ध में कानून मौन होता है। ऐसे मौकों पर वे अपने विवेक तथा अपनी न्याय भावना के अनुसार अपना निर्णय देते हैं और नये कानून का निर्माण करते हैं। इस स्रोत को हम तीसरे में ही शामिल कर सकते हैं क्योंकि इस प्रकार बना हुआ कानून भी न्यायाधीश निर्मित ही है।

(५) वैज्ञानिक विवेचन—

उपर्युक्त रीति से जो काम न्यायाधीश करते हैं वही काम अन्य कानून विशारद भी करते हैं। प्रत्येक देश में प्रत्येक युग में बड़े-बड़े नीतिज्ञ, दार्शनिक और कानून विशारद हुऐ हैं जिन्होंने बड़े परिश्रम से आचार विचार के नियमों का संग्रह और विवेचन किया है। भारतवर्ष में मनु, याज्ञवल्क्य तथा विज्ञानेश्वर ग्रीस में सोलन, इङ्गलैण्ड में कोक और ब्लेक्स्टोन, अमेरिका में स्टोरी केण्ट इसी प्रकार के कानून विशारद हुए हैं। आजकल भी बड़े-बड़े अधिकारी और कानून विशारद, कानून की व्याख्या और समालोचना करते हैं, जिसके द्वारा कानून स्पष्ट हो जाता है और उसका विस्तार होता है। वे कभी कभी कानून की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाते हैं और उनको दूर करने के लिये सुझाव प्रस्तुत करते हैं। अधिकारी विशारदों के मत का न्यायाधीश आदर करते हैं और न्याय करते समय उसको कानून के समान प्रामाणित मानकर उसका उपयोग करते हैं।

(६) विधान मण्डल (व्यवस्थापिका सभा)—

कानून का यह स्रोत सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। जितने भी लिखित कानून हैं वे सब किसी अधिकारी व्यक्ति या संस्था द्वारा बनाये हुए होते है। निरंकुश राज्यों में कानून बनाने का अधिकार राजा को ही होता है परन्तु जनतन्त्रीय राज्यों में यह अधिकार जनता के प्रतिनिधि विधान-मण्डलों को होता है जो नये कानून बनाते हैं और पुराने कानूनों में संशोधन करते है या उन्हें अनावश्यक समझ कर रद्द करते है। आजकल अधिकांश कानून इन्हीं संस्थाओं द्वारा बनाये जाते हैं। कहीं कहीं जहां प्रत्यक्ष जनतन्त्र है वहां समस्त नागरिक भी मिल कर कानून निर्माण करते हैं। विधान मण्डलों द्वारा निर्मित कानून जनता की अभिव्यक्त इच्छा ही है। कानून बनाने की इस परिपाटी के कारण अब कानून के अन्य स्रोतों का महत्व बहुत कम हो गया है। रीति रिवाज का स्थान अब विधान-मण्डल द्वारा निर्मित सुनिश्चित कानून ने ले लिया है। कानून बनाते समय विधान मण्डल द्वारा समुचित विचार होने तथा एक ही विषय से सम्बद्ध विभिन्न कानूनों का संग्रह करने के कारण अब न्यायाधीश निर्मित कानूनों का क्षेत्र भी संकुचित हो गया है और शास्त्रीय व्याख्याएं अब मुख्यतः विवाद में काम आती हैं। नये कानून के निर्माण में रीति रिवाज, धार्मिक मत, विवेक भावना आदि भी काम करते हैं परन्तु अब कानून के स्रोत के रूप में उनका महत्व नहीं रहा, वे केवल प्रभाव डालनेवाले तत्व के रूप में रह गये हैं।

राजकीय कानून के भेद—

राजकीय कानूनों के भेद अनेक प्रकार के बताये जा सकते हैं। हॉलण्ड ने राजकीय कानून दो प्रकार के बताए हैं—निजी (Private) और सार्वजनिक (Public)। जो कानून नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करते हैं जैसे सम्पत्ति, वसीयत, ऋण आदि के सम्बन्ध में, वे निजी कानून कहलाते है। ऐसे मामले व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में ही होते हैं। जो कानून व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं वे सार्वजनिक कानून होते हैं। जब कोई व्यक्ति राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करता है जैसे चोरी, डकैती अथवा हत्या करे, तो उसका मुकदमा सार्वजनिक कानून के अनुसार होता है। इन अपराधों में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को हानि पहुंचाता है परन्तु ऐसे अपराध सार्वजनिक शान्ति एवं व्यवस्था में भी बाधक होते हैं। और चूंकि सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था की रक्षा करना राज्य का काम है इसलिये इस प्रकार के अपराध राज्य के विरुद्ध समझे जाते हैं। सार्वजनिक कानूनों में

वे कानून भी सम्मिलित होते हैं जिनका राज्य के सङ्गठन तथा शासन की शक्तियों के वितरण से सम्बन्ध होता है और जो सांविधानिक भी कहलाते हैं।

राजकीय कानूनों में राष्ट्रीय (Municipal or National) और अन्तर्राष्ट्रीय (International) कह कर भी भेद किया जाता है। हॉलण्ड द्वारा निर्दिष्ट निजी और सार्वजनिक कानून राष्ट्रीय कानून हैं क्योंकि उनके द्वारा राज्य के अन्दर व्यक्ति-व्यक्ति और व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन होता है। विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का नियमन करनेवाले कानून अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं।

राजकीय कानूनों का एक तीसरे प्रकार से भी वर्गीकरण किया जाता है—सांविधानिक तथा साधारण। सांविधानिक कानून की व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। राज्य के अन्दर शेष जितने कानून रह जाते हैं वे सब साधारण कानून कहलाते हैं। साधारण कानून भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कानून के स्रोतों का उल्लेख करते समय हम उनकी कुछ चर्चा कर आये हैं। जिस ढंग के अनुसार कानून का निर्माण होता है उसके अनुसार साधारण कानून निम्न प्रकार हो सकते हैं।

(१) साधारण कानून या विधि (Statute law) जो राज्य के विधान-मण्डल द्वारा बनाये जाते हैं। कई देशों में सांविधानिक कानून का निर्माण भी विधान मण्डल करते हैं परन्तु इन दोनों प्रकार के कानूनों में भेद है जिसका उल्लेख अभी हो चुका है।

(२) अध्यादेश (Ordinance)—असाधारण परिस्थिति में राज्य के मुख्य अधिकारी को अस्थायी कानून बनाने का अधिकार रहता है। जितने समय के लिये वे बनाये जाते हैं उसके बाद वे अपने आप ही रद्द हो जाते हैं। उनकी अवधि का विस्तार भी हो सकता है या निर्दिष्ट विधि के अनुसार अवधि के पहले भी वे रद्द हो जाते हैं या किये जा सकते हैं।

(३) न्यायाधीश निर्मित कानून जिसका स्पष्टीकरण ऊपर हो चुका है।

(४) रीति रिवाज तथा प्राचीन परम्पराओं पर आश्रित क़ानून। इसका वर्णन भी ऊपर किया जा चुका है।

(५) प्रशासनीय क़ानून (Administrative law)—ऐसे कानून प्रत्येक देश में नहीं होते। इंगलण्ड, अमेरिका तथा भारतवर्ष में इस प्रकार के कानून नहीं हैं। फ्रांस तथा योरोप के कई अन्य देशों में प्रशासनीय कानून हैं जिनके द्वारा सरकारी कर्मचारियों की विशेष स्थिति और तत्सम्बन्धी उत्तरदायित्व स्थिर

किये जाते हैं और उनके प्रति नागरिकों के अधिकारों का निर्देश किया जाता है। यदि कोई कर्मचारी सरकारी कर्मचारी की हैसियत में सरकारी कर्तव्य पालन करते समय कोई अपराध करता है तो उसका न्याय एक पृथक न्यायालय—प्रशासकीय न्यायालय—में प्रशासनीय कानून के अनुसार होता है। उसका मामला साधारण न्यायालयों में नहीं जाता।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून—ये वे कानून हैं जिनके द्वारा विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन होता है। † ये कानून विभिन्न राज्यों में आपस में की हुई सन्धियों, पारस्परिक समझौतों, प्रथाओं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के निर्णयों और उनके आधार पर निर्मित नियमों पर आश्रित रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून वहीं तक राजकीय कानून की कोटि में आते हैं जहाँ तक राज्य उन्हें अपना कानून मान कर देश में लागू करता है। जिन कानूनों को राज्य स्वीकार नहीं करता वे राजकीय कानून नहीं कहे जा सकते।

यह स्पष्ट है कि अन्तराष्ट्रीय कानून को स्वीकार करना या न करना राज्य की इच्छा पर निर्भर है। स्वीकार कर लेने पर भी यदि कोई राज्य उनका उल्लंघन करता है तो उस राज्य को दण्ड देने की कोई व्यवस्था नहीं है। इसी कारण बहुत से कानून विशारद जिनमें आस्टिन जैसे विश्लेषणवादी मुख्य हैं, उनको कानून की कोटि में रखने के लिए तैयार नहीं हैं। उनके मत के अनुसार कानून प्रभु का उसके अधीनस्थ जनता का आदेश होता है, स्रोत सुनिश्चित होता है, जनता को उसका पालन करना पड़ता और उल्लंघन होने पर प्रभु द्वारा निर्दिष्ट ढंग से न्यायालय द्वारा दण्ड दिया जाता है। अन्तर्राष्टीय कानून में इन बातों में से एक भी नहीं है। वह किसी प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता का आदेश नहीं है, उनका स्रोत भी सुनिश्चित नहीं है, राज्य उसे मानने या न मानने में स्वतन्त्र है और उनका उल्लंघन करने वाले राज्य को दण्ड देने का युद्ध के अतिरिक्त कोई व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय कानून कानून नहीं वरन अन्तर्राष्टीय सदाचार के नियम हैं जिनका पालन युद्ध या अन्तर्राष्टीय लोकमत के भय से होता है।

इस मत के विपरीत, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, मेन जैसे ऐतिहासिक कानूनज्ञों का कथन है कि कानून आवश्यक रूप से प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता का

† 'International law may be defined as the body of principles and rules generally recognized as truding by the community of states in their relations with one another' (Moore quoted by Gettell Political Science, P 441)

सुनिश्चित आदेश नही होता, उसमे कई प्राचीन रीति रिवाज भी शामिल होते हैं जिनका किसी प्रभु ने कभी जन्म नही दिया। कानून की वास्तविक कसौटी दण्ड भय नही, जनता का नैतिक अनुमोदन और उसके फलस्वरूप उसकी सामान्य मान्यता है। राज्य मे कई सुनिश्चत कानून होते हैं जिनका पालन नही होता और जनता के विरोध के भय से शासन उन पर अमल करवाने का प्रयत्न नही करता। इस दृष्टि से कानून वास्तव मे उन नियमो के सग्रह का नाम है जिनको कानूनी रूप दे दिया गया है, जिनको सामान्यतया लोकमत का समर्थन प्राप्त है और जिनका पालन वे लोग करते है। जिनके आचरण का नियमन करने के लिए वे बनाये गये है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का हम यदि इस कसौटी पर कसें तो वह ठीक उतरता है और कानून की कोटि मे आ जाता है।

यह समस्त विवाद परिभाषा का है। यदि हम कानून के आदेशात्मक सिद्धान्त को स्वीकार करें तो 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून' पद मे ही विरोधोक्ति है। आदेश देने वाला और उस पर अमल करवाने वाला कोई सुनिश्चित राजनीतिक प्रभु होना चाहिए। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वास्तविक कानून बनाने के लिये एक विश्व राज्य और विश्व प्रभु होना चाहिए और यदि वह वास्तविक कानून है तो वह एक विश्व राज्य का राष्ट्रीय कानून हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय कानून नही। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के अनुसार आदेश प्रभु द्वारा अधीन लोगो को दिया जाता है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून तो समान राज्यो के पारस्परिक समझौते द्वारा बनाये हुए नियम हैं, किसी सर्वोपरि शक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति नही। अत अन्तर्राष्ट्रीय कानून नैतिक नियमो का सग्रह मात्र रह जाता है। किन्तु यदि वास्तव मे देखा जाय तो यह कानून नैतिक नियमो का सग्रह मात्र ही नही है। उसके स्रोत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो की एक प्रकार की राजनैतिक सत्ता मे है उनके द्वारा राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का नियमन होता है और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे उनका प्रयोग भी होता है। उनके भङ्ग किये जाने पर आर्थिक बहिष्कार, कूटनीतिक बहिष्कार आदि दण्ड दिये जाते हैं और कभी कभी भङ्ग करने वाले राज्य मे सशस्त्र हस्तक्षेप भी होता है, जिस प्रकार कुछ वर्ष पहले उत्तरी कोरिया मे हुआ था। ससार के अधिकाश राष्ट्र उन्हे मानते भी है और उनके अनुसार आचरण भी करते है। उनका आधार भी वही अनुमति और बल है जो राजकीय कानून और राजनीतिक प्रभु का होता है। इन्ही बातो को देखते हुए गेटल का कथन है कि यद्यपि अन्तराष्ट्रीय कानून अपूर्ण रूप से सगठित राजनीतिक ससार मे एक अर्ध विकसित और अपूर्ण कानून है तो भी उसके नियम कानून की सीमा पर जा पहुँचे हैं और केवल

नैतिक नियमो का सग्रहनात न हो कर वह वास्तविक कानून है। उनम जो त्रुटिया हैं वे वही हैं जा विकास की प्राथमिक अवस्था मे सभी कानूनी व्यवस्थाओं मे होती हैं। यदि हम कानून की परिभाषा को कुछ विगद करदें ताकि उसम किसी जनसमूह के वाह्य आचरण के वे सब नियम आ जांय जिन पर उस जनसमूह की आन्तरिक विवेक बुद्धि नही वरन् सामान्य अनुमति स कोई वाह्य शक्ति अमल करवा सके तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम वास्तविक कानून कहे जा सकते है।* फ्रेडरिक पालक का भी कथन है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक अपूर्ण रूप स सगठित समाज म रीति रिवाजो का ऐसा सग्रह है। जिन्ह पूर्ण रूप से कानून का रूप तो नही मिल पाया है कि नई जो कानून का रूप प्राप्त करने जा रहे हैं।§ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विख्यात लेखक ओपेनहाइम (Oppenheim) ने कानून की व्याख्या इसी विशद रूप मे की है। जो विचारक इस परिभाषा को स्वीकार नही करत और अन्तराष्ट्रीय कानून का केवल अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार के नियम मात्र मानते है वह उन्ह उत्तर यह कह कर देता है कि कोई भी नियम उस समय सदाचार का नियम होता है जब कि समाज की सामान्य सहमति से उसका सम्बन्ध अन्त करण से, केवल अन्त करण से ही हो, किन्तु यदि समाज की सामान्य सहमति से कोई वाह्य सत्ता उस पर अमल करवाती है तो वह कानून है।†

---

* While it is still an undeveloped and imperfect system glaw in an imperfectly organized political world, its rules at least lie on the frontier of law and constitute a system of jurisprudence rather than a code morals If the definition of law be somewhat windered to include a body of rules for human conduct within a community which by comman consent of this community shall be enforced by external power and not by internal conseret rice, then the rules of international law are property law' (Gettell Political Science, p 455)

§ 'A rule is a rull of morality, if by comman consent of the community it applies to conservence' and to conserence only, whereas, on the other hand a rule is a rule glaw if by comman consent of the community it will eventually be enforced by external power' (Oppertreim quoted by Asirratham Political Theory, p 398)

† International law is a body of custom and observances in an imperfectly organized society which have not fully acquired the character glaw, but which are on the way to become law' (Frederick Bollock)

प्राकृतिक कानून और मानवीय कानून—

इस अध्याय के आरम्भ म हमने कानून शब्द के अनेक अर्थों का उल्लेख किया था और मोटी तौर पर कानून की त्रिविध वर्गीकरण किया था–प्राकृतिक, नैतिक तथा मानवीय (जिनका मनुष्य के बाह्य आचरण से सम्बन्ध होता है)। यहा इन विभिन्न प्रकार के कानूनो के भेदो पर कुछ विशेष प्रकाश डालना उचित होगा।

जिस प्रकार कानून शब्द के अनेक अर्थ होते है उसी प्राकृतिक कानून के भी अनेक अर्थ है। एक अर्थ म तो इससे प्राकृतिक (भौतिक) जगत की घटनाओ मे कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकट करने वाले नियमो का बोध होता है। इस अर्थ म यदि हम इन कानूनो को भौतिक कानून कह तो अनुचित नही होगा। सामाजिक समझौते वालो न मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था मे काम म आने वाले नियमो को प्राकृतिक कानून कहा है। नागरिको की सर्वोच्च एव सर्वतोमुखी उन्नति के लिये जो आदर्श कानून किसी भी राज्य म माने जाने चाहिये उन्हे भी ग्रीन जैसे लेखको ने प्राकृतिक कानून कहा है।¹ इसी प्रकार प्राकृतिक कानून के अन्य अर्थ भी हैं।

भौतिक नियमो के अर्थ म प्राकृतिक कानून और मानवीय कानून म बडा अन्तर है। भौतिक नियमो से यह प्रकट होता है कि भौतिक जगत म घटनाएँ किस प्रकार घटती ह परन्तु मानवीय कानून बतलाते हैं कि मनुष्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिये, वे मनुष्य के आचरण पर नियन्त्रण लगाते हैं। भौतिक नियमो की प्राकृतिक घटनाओ के निरीक्षण द्वारा खोज की जाती है, वे बनाये नही जाते किन्तु मानवीय कानूनो का मनुष्य द्वारा निर्माण होता है। भौतिक नियम सर्वदा सत्य है और उनके अनुसार सदा काम होता रहता है, चाहे मनुष्य जाने या न जाने। किन्तु मनुष्यकृत मानवीय नियमो के विषय म यह बात नही कही जा सकती, कुछ लागू किये जा सकते हैं, कुछ नही और कुछ अनावश्यक प्रमाणित होने पर रद्द कर दिये जाते हैं। यदि कोई घटना भौतिक नियम के प्रतिकूल होती है तो वह घटना गलत नही होती वरन यही समझा जाता है कि उस नियम मे त्रुटि थी और उस त्रुटि को दूर कर सत्य नियम की खोज की जाती है। किन्तु यदि मनुष्य किसी मानवीय कानून के विपरीत आचरण करता है तो कानून गलत नही समझा जाता, उसका आचरण ही कानून विरुद्ध और दण्डनीय समझा जाता है। भौतिक नियम सर्वत्र और सदा स्थिर, निश्चित और एक स होते हैं, उनका भग नहीं हो सकता और उनके विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु मानवीय कानून

देशकाल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न होते हैं और बदलते रहते हैं। उनका विरोध हो सकता है और व भङ्ग भी किय जा सकते हैं।

मानवीय व्यवहार का नियमन करने वाले नियमा के रूप मे प्राकृतिक कानून के अर्थ के सम्बन्ध मे, जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, बडा मत भेद है और उसकी कोई सवमान्य परिभाषा देना सम्भव नही है। समय-समय पर इसक अलग अलग अथ किए गए हैं। प्राकृतिक कानून की कल्पना सबसे पहले यूनानी दार्शनिको ने की थी। उनका विश्वास था कि विश्व का सचालन किसी आधारभूत सिद्धान्त द्वारा हाता है। इस सिद्धान्त को उन्होने प्रकृति का नाम दिया। उसके विचार के अनुसार भौतिक और नैतिक जगत की घटनाएँ कुछ सरल और सामान्य नियमो के अनुसार होती हैं जिन्हें प्राकृतिक नियम कह सकते हैं। यह कल्पना स्टॉइक (Stoic) दार्शनिको के मस्तिष्क मे विकसित हुई। उन्होने बतलाया कि विश्व का सचालन करने वाला सिद्धान्त ईश्वरीय विवेक है और प्राकृतिक नियम उसी ईश्वरीय विवेक की अभिव्यक्ति है। मनुष्य भी विश्व का अङ्ग है, इस कारण उसका भी नियमन यही विवेक करता है। इस प्रकार प्राकृतिक नियम विवेक के नियम के अतिरिक्त कुछ नहीं है और बुद्धि क द्वारा उनका पता लगाया जा सकता है। ईश्वरीय विवेक पर आधारित होन के कारण ये नियम नित्य और सवत्र हैं। समस्त राज्यो के कानून इन्ही नियमो के अनुरूप होने चाहिए।

जब रोम न ग्रीस पर विजय प्राप्त कर ली तो प्राकृतिक नियम का सिद्धान्त रोम की कानून-व्यवस्था मे प्रविष्ट हो गया। पहले रोम में केवल एक प्रकार का कानून था—'जस सिविल' (Jus Civile)—जो केवल रोमन लोगा पर लागू होता था परन्तु बाद मे स्टाइक दार्शनिको के प्रभाव के और कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियो के कारण एक दूसरे प्रकार का कानून 'जस जेन्टियम' (Jus Gentium) का निर्माण हुआ जो रोम के आधीन उन समस्त जातियो के लिए था जिन पर 'जस सिविल' लागू नही हो सकता था। धीरे धीरे यह विश्वास बन गया कि 'जस जेन्टियम' वास्तव मे प्राकृतिक कानून है जो समस्त जातियो पर लागू हो सकता है और 'जस जेन्टियम' का नाम भी 'जस नेचुरल (Jus Naturale) हो गया। बाद मे मध्य-युग के धार्मिक तथा दार्शनिक लेखको ने भी इस कल्पना को अपनाया। इस प्रकार यह कल्पना कानून के क्षेत्र से धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे जा पहुँची और प्राकृतिक कानून एक नैतिक आदर्श बन गया। कई लेखकों ने

उसकी ईश्वरीय नियम से एकरूपता बताई और इस प्रकार यह आवश्यक हो गया कि राजा उसके अनुसार शासन करे तथा प्रजा उनका पालन करे। यदि राजा प्राकृतिक नियमों अर्थात ईश्वरीय नियम का उल्लघन करे तो प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करन के कर्तव्य से मुक्त हो जाती है। इस विचार मे हमे आधुनिक प्रजातन्त्रीय विचारों का पूर्वाभास मिलता है।

आधुनिक युग मे हॉब्स, लॉक, स्पिनोजा, रूसो आदि ने अपने समझौते के सिद्धान्त की नीव प्राकृतिक अवस्था और उसमे काम मे आने वाले प्राकृतिक क़ानून पर रखी परन्तु, जसा हम देख चुके है, इन लोगो की प्राकृतिक क़ानून की कल्पना समान नही थी। आगे चलकर इस कल्पना का प्रयोग व्यक्तिवाद के समथन मे हुआ। स्पेसर ने बतलाया कि प्राकृतिक कानून केवल एक है और वह है मनुष्यो का स्वतन्त्रता का समान अधिकार। इसके आधार पर उसने व्यक्तिवाद का समथन किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृतिक कानून के विषय मे एकमत का बिलकुल अभाव है। प्राकृतिक कानून ही क्या, प्रकृति शब्द के ही अनेक अर्थ किए जाते हैं। ब्राइस ने बतलाया कि रोमन क़ानूनज्ञ प्रकृति शब्द का प्रयोग ६ अर्थों मे करते थे। ऐसी दशा मे प्राकृतिक कानून की कल्पना का कोई व्यावहारिक मूल्य नही रह जाता। हाँ, इतना अवश्य मानना पडेगा कि उसे मानने वाले कई अधिकारी लेखको का उद्देश्य कुछ ऐसे आदर्श नियमो को बनाना रहा है जिस पर व्यावहारिक जीवन मे आचरण हो सके। आज भी हम इस कल्पना को आदर्श कानून के अर्थ मे ग्रहण करते हैं और उसके आधार पर राजकीय नियमो म सुधार होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त इस कल्पना का आधुनिक कानून पर कई प्रकार से प्रभाव पडा है। हमने ऊपर कानून के स्रोतो मे विवेक की चर्चा की है जो स्टॉइक दार्शनिको की कल्पना के अनुसार प्राकृतिक कानून का तत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार मे भी प्राकृतिक कानून की कल्पना विद्यमान है। जूरी द्वारा जो न्याय होता है उसमे भी इस कानून की कल्पना काम करती है क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि कई मनुष्य मिल कर स्वाभाविक न्याय को अधिक अच्छी तरह प्रकट कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त आजकल प्रत्येक सभ्य राज्य मे जीवन और सम्पति के अधिकार सुरक्षित रहते हैं जो प्राकृतिक कानून की धारणा के अनुकूल है।

इस प्रकार यदि हम प्राकृतिक कानून को आदर्श कानून के अर्थ म ग्रहण करें तो भी हमे प्राकृतिक कानून और मानवीय कानून मे बडा अन्तर दिखाई देता है। प्राकृतिक क़ानून आदर्श हैं। उनका किसी ने निर्माण नही

किया, विवेक और तर्क से उनकी केवल कल्पना की जा सकती है। इसके विपरीत मानवीय कानून मनुष्यकृत और सुनिश्चित होते हैं। आदर्श होने के कारण प्राकृतिक कानून सर्वत्र और सदा एक रहते हैं परन्तु मानवीय कानून देश काल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न होते हैं। प्रारम्भिक कानून आदर्श होने के नाते परिपूर्ण और त्रुटिरहित होते हैं परन्तु मानवीय कानून पूर्णता में उनको नहीं पाते, उनमें अनेक त्रुटियाँ रहती हैं जिनका समय-समय पर संशोधन द्वारा निराकरण किया जाता है। सर्वत्र मानवीय कानूनों को यथासम्भव पूर्ण और निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया जाता है और इस प्रकार आदर्श कानून तक पहुँचने की कोशिश की जाती है।

कानून और नैतिकता—

प्रथम भाग में हम राज्य विज्ञान और नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन कर चुके हैं और उसके द्वारा कानून और नैतिक कानून का पारस्परिक सम्बन्ध भी बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है। कानून और नैतिकता के सम्बन्ध का अध्ययन करते समय हम नैतिकता के दो रूपों में भेद करना चाहिये। सिजविक ने आदर्श नैतिकता (Individual Morality) और यथार्थ नैतिकता (Positive Morality) में भेद किया है। आदर्श नैतिकता से तात्पर्य व्यक्ति की नैतिक भावना, उसकी उचितानुचित, भले-बुरे की भावना का है। इस प्रकार वह वैयक्तिक नैतिकता है। यथार्थ नैतिकता से तात्पर्य सामाजिक नैतिकता का है। किसी भी समय समाज में उचितानुचित तथा भले बुरे की जो सामान्य भावना होती है उसे सिजविक ने यथार्थ नैतिकता कहा है। जब हम कानून और नैतिकता की तुलना करते हैं तो वह तुलना कानून और यथार्थ नैतिकता की होती है।

कानून और नैतिकता में बहुत अन्तर है। नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र से होता है। उसका उद्देश्य व्यक्ति की सुप्रवृत्तियों को जाग्रत करना और दुष्प्रवृत्तियों को दबाकर उसके चरित्र की उन्नति करना है। वह उचितानुचित, अच्छे बुरे का भेद बतलाकर व्यक्ति को आदर्श जीवन बिताने के लिये प्रेरित करती है। वह बतलाती है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इसके विपरीत कानून का आशय केवल व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करना है जिससे राज्य में सुव्यवस्था बनी रहे और इस दृष्टि से वह बतलाता है कि व्यक्ति क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता। नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आचरणों से रहता है अर्थात उसका सम्बन्ध मन, वचन, कर्म सभी से है जब

कि कानून का सम्बन्ध व्यक्ति के केवल बाहरी आचरण से है। उदाहरणार्थ, कानून तो यही बताता है कि चोरी नहीं करनी चाहिए और चोरी करने पर वह दण्ड देता है। नैतिकता भी बतलाती है कि चोरी बुरी है परन्तु इसके साथ ही वह यह भी बताती है कि चोरी करने का विचार भी बुरा है। कानून तो उसी समय दण्ड देता है जब कोई काम कानून के विरुद्ध हो, केवल विचार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु नैतिकता बुरे विचार तथा बुरे काम दोनों को बुरा बतलाती है। इतना ही नहीं, कानून बहुत से ऐसे कामों की ओर जो नैतिक दृष्टि से बुरे हैं ध्यान नहीं देता, जैसे कृतघ्न और धोखेबाज मनुष्य का यह जानते हुए भी कि वह कृतघ्न और धोखेबाज है वह तब तक दण्ड नहीं देता जब तक कि उसके इन दुर्गुणों के कारण किसी प्रकार सुव्यवस्था को हानि नहीं पहुँचती। इस प्रकार के नैतिक दोष कानून की दृष्टि में दोष नहीं है। इसके साथ ही वह ऐसे कामों के लिए दण्ड देता है जिनमें नैतिक दृष्टि से कोई दोष नहीं है जैसे सड़क पर दाहिनी ओर चलना या रात को साइकिल पर बिना रोशनी के चढ़ना। सारांश में, कानून का सम्बन्ध व्यक्ति के बाह्य आचरणों से भी उसी सीमा तक है जहाँ तक वे समाज की शान्ति एवं सुव्यवस्था पर प्रभाव डालते हैं, इससे आगे नहीं। कानून निश्चित होते हैं, उन्हें या तो राज्य बनाता है या मान्यता देता है और उनके पीछे राज्य का बल रहता है। उनका उल्लंघन होने पर राज्य दण्ड देता है। किन्तु नैतिक कानून सुनिश्चित नहीं होते। उनके विषय में दो व्यक्तियों में मत भेद हो सकता है और उनका स्रोत व्यक्ति की नैतिकता की भावना में रहता है। उनका पालन व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के आदेश से या लोकमत के भय से करता है।

मेकाइवर का कथन है कि सदाचार अथवा नैतिकता तथा राजनीतिक कानून के क्षेत्र एक नहीं हो सकते। नैतिकता सदा वैयक्तिक होती है और उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण परिस्थिति से होता है जिसका राजनीतिक तथ्य कभी भी एक पक्षमात्र से अधिक नहीं हो सकता।*

किन्तु इतना अन्तर होते हुए भी दोनों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। कानून और नैतिक कानून दोनों का सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से है और चूँकि मनुष्य वही है इस कारण इन दोनों में कुछ समानता होना

---

*The sphere of morality can never therefore be coincident with the sphere of political law Morality is always individual and always in relation to the whole presented situation, of which the political fact is never more than an aspect ' (Mac Iver The Modern state, p 1‾6)

किया, विवेक और तर्क से उनकी केवल कल्पना की जा सकती है। इसके विपरीत मानवीय कानून मनुष्यकृत और सुनिश्चित होते है। आदर्श होने के कारण प्राकृतिक कानून सर्वत्र और सदा एक रहते हैं परन्तु मानवीय कानून देश काल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न होते हैं। प्रारम्भिक कानून आदर्श होने के नाते परिपूर्ण और त्रुटिरहित होते हैं परन्तु मानवीय कानून पूर्णता में उनको नहीं पाते, उनमें अनेक त्रुटियाँ रहती हैं जिनका समय-समय पर संशोधन द्वारा निराकरण किया जाता है। सर्वत्र मानवीय कानूनों को यथासम्भव पूर्ण और निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया जाता है और इस प्रकार आदर्श कानून तक पहुँचने की कोशिश की जाती है।

कानून और नैतिकता—

प्रथम भाग में हम राज्य विज्ञान और नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन कर चुके हैं और उसके द्वारा कानून और नैतिक कानून का पारस्परिक सम्बन्ध भी बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है। कानून और नैतिकता के सम्बन्ध का अध्ययन करते समय हम नैतिकता के दो रूपों में भेद करना चाहिये। सिजविक ने आदर्श नैतिकता (Individual Morality) और यथार्थ नैतिकता (Positive Morality) में भेद किया है। आदर्श नैतिकता से तात्पर्य व्यक्ति की नैतिक भावना, उसकी उचितानुचित, भले-बुरे की भावना का है। इस प्रकार वह वैयक्तिक नैतिकता है। यथार्थ नैतिकता से तात्पर्य सामाजिक नैतिकता का है। किसी भी समय समाज में उचितानुचित तथा भले बुरे की जो सामान्य भावना होती है उसे सिजविक ने यथार्थ नैतिकता कहा है। जब हम कानून और नैतिकता की तुलना करते हैं तो वह तुलना कानून और यथार्थ नैतिकता की होती है।

कानून और नैतिकता में बहुत अन्तर है। नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र से होता है। उसका उद्देश्य व्यक्ति की सुप्रवृत्तियों को जाग्रत करना और दुष्प्रवृत्तियों को दबाकर उसके चरित्र की उन्नति करना है। वह उचितानुचित, अच्छे बुरे का भेद बतलाकर व्यक्ति को आदर्श जीवन बिताने के लिये प्रेरित करती है। वह बतलाती है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इसके विपरीत कानून का आशय केवल व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करना है जिससे राज्य में सुव्यवस्था बनी रहे और इस दृष्टि से वह बतलाता है कि व्यक्ति क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता। नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आचरण से रहता है अर्थात उसका सम्बन्ध मन, वचन, कर्म सभी से है अब

कि कानून का सम्बन्ध व्यक्ति के केवल बाहरी आचरण से है। उदाहरणार्थ, कानून तो यही बताता है कि चोरी नही करनी चाहिये और चोरी करने पर वह दण्ड देता है। नैतिकता भी बतलाती है कि चोरी बुरी है परन्तु इसके साथ ही वह यह भी बताती है कि चोरी करने का विचार भी बुरा है। कानून तो उसी समय दण्ड देता है जब कोई काम कानून के विरुद्ध हो, केवल विचार से उसका कोई सम्बन्ध नही, परन्तु नैतिकता बुरे विचार तथा बुरे काम दोनो को बुरा बतलाती है। इतना ही नही, कानून बहुत से ऐसे कामो की ओर जो नैतिक दृष्टि से बुरे है ध्यान नही देता, जैसे कृतघ्न और धोखेबाज मनुष्य को यह जानते हुए भी कि वह कृतघ्न और धोखेबाज है वह तब तक दण्ड नही देता जब तक कि उसके इन दुर्गुणो के कारण किसी प्रकार सुव्यवस्था को हानि नही पहुँचती। इस प्रकार के नैतिक दोष कानून की दृष्टि मे दोष नही है। इसके साथ ही वह ऐसे कामो के लिये दण्ड देता है जिनमे नैतिक दृष्टि से कोई दोष नही है जैसे सड़क पर दाहिनी ओर चलना या रात को साइकिल पर बिना रोशनी के चढ़ना। साराश मे, कानून का सम्बन्ध व्यक्ति के बाह्य आचरणो से भी उसी सीमा तक है जहा तक वे समाज की शान्ति एव सुव्यवस्था पर प्रभाव डालते हैं, इससे आगे नही। कानून निश्चित होते हैं, उन्हे या तो राज्य बनाता है या मान्यता देता है और उनके पीछे राज्य का बल रहता है। उनका उल्लघन होने पर राज्य दण्ड देता है। किन्तु नैतिक कानून सुनिश्चित नही होते। उनके विषय मे दो व्यक्तियो मे मत भेद हो सकता है और उनका स्रोत व्यक्ति की नैतिकता की भावना मे रहता है। उनका पालन व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के आदेश से या लोकमत के भय से करता है।

मेकाइवर का कथन है कि सदाचार अथवा नैतिकता तथा राजनीतिक क़ानून के क्षेत्र एक नही हो सकते। नैतिकता सदा वैयक्तिक होती है और उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण परिस्थिति से होता है जिनका राजनीतिक तथ्य कभी भी एक पक्षमात्र से अधिक नही हो सकता।*

किन्तु इतना अन्तर होते हुए भी दोनो मे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध भी है। क़ानून और नैतिक कानून दोनो का सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से है और चूँकि मनुष्य वही है इस कारण इन दोनो मे कुछ समानता होना

*The sphere of morality can never therefore be coincident with the sphere of political law Morality is always individual and always in relation to the whole presented situation, of which the political fact is never more than an aspect' (Mac Iver The Modern state, p 156)

क्रिया, विवेक और तर्क से उनकी केवल कल्पना की जा सकती है। इसके विपरीत मानवीय कानून मनुष्यकृत और सुनिश्चित होते हैं। आदर्श होने के कारण प्राकृतिक कानून सर्वत्र और सदा एक रहते हैं परन्तु मानवीय कानून देश काल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न होते हैं। प्रारम्भिक कानून आदर्श होने के नाते परिपूर्ण और त्रुटिरहित होते हैं परन्तु मानवीय कानून पूर्णता में उनको नहीं पाते, उनमें अनेक त्रुटियाँ रहती हैं जिनका समय-समय पर संशोधन द्वारा निराकरण किया जाता है। सर्वत्र मानवीय कानूनों को यथासम्भव पूर्ण और निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया जाता है और इस प्रकार आदर्श कानून तक पहुँचने की कोशिश की जाती है।

कानून और नैतिकता—

प्रथम भाग में हम राज्य विज्ञान और नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन कर चुके हैं और उसके द्वारा कानून और नैतिक कानून का पारस्परिक सम्बन्ध भी बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है। कानून और नैतिकता के सम्बन्ध का अध्ययन करते समय हम नैतिकता के दो रूपों में भेद करना चाहिये। सिजविक ने आदर्श नैतिकता (Individual Morality) और यथार्थ नैतिकता (Positive Morality) में भेद किया है। आदर्श नैतिकता से तात्पर्य व्यक्ति की नैतिक भावना, उसकी उचितानुचित, भले-बुरे की भावना का है। इस प्रकार वह वैयक्तिक नैतिकता है। यथार्थ नैतिकता से तात्पर्य सामाजिक नैतिकता का है। किसी भी समय समाज में उचितानुचित तथा भले बुरे की जो सामान्य भावना होती है उसे सिजविक ने यथार्थ नैतिकता कहा है। जब हम कानून और नैतिकता की तुलना करते हैं तो वह तुलना कानून और यथार्थ नैतिकता की होती है।

कानून और नैतिकता में बहुत अन्तर है। नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र से होता है। उसका उद्देश्य व्यक्ति की सुप्रवृत्तियों को जाग्रत करना और दुष्प्रवृत्तियों को दबाकर उसके चरित्र की उन्नति करना है। वह उचितानुचित, अच्छे बुरे का भेद बतलाकर व्यक्ति को आदर्श जीवन बिताने के लिये प्रेरित करती है। वह बतलाती है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इसके विपरीत कानून का आशय केवल व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करना है जिससे राज्य में सुव्यवस्था बनी रहे और इस दृष्टि से वह बतलाता है कि व्यक्ति क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता। नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आचरणों से रहता है अर्थात उसका सम्बन्ध मन, वचन, कर्म सभी से है जब

का राज्य स्वीकार कर लेता है या बनाता है वे कानून की कोटि मे आते है। इस तरह एक प्रकार से, जैसा कि ऐतिहासिक कानून विशारदो ने कहा है, कानून राज्य से भी पहले की वस्तु है। वास्तव मे नियम सामाजिक जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ कई लोग मिल कर एक साथ रहते है वहा नियमो का होना अनिवार्य है। नियमो द्वारा मनुष्य की स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण लगता है। यदि नियम न हो तो प्रत्येक मनुष्य अपनी मनमानी करने लगेगा और ऐसी अवस्था मे सामाजिक जीवन सकट मे पड जायगा। जो शक्तिशाली होगे वे अपने बल से निबलो का जीना हराम कर देंगे। इसीलिये जहाँ कई लोग मिलकर एक साथ रहते है वहाँ नियम अपने आप ही बन जाते है। प्रारम्भिक समाज मे जब जीवन सरल था तब नियम थोडे ही थे परन्तु जब जीवन मे जटिलता आने लगी तो नियमो की सख्या बढने लगी और सामाजिक सगठन भी बढने लगा। धीरे धीरे राज्य का सगठन हुआ और जो नियम सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन के लिये बहुत ही आवश्यक थे उनका पालन कराने का भार राज्य ने ले लिया। इस प्रकार वे कानून बन गये। उनका प्राथमिक उद्देश्य था समाज मे शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मनुष्य की अनियन्त्रित स्वतन्त्रता पर रुकावट डाल कर वैयक्तिक शक्ति के प्रयोग के स्थान पर पारस्परिक सहयोग की भावना को प्रोत्साहन देना लोगो के अधिकारो एव कर्तव्यो की स्पष्ट व्याख्या करना और उनके पारस्परिक सम्बन्धो को निश्चित करना आदि कामो की आवश्यकता होती है। इस प्रकार समाज मे शान्ति एव सुव्यवस्था कायम होती है और कानून का प्राथमिक उद्देश्य पूरा होता है। ग्रीन ने कानून की जो परिभाषा की है उसमे उसके उद्देश्य का स्पष्ट उल्लेख है। उसके अनुसार अधिकारो और कर्तव्यो की जिस व्यवस्था पर राज्य अमल करवाता है उसी का नाम कानून है। परन्तु कानून का काम इतने ही मे पूरा नही हो जाता। हम ऊपर लिख चुके हैं कि कानून समाज को अपने नैतिक आदर्श की ओर अग्रसर होने मे सहायता देता है। समाज का नैतिक आदर्श है व्यक्ति का अधिकतम नैतिक विकास और उसके द्वारा समाज की प्रगति। अधिकारो तथा कर्तव्यो की व्यवस्था से राज्य मे सुव्यवस्था तो कायम हो सकती है परन्तु उससे व्यक्ति के नैतिक विकास मे सहायता भी मिलेगी इसकी गारण्टी नही दी जा सकती। अधिकारो और कर्तव्यो की व्यवस्था राज्य के उद्देश्य पर निर्भर रहती है। लास्की का कथन है कि कानून राज्य के उस लक्ष्य की पूर्ति करते हैं

स्वाभाविक है। दोनों की उत्पत्ति सामाजिक जीवन के प्रारम्भिक युग में मनुष्य की आदतों और उसके अनुभवों से हुई, जब कि नैतिक और राजनैतिक विचारों में कोई भेद नहीं था। प्राचीन काल में दोनों एक ही थे। किन्तु जब राज्य ने एक स्पष्ट संस्था रूप धारण कर लिया और राजकीय कानून नैतिक नियमों से पृथक हो गये तो भी दोनों का सम्बन्ध बना रहा। समाज में जिन नैतिक विचारों का प्राधान्य होता है उनका समावेश राज्य के कानूनों में धीरे धीरे हो जाता है तथा जो कानून समाज की नैतिक भावना के प्रतिकूल होते हैं उन पर अमल नहीं हो पाता और उन्हें रद्द करना पड़ता है। जो कानून समाज पर ऐसे नैतिक विचार लादना चाहता है जिनके लिये वह तैयार नहीं उन पर भी अमल नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में मद्य निषेध का उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार नैतिकता सदा कानून पर प्रभाव डालती रहती है। इसके साथ ही किसी अंश तक कानून भी समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक देश में समाज नैतिक आदर्श होता है और वह कानून की सहायता से उस आदर्श तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। किसी समाज का नैतिक आदर्श कैसा है यह उसके कानून को देखकर मालूम किया जा सकता है। कानून समाज की नैतिकता का दर्पण है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यद्यपि दोनों प्रकार के कानूनों में घनिष्ठ संबंध है और कानून नैतिकता का सहायक भी होता है तथापि सभी नैतिक कर्तव्य कानूनी कर्तव्य नहीं बन सकते। मेकाइवर का कथन है कि समस्त नैतिक कर्तव्यों को कानूनी कर्तव्य बना देना नैतिकता को नष्ट कर देना है।† व्यक्ति कानूनी कर्तव्य का पालन तो प्रायः दण्डभय से करता है किन्तु वह नैतिक कर्तव्य का पालन स्वेच्छा से करता है। जो कार्य दण्डभय से किया जाय वह ठीक होने पर भी नैतिक नहीं जा सकता।

कानून का उद्देश्य—

हम अभी कानून और नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए बतला आये हैं कि कानून समाज को नैतिक आदर्श की ओर बढ़ाने में सहायक होते हैं। इससे हमें कानून के उद्देश्य का आभास मिलता है। यहाँ हम इस विषय पर विस्तार से विचार करेंगे। जैसा हम बतला चुके हैं कानून के बाह्य आचरण के नियम हैं। ये नियम अनेक प्रकार के हैं परन्तु जिन नियमों

---

† 'To turn all moral obligations into legal obligations would be to destroy morality' (Mac Iver The Modern State, p 159)

(४) व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति।* ये प्रयोजन वही हैं जिनका हमने अभी उल्लेख किया है।

अच्छे और बुरे कानून—

राज्य में सभी कानूनों का समान रूप से पालन नहीं होता। किन्हीं कानूनों का पालन लोग अपनी इच्छा से और सरलता से करते हैं, किन्हीं का पालन दण्ड के भय से होता है और कई कानून ऐसे होते हैं जिनका लोग दण्ड का भय होते हुए भी विरोध करते हैं। इस सम्बन्ध में हम अच्छे और बुरे कानून के भेद पर कुछ प्रकाश डालेंगे। कानून विशारद कानून के सम्बन्ध में अच्छे-बुरे के भेद को निरर्थक समझते हैं। उनका मत है कि अच्छा और बुरा यह नैतिक भेद है, कानून का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं, वे तो अपने स्वरूप में अनैतिक होते हैं। वे कानून इस कारण नहीं हैं कि उनका कोई नैतिक उद्देश्य है वरन् इस कारण हैं कि वे प्रभु के आदेश हैं जिनका पालन करना आवश्यक है। उन्हें कानून का स्वरूप इसी ज़रिये से मिलता है, न कि उनके उद्देश्य या आशय से, सभी कानून प्रभु के आदेश हैं, इस कारण सभी समान रूप से माननीय हैं। परन्तु यह मत मान्य नहीं हो सकता। कानून का केवल रूप (Form) ही नहीं होता, बिना आशय और उद्देश्य के कानून कानून नहीं हो सकता। कानून बगैर उद्देश्य के नहीं हो सकते और वह उद्देश्य है सार्वजनिक कल्याण। कानून के अच्छे-बुरे की पहिचान इसी कसौटी पर होनी चाहिये। जो क़ानून इस उद्देश्य की पूर्ति करने में सहायक होता है वह अच्छा है और जो बाधक है वह बुरा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि कानून निष्पक्ष हो और समानता के सिद्धान्त का घातक न हो। ऐसा न हो कि किसी एक वर्ग को उसके उचित अधिकारों से भी अधिक प्राप्त हो सकें और दूसरे वर्ग के न्यायोचित अधिकार भी छिन जायें। उसे समाज की नैतिक भावना के अनुकूल होना चाहिये। बेन्थम ने अच्छे कानून के निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं *(१) स्थायित्व—कानून जल्दी जल्दी नहीं बदलना चाहिये। इससे जनता को अड़*चन होती है और उनका पालन करने का अभ्यास नहीं हो पाता। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होना चाहिये कि क़ानून आवश्यकता पड़ने पर भी न बदला जाय और स्थितिपालक बन जाय। यदि ऐसा हुआ तो वह प्रगति में बाधक हो जायगा। (२) व्यापकता—क़ानून विशेष रूप से समस्त जनता के लिये समान

* R Pound An Introduction to the Philosophy of Law, pp 72-89 quoted in I Ahmad The First Principles of Politics p 192

जो किसी भी समय राज्य में वर्तमान वर्ग-सम्बन्ध (Class relations) द्वारा निर्धारित होता है। इस तरह कानून का उद्देश्य समाज के वर्तमान वर्ग सम्बन्धों को कायम रखना होता है। 'सामन्ती राज्य में राज्य का उद्देश्य वही होता है जो भूमिपतियों का होता है और कानून उसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। पूंजीवादी राज्य (जैसे इंगलैण्ड) में कानून के सार का निर्धारण पूँजीपतियों द्वारा होता है। समाजवादी राज्य (जैसे रूस) में, जहाँ उत्पादन के साधनों के सामान्य स्वाम्य (Common Ownership) के कारण एक वर्ग के हित समस्त समाज के हितों के अधीन हो गये है, कानून का सार इसी तथ्य के द्वारा निर्धारित होता है।'* यदि वर्तमान राज्यों के कानूनों पर दृष्टि डाली जाय तो लॉस्की के कथन की सत्यता प्रमाणित हो जायगी। किसी भी देश में राजनीतिक सत्ता उसी वर्ग के हाथ में होती है जिसके हाथ में आर्थिक सत्ता होती है। फलतः राज्य के कानून भी उसी के हित में होते हैं और ऐसे समाज में व्यक्ति का पूर्ण विकास सम्भव नहीं होता। इसलिये व्यक्ति की उन्नति के मार्ग में बाधा डालनेवाली जितनी बुराइयाँ है (जैसे अज्ञान, आर्थिक सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में असमानता आदि) उन्हें यथाशक्ति दूर करना और व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों को विकसित करने में सहायता देने के लिये उसकी बाहरी आवश्यकताओं की पूर्ति करना कानून का दूसरा और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हो जाता है। रॉसको पाउण्ड ने कानून के चार प्रयोजन बतलाये हैं—(१) शान्ति-स्थापन (२) सभी व्यक्तियों के लिये अवसर की समानता सुलभ करना, (३) व्यक्ति के विकास में उपस्थित बाधाओं का निराकरण और

---

* Law in a feudal state is made as a law because it is useful to the owners of the land, the reason it embodies is their reason the general end of society it seeks to fulfil is their conception of what that general end should be the canons of behaviour it will seek to enforce will derive from their conception of how demand may best be maximised In a capitalist society like Great Britain for instance the substance of law will similarly be predominently determined by the owners of capital In a socialist society like Soviet Russia the substance of law will be determined by the fact that the common ownership of the means of production subordinates the interest of a class to the interest of the society as a whole' (Laski Grammar of Politics Introductory chapter, pp vii-viii)

(४) व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति।* ये प्रयोजन वही हैं जिनका हमने अभी उल्लेख किया है।

अच्छे और बुरे कानून—

राज्य में सभी कानूनों का समान रूप से पालन नहीं होता। किन्हीं कानूनों का पालन लोग अपनी इच्छा से और सरलता से करते हैं, किन्हीं का पालन दण्ड के भय से होता है और कई कानून ऐसे होते हैं जिनका लोग दण्ड का भय होते हुए भी विरोध करते हैं। इस सम्बन्ध में हम अच्छे और बुरे कानून के भेद पर कुछ प्रकाश डालेंगे। कानून विशारद कानून के सम्बन्ध में अच्छे-बुरे के भेद को निरर्थक समझते हैं। उनका मत है कि अच्छा और बुरा यह नैतिक भेद है, कानून का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं, वे तो अपने स्वरूप में अनैतिक होते हैं। वे कानून इस कारण नहीं हैं कि उनका कोई नैतिक उद्देश्य है वरन् इस कारण हैं कि वे प्रभु के आदेश हैं जिनका पालन करना आवश्यक है। उन्हें कानून का स्वरूप इसी जरिये से मिलता है, न कि उनके उद्देश्य या आशय से, सभी कानून प्रभु के आदेश हैं, इस कारण सभी समान रूप से माननीय हैं। परन्तु यह मत मान्य नहीं हो सकता। क़ानून का केवल रूप (Form) ही नहीं होता, बिना आशय और उद्देश्य के क़ानून कानून नहीं हो सकता। कानून का एक उद्देश्य के नहीं हो सकने और वह उद्देश्य है सार्वजनिक कल्याण। कानून के अच्छे-बुरे की पहिचान इसी कसौटी पर होनी चाहिये। जो कानून इस उद्देश्य की पूर्ति करने में सहायक होता है वह अच्छा है और जो बाधक है वह बुरा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि कानून निष्पक्ष हो और समानता के सिद्धान्त का घातक न हो। ऐसा न हो कि किसी एक वर्ग को उसके उचित अधिकारों से भी अधिक प्राप्त हो सके और दूसरे वर्ग के न्यायोचित अधिकार भी छिन जाय। उसे समाज की नैतिक भावना के अनुकूल होना चाहिये। संक्षेप में अच्छे कानून के निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं (१) स्थायित्व—कानून जल्दी जल्दी नहीं बदलना चाहिये। इससे जनता को कष्ट होता है और उनका पालन करने का अभ्यास नहीं हो पाता। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होना चाहिये कि क़ानून आवश्यकता पड़ने पर भी न बदला जाय और स्थितिपालक बन जाय। यदि ऐसा हुआ तो वह प्रगति में बाधक हो जायगा। (२) व्यापकता—क़ानून निष्पक्ष रूप से समस्त जनता के लिए समान

* R. Pound : An Introduction to the Philosophy of Law pp 72-89 quoted in I. Ahmad : The First Principles of Politics p. 19.

होना चाहिये। (३) सरलता—जिससे लोगों को उसे समझने में कठिनाई न हो। (४) पालन में सरलता—कानून ऐसा होना चाहिये जिसका लोग सरलता से पालन कर सकें। यदि उसका पालन करना कठिन होगा तो उसके भंग किये जाने की सम्भावना रहेगी। यद्यपि ये अच्छे कानून के उत्तम लक्षण बताए हैं व ठीक हैं परन्तु उत्तम कानून की सच्ची कसौटी, उसके उद्देश्य—सार्वजनिक हित—की चर्चा नहीं की। किसी कानून में उपरोक्त बतलाए हुए सब लक्षण हो सकते हैं परन्तु यदि उससे सार्वजनिक हित की सिद्धि नहीं होती तो वह कानून अच्छा नहीं कहा जा सकता।

आजकल प्रायः सभी सभ्य देशों में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा कानून बनाने की व्यवस्था है जिससे अवांछित कानून बनने का डर नहीं रहता फिर भी ऐसे कानून बन जाने की सम्भावना रहती है जो हानिकर हों। ऐसे कानून का विरोध करना और उसे रद्द करवाना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। परन्तु इसके लिये प्रयत्न करने से पहले यह निश्चय करना आवश्यक है कि कानून वास्तव में बुरा है या नहीं। यदि यह कानून किसी की व्यक्तिगत हानि करता है तो वह बुरा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसकी कसौटी तो सार्वजनिक हित है। हाँ, यदि कोई कानून किसी पूरे वर्ग के विरुद्ध हो तो वह अवश्य बुरा है। किसी कानून को बुरा बतलाने के पहले यह भी देख लेना चाहिये कि जनता में से अधिकांश समझदार व्यक्ति भी उसे बुरा समझते हैं या नहीं। जब यह निश्चय हो जाय कि कोई कानून वास्तव में बुरा है और समझदार व्यक्ति उसे बुरा समझते हैं तो उसे रद्द कराने के लिये नागरिक का कर्तव्य है कि जनता का ध्यान उसकी बुराइयों की ओर आकर्षित करे, अखबारों में लेख लिखें, सभाओं में भाषण दें, प्रदर्शन करें तथा सरकार के पास आवेदन-पत्र भेजें। इस आन्दोलन का परिणाम यह होगा कि सरकार को उस कानून के विरुद्ध जनमत का पता चल जायगा और वह उस पर पुनर्विचार करने को मजबूर होगी। यदि देश में जनता की प्रतिनिधि संस्थाएँ हैं तो उनमें प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्ताव प्रस्तुत किये जायें और चुनाव के समय उसी प्रश्न को सामने रखें। यदि देश में पूर्ण जनतन्त्र हो तो इस प्रकार के वैध आन्दोलन द्वारा उस कानून का रद्द करवाने में सफलता मिलेगी। परन्तु फिर भी यदि वह रद्द नहीं होता तो उस अन्यायपूर्ण कानून का विरोध आवश्यक हो जाता है। ग्रीन का मत है कि सभी वैध उपायों के असफल हो जाने पर विरोध उचित होगा, अनिवार्य नहीं क्योंकि सरकार का विरोध करने से राज्य की शान्ति और सुव्यवस्था में बाधा पहुँचती है। सार्वजनिक शान्ति और सुव्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। एक या दो अन्यायपूर्ण

बातों का मूल्य उसके सामने कुछ नहीं है। राज्य की अवहेलना करना सार्वजनिक शान्ति को खतरे में डाल कर समस्त सामाजिक जीवन को अव्यवस्थित कर देना है और एक या दो आवश्यक अधिकारों की प्राप्ति के लिये अन्य समस्त अधिकारों की हानि का खतरा उठाना है।* लास्की का मत है कि यदि लोकमत मेरे पक्ष में न भी हो और मैं अन्याय से सहमत न हो सकूँ तो भी विरोध करना मेरा कर्तव्य है।† परन्तु विरोध करते समय उसके लिये एक अच्छे नागरिक की तरह दण्ड स्वीकार करने के लिये तैयार रहना चाहिये। दण्ड से दूर भागना कायरता ही नहीं, राज्य के प्रति, जिसने हमारे साथ इतनी भलाई की है, कृतघ्नता भी है। सुकरात ने सरकार का विरोध किया और [illegible] स्वीकार किया। महात्मा गांधी का भी यही मत था। उन्होंने [illegible] असहयोग द्वारा जो उपाय अन्यायपूर्ण कानून के विरोध [illegible] वह अद्वितीय है। उसमें सफलता मिलती है और साथ ही [illegible] डर नहीं रहता। परन्तु इस उपाय को बहुत सोच विचार [illegible] होने पर ही काम में लाना चाहिये। कानून का विरोध [illegible] साधारण नहीं है। यदि बारम्बार इस अधिकार [illegible] जनता में कानून के लिये जो आदर भावना होनी चाहिये [illegible] और उसके साथ राज्य की व्यवस्था में भी [illegible] अस्तित्व के लिये खतरनाक होगी।

अन्यायपूर्ण कानून का विरोध तो [illegible] देख चुके हैं, अच्छे कानूनों पर अमल करना [illegible] में सहयोग देना नागरिक का कर्तव्य है। [illegible] रखने और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी [illegible] कानूनों पर अमल करना आवश्यक [illegible] तोड़ते हैं उन पर रुकावट लगाना [illegible] उल्लंघन करनेवालों को दण्ड देने [illegible] देने का अधिकार व्यक्ति को [illegible] प्रकार कानून बाधक नहीं [illegible] नागरिकों को एक दूसरे [illegible]

---

* Green [illegible] tion pp 115-12[illegible]

† Laski [illegible]

दण्ड-सिद्धान्त—

विचारकों ने दण्ड की प्रकृति एवं उसके औचित्य के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्तों का निरूपण किया है—(१) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive theory), (२) निरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent theory) और (३) संशोधनात्मक सिद्धान्त (Reformative theory)।

प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त सबसे पुरातन सिद्धान्त है। इसके अनुसार दण्ड व्यक्ति के प्रति किये गये अन्याय का प्रतिशोध अथवा बदला है। सामण्ड का कथन है कि न्याय का प्रशासन अर्थात् दण्डनीति प्राचीन समाज में प्रचलित निजी प्रतिहिंसा और आत्म सहायता का आधुनिक एवं सभ्य स्वरूप है। आरम्भ में पीड़ित व्यक्ति स्वयं ही अथवा अपने मित्रों की सहायता से अपने प्रति किये हुए अन्याय का बदला ले लिया करता था और बदला प्रायः अत्यन्त क्रूर हुआ करता था। कभी-कभी अपराधी के साथ निर्दोष व्यक्ति भी सताये जाते थे क्योंकि उन दिनों किसी भी अपराध के लिये दोषी व्यक्ति के साथ परिवार या समस्त कबीला ही अपराध के लिये उत्तरदायी समझा जाता था। धीरे-धीरे मनुष्य ने उन्नति की और उसमें न्याय की भावना विकसित होने लगी तथा प्रतिहिंसा का स्थान प्रतिकार ने ले लिया। अब प्रत्येक अपराध के बदले उसके अनुपात में ही दण्ड देकर बदला लिया जाने लगा और 'आँख के बदले आँख', 'दाँत के बदले दाँत' का सिद्धान्त बन गया। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि राज्य द्वारा दिया जानेवाला दण्ड इसी निजी प्रतिशोध का परिष्कृत रूप है। वह व्यक्ति के प्रति किये गये अन्याय का बदला है।

परन्तु इस अर्थ में यह सिद्धान्त उचित नहीं है और न इसका नामकरण ही ठीक है, क्योंकि इससे यह प्रकट होता है कि राज्य व्यक्ति से उसी प्रकार बदला लेना चाहता है जिस प्रकार हानि भुगतनेवाला व्यक्ति बदला लेने की इच्छा रखता है। यह विचार सर्वथा गलत है। राज्य द्वारा दण्ड का सार तो व्यक्तिगत प्रतिशोध का प्रत्याकरण है। राज्य व्यक्ति को प्रतिशोध के अधिकार से वंचित करके स्वयं उसके स्थान पर अपने दण्ड का आरोप करता है। दण्ड अपराधी के समाज विरोधी कार्य का स्वाभाविक परिणाम है। जब कोई व्यक्ति अपराध करता है तो वह अपने अपराध के द्वारा समाज में प्रतिष्ठित नैतिक व्यवस्था की सत्ता एवं प्रधानता को भंग करता है और जब दण्ड देकर उसकी पुनः स्थापना एवं रक्षा की जाती है। इस अर्थ में हम दण्ड को प्रतिशोधात्मक

सह सकते हैं। जब कोई भी व्यक्ति अपराध करता है तो समाज में उसके प्रति बड़ा क्षोभ एवं क्रोध उत्पन्न होता है और जब उसे दण्डित किया जाता है तो वह क्रोध शान्त हो जाता है। समाज को यह सोच कर सन्तोष हो जाता है कि अपराधी को उसके अपराध का उचित फल मिल गया। इस प्रकार दण्ड अपराध के लिये निषेधात्मक पुरस्कार है। अपराधी इसका पात्र होता है। दण्ड के द्वारा व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु से वंचित नहीं होता जो उसके पास होती है। वह तो उसे उसकी स्वयं वस्तु ही देता है। काण्ट और हेगेल का यही सिद्धान्त है।

निरोधात्मक सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि दण्ड कानून के भग्न गौरव की पुनः प्रतिष्ठा के लिये नहीं वरन् अपराधी को भविष्य में अपराध करने से रोकने के लिये दिया जाता है वह अपराध के साथ दण्ड भय का सम्बन्ध स्थापित करके अपराधी को अपराध करने से रोकता है। अपराधी के प्रति एक न्यायाधीश के इस कथन से कि तुम्हें भेड़ चुराने के लिये दण्ड नहीं दिया गया है वरन् इसलिये कि भविष्य में भेड़ें न चुराई जा सकें, यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। यह सिद्धान्त अपराधी तथा दूसरों पर दण्ड के प्रभाव का विचार करता है। सामण्ड ने इस एक ही सिद्धान्त को दो सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया है। जब हम दण्ड के प्रभाव पर केवल अपराधी के सम्बन्ध में ही विचार करते हैं तो हम सामण्ड के अनुसार निरोधात्मक (Preventive) सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं और जब उसके प्रभाव का समाज के सम्बन्ध में विचार करते हैं तथा कहते हैं कि अपराधी को दण्ड मिलने से उसी प्रकार की अपराधी मनोवृत्तिवाले सभी व्यक्तियों के हृदय में भय बैठ जाता है और उन पर रोक लगती है तो वही सिद्धान्त डेटरेण्ट (Deterrent theory) सिद्धान्त कहलाता है।

अब तक यह सिद्धान्त व्यापक रूप से प्रचलित था और इसमें सत्यांश भी है। सामाजिक जीवन के लिये यह आवश्यक है कि लोगों की अपराध की ओर प्रवृत्ति न हो। भय के कारण लोग प्रायः अपराध से बच जाते हैं। परन्तु इस सिद्धान्त में दोष भी है। प्रथम तो इस बात की सम्भावना है कि निरोधात्मक दण्ड कठोर होगा और अपराधी पर कठोर दण्ड की मानसिक प्रतिक्रिया हानिकर हो सकती है तथा उसके फलस्वरूप वह सुधरने के स्थान पर पक्का अपराधी बन सकता है। यह भी हम देखते हैं कि निरोधात्मक दण्ड अपराध रोकने में उतना प्रभावकारी नहीं होता जितना समझा जाता है। हत्या के लिये

यह सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्था में दण्ड को अपराध की नैतिक मात्रा के अनुसार नियत करना पड़ेगा परन्तु अपराध की नैतिक मात्रा को मालूम करना अत्यन्त कठिन है। यदि अपराधी को भविष्य में सुधारने की दृष्टि से दण्ड दिया जाता है तो इससे केवल दण्ड का निरोधात्मक प्रभाव ही समाप्त नहीं हो जायगा, वरन् इससे अपराधी स्वयं अपनी इच्छा का सुधार करने की संभावना, बल्कि या कहिये अपने मौलिक कर्तव्य, से वंचित हो जायगा।*

इन आपत्तियों के होते हुए भी वर्तमान काल में यही सिद्धान्त प्रचलित है। इसमें व्यक्ति के नैतिक चरित्र को प्रमुखता दी गई है। यह सिद्धान्त अपराधों के कारण खोज कर तथा उन्हें मिटा कर अपराधों का निवारण करना चाहता है और इस प्रकार समाज में मानव स्वभाव की बुरी प्रवृत्तियों के लिये क्षेत्र में कमी करके व्यक्ति तथा समाज दोनों के जीवन को अच्छा बनाना चाहता है।

हमने ऊपर तीनों सिद्धान्तों के गुण-दोषों का विवेचन किया है। वास्तव में दण्ड-नीति के पीछे इन तीनों सिद्धान्तों की भावनाएँ काम करती हैं। अपराधी को दण्ड मिलने से समाज की प्रतिकार की इच्छा सन्तुष्ट होती है, स्वयं अपराधी तथा समाज के अन्य व्यक्ति दण्ड-भय से भविष्य में अपराध करने से बचते हैं और उनका सुधार भी होता है। इस प्रकार दण्ड का उचित सिद्धान्त वही है जिसमें इन तीनों सिद्धान्तों का सम्मिश्रण हो।

बार्कर का मत है दण्ड का प्राथमिक और आवश्यक प्रयोजन निरोध है, परन्तु यदि हम स्वयं अपराधी के सम्बन्ध पर विचार करें तो दण्ड संशोधनात्मक भी होता है परन्तु इस अर्थ में कि उसका अभिप्राय अपराधी के मस्तिष्क में जिस क़ानून का उसने भंग किया है उसको और उसके साथ समस्त कानून व्यवस्था को पुनर्जीवित करना है। इसका प्रभाव अन्य लोगों पर भी पड़ता है और इस प्रकार दण्ड केवल अपराधी के लिये ही संशोधनात्मक नहीं है, अन्य लोगों के लिये भी वह संशोधनात्मक होता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि यह सुधार निरोध का फल है। दण्ड का प्राथमिक अभिप्राय अपराधी के चरित्र का पुनर्निर्माण नहीं है, यह तो स्वयं अपराधी का काम है। अन्त में, एक अर्थ में दण्ड प्रतिशोधात्मक भी होता है। प्रतिशोध करनेवाला वह व्यक्ति नहीं जिसकी क्षति हुई है, अथवा व्यक्तियों के रूप में समाज भी नहीं होता वरन् वह व्यवस्था प्रतिशोध करती है जिसका भंग हुआ है। परन्तु चूँकि वह व्यवस्था समाज के विचार में निवास करती है, इस कारण हम कह सकते हैं कि समाज

* Barker Political Thought in England pp 37-38

प्राय मृत्यु दण्ड दिया जाता है पर उससे हत्याएँ कम नही होती। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त मे एक और दोष यह है कि इसमे व्यक्ति दूसरो के सुधार का साधन समझा जाता है। व्यक्ति को इसलिये दण्ड दिया जाता है कि समाज के अन्य व्यक्ति अपराधी प्रवृत्ति से दूर रहे। यह अनुचित है। व्यक्ति स्वय साध्य है, वह दूसरो के सुधार का साधन नही बनाया जा सकता।

सशोधनात्मक सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त आधुनिक है और इस युग की लोक कल्याणकारी प्रवृत्तियो के अनुकूल है। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी के चरित्र म ऐसा सुधार करना है जिससे वह राज्य का एक योग्य नागरिक बन कर अपना जीवन अधिक अच्छी तरह व्यतीत कर सके। इस सिद्धात के समथक यह नही मानते कि अपराधी स्वभाव से बुरा होने के कारण अपराध करता है। उनके अनुसार अपराध उन दूषित परिस्थितियो का फल है जिनमे समाज अपने सदस्यो को रहने के लिये विवश करता है। वे कहते है कि अपराध की प्रवृत्ति एक रोग है जिसके लिये उसकी चिकित्सा होनी चाहिये, उसे दण्ड नही मिलना चाहिये। इस सिद्धात के अनुसार जेलो के स्थान पर मानसिक चिकित्सा-गृह यथा सुधार गृह होने चाहिये।

इस सिद्धात की मूल धारणा कि मनुष्य स्वभाव से अपराधी नही होता, समाज की दूषित परिस्थितिया उसे अपराधी बनाती है सत्याश म सत्य नही है। सामाजिक परिस्थितियो के कारण मनुष्य प्राय अपराध करते हैं परन्तु अपराधो का यही एकमात्र कारण नही है। अनेक अपराधी ऐसे होते हैं जिनकी सहज प्रवृत्ति ही अपराधी होती है। पक्के अपराधियो का यही हाल होता है। हम यह भी देखते हैं कि बडे बडे धनाढ्य व्यापारी एव उद्योगपति, जिन्हे किसी प्रकार की कोई कमी नही होती, अनेक प्रकार के अपराध करते है, यहाँ तक कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये हत्याएँ तक करवा देते हैं। यह सिद्धात बालको तथा प्रथम बार अपराध करनेवालो के लिये तो ठीक है परन्तु पक्के अपराधियों पर लागू नही होता।

इसके अतिरिक्त दण्ड का प्रयोग वास्तविक सुधार के लिए नही किया जा सकता। वास्तविक सुधार नैतिक होता है और उसका सम्बन्ध व्यक्ति के सदसद् विवेक अथवा नैतिक इच्छा से होता है। नैतिक इच्छा दण्ड द्वारा ठीक नही की जा सकती। बार्कर का कथन है कि नैतिक सुधार की दृष्टि से दण्ड का अर्थ यह है कि अपराधी के नाते अपराध का विचार कर उसे दण्डित करें।

यह सम्भव नही है क्योंकि ऐसी अवस्था मे दण्ड को अपराध की नैतिक मात्रा के अनुसार नियत करना पड़ेगा परन्तु अपराध की नैतिक मात्रा को मालूम करना अत्यन्त कठिन है। यदि अपराधी को भविष्य मे सुधारने की दृष्टि से दण्ड दिया जाता है तो इससे केवल दण्ड का निरोधात्मक प्रभाव ही समाप्त नही हो जायगा, वरन् इससे अपराधी स्वय अपनी इच्छा का सुधार करने की सभावना, बल्कि या कहिये अपने मौलिक कर्तव्य, से वंचित हो जायगा।*

इन आपत्तियों के होते हुए भी वर्तमान काल मे यही सिद्धांत प्रचलित है। इसमे व्यक्ति के नैतिक चरित्र को प्रमुखता दी गई है। यह सिद्धान्त अपराधो के कारण खोज कर तथा उन्हें मिटा कर अपराधो का निवारण करना चाहता है और इस प्रकार समाज मे मानव स्वभाव की बुरी प्रवृत्तियो के लिये क्षेत्र मे कमी करके व्यक्ति तथा समाज दोनो के जीवन को अच्छा बनाना चाहता है।

हमने ऊपर तीनो सिद्धान्तो के गुण-दोषो का विवेचन किया है। वास्तव मे दण्ड नीति के पीछे इन तीनों सिद्धान्तों की भावनाएँ काम करती हैं। अपराधी को दण्ड मिलने से समाज की प्रतिकार की इच्छा सन्तुष्ट होती है स्वय अपराधी तथा समाज के अन्य व्यक्ति दण्ड भय से भविष्य म अपराध करने से बचते हैं और उनका सुधार भी होता है। इस प्रकार दण्ड का उचित सिद्धान्त वही है जिसमे इन तीनो सिद्धान्तो का सम्मिश्रण हो।

बार्कर का मत है दण्ड का प्राथमिक और आवश्यक प्रयोजन निरोध है, परन्तु यदि हम स्वय अपराधी के सम्बन्ध पर विचार करें तो दण्ड सशोधनात्मक भी होता है परन्तु इस अर्थ मे कि उसका अभिप्राय अपराधी के मस्तिष्क मे जिस कानून का उसने भग किया है उसको और उसके साथ समस्त कानून-व्यवस्था को पुनर्जीवित करना है। इसका प्रभाव अन्य लोगो पर भी पड़ता है और इस प्रकार दण्ड केवल अपराधी के लिये ही सशोधनात्मक नही है, अन्य लोगो के लिये भी वह सशोधनात्मक होता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि यह सुधार निरोध का फल है। दण्ड का प्राथमिक अभिप्राय अपराधी के चरित्र का पुनर्निर्माण नही है, यह तो स्वय अपराधी का काम है। अन्त म, एक अर्थ में दण्ड प्रतिशोधात्मक भी होता है। प्रतिशोध करनेवाला वह व्यक्ति नही जिसकी क्षति हुई है, अथवा व्यक्तियो के रूप म समाज भी नही होता, वरन् वह व्यवस्था प्रतिशोध करती है जिसका भग हुआ है। परन्तु चूँकि वह व्यवस्था समाज के विचार मे निवास करती है, इस कारण हम कह सकते है कि समाज

* Barker Political Thought in England, pp 37-38

का विचार प्रतिशोध कर रहा है और इस अर्थ मे हम यह भी कह सकते हैं कि समाज ही प्रतिशोध करता है।*

प्रश्न

१ कानून की परिभाषा कीजिये और उसके स्रोतों पर प्रकाश डालते हुए उसका वर्तमान काल में महत्व समझाइये।

२ कानून के विविध सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन करते हुए बतलाइए कि आपके विचार मे सबसे अधिक संतोषप्रद सिद्धान्त कौन-सा है ?

३ प्राकृतिक कानून से क्या आशय है ? इसके विविध अर्थों को समझाते हुए बतलाइये कि राज्य विज्ञान में हम उसे किस अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं ?

४ कानून और नैतिकता में परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

५ क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून है ? इसके पक्ष विपक्ष में दिये जानेवाले तर्कों का उल्लेख करते हुए अपना मत प्रकट कीजिये।

६ दण्ड का समुचित सिद्धान्त क्या है ?

---

* Barker Principles of Social and Political Theory pp 181-183

२
वर्तमान युग की राजनीतिक विचारधाराएँ

अध्याय ३

वर्तमान युग की राजनीतिक विचारधाराएँ

व्यक्तिवाद

इस पुस्तक के प्रथम भाग के अन्तिम अध्याय मे हमने राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध मे विचार करते समय व्यक्तिवाद तथा समाजवाद की चर्चा की थी। वर्तमान काल मे इन सिद्धान्तो के समान अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं जो राज्य की प्रकृति, उसके लक्ष्य, कार्य आदि का विवेचन करते हैं या वर्तमान राज्य की त्रुटियों को बतला कर उसे नवीन रूप देना चाहते हैं, या राज्य के द्वारा अथवा उससे स्वतन्त्र होकर समाज का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं। इस अध्याय मे हम व्यक्तिवाद का वर्णन करेंगे और अगले अध्यायो मे अन्य सिद्धान्तो पर प्रकाश डालेंगे।

व्यक्तिवाद

व्यक्तिवाद मुख्यत राज्य के कार्य क्षेत्र का सिद्धान्त है। इस पुस्तक के प्रथम भाग के अन्तिम अध्याय मे राज्य के कार्यक्षेत्र पर विचार करते हुए हम इसके सम्बन्ध मे कुछ लिख आये हैं। राज्य के कार्यक्षेत्र के सिद्धान्त के रूप मे व्यक्तिवाद आधुनिक युग का सिद्धान्त है।

प्राचीन तथा माध्यमिक युगों में यह विचार था ही नही कि व्यक्ति के कामो का एक क्षेत्र ऐसा है जो राज्य के नियन्त्रण से मुक्त है। इस विचार की उत्पत्ति औद्योगिक क्रान्ति के बाद हुई जब कि विज्ञान की उन्नति के साथ उद्योगो के क्षेत्रों मे महान् परिवर्तन हो गया और व्यापार का भी बडा विस्तार हुआ जिसके फलस्वरूप लोग परम्परा की जगह अपनी बुद्धि पर निर्भर रहना सीख गये। यद्यपि पुनरुत्थान (Renaissance) तथा धर्म सुधार (Reformation) के आन्दोलनो में, जिन्होने मध्य-युगीन योरोप को आधुनिक योरोप मे परिवर्तित कर दिया इस विचारधारा की झलक मिलती है, तो भी एक सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन के रूप मे यह उन्नीसवी शताब्दी की देन है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे फ़िज़ियोक्रेट (Physiocrats) नाम से

पुकारे जानेवाले अर्थशास्त्रियो के इस सिद्धान्त से इसका उदय हुआ कि राज्य को जनता के आर्थिक कार्यों मे हस्तक्षेप नही करना चाहिये और व्यापार तथा वाणिज्य राज्य के नियन्त्रण मे मुक्त होना चाहिये। उनका मत था कि सरकारी नियन्त्रण उद्योगो तथा व्यापार के लिये अधिकाधिक भार बनता जा रहा है। उन्होने प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त के आधार पर इस मत का प्रतिपादन किया कि व्यक्ति को अपने आर्थिक कामो मे राज्य के हस्तक्षेप से अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। उनकी दलील यह थी कि एकाधिकार तथा उद्योग एव वाणिज्य पर राज्य के नियन्त्रण के अभाव में स्वतन्त्र प्रतियोगिता और प्रबुद्ध स्वार्थ व्यक्तिगत तथा सावजनिक दोना प्रकार के हितो का सम्पादन कर सकेगे।

एडम स्मिथ तथा अन्य अर्थशास्त्रियो ने इस मत का जोरदार समर्थन किया था किन्तु इसकी पूर्ण व्याख्या हर्बर्ट स्पेन्सर तथा जॉन स्टुअर्ट मिल के ग्रन्थों मे मिलती है। इस सिद्धान्त के दूसरे समथको मे जर्मन विचारक काण्ट, विल्हेम हमबोल्ड और ब्रिटिश लेखक हेनरी सिजविक हैं।

व्यक्तिवाद चित्त की एक अवस्था है, एक सिद्धान्त है जो व्यक्ति को सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र मानता है और यह चाहता है कि समस्त सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति की आवश्यकताओ एव उसके हितो के अनुरूप होनी चाहिये। इस प्रकार वह व्यक्ति को स्वय साध्य मानता है, जिसका विकास राज्य का प्रमुख लक्ष्य है। समस्त सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक सस्थाएँ व्यक्ति के लिये हैं और उनके मूल्य की परीक्षा यह मालूम करके ही की जा सकती है कि उनका नागरिको के जीवन पर क्या प्रभाव पडता है। यह कहा जा सकता है कि सत्य होते हुए भी इस कथन से व्यक्तिवाद का उन दूसरे सामाजिक सिद्धान्तो से भेद प्रकट नहीं होता जो स्वय भी व्यक्ति को साध्य मानते हैं। कुछ समाजवादी सिद्धान्त भी सामाजिक सगठन का लक्ष्य व्यक्ति का विकास मानते हैं। सक्षेप मे, लक्ष्यो के सिद्धान्त के रूप मे व्यक्तिवाद दूसरे सामाजिक सिद्धान्तो मे मिल जाता है। इस कारण हम उसे सामाजिक लक्ष्यो के स्थान पर साधनों का सिद्धान्त मानेंगे।

साधनो के सिद्धान्त के रूप मे व्यक्तिवाद मानता है कि व्यक्ति के विकास के लक्ष्य को हम उसे विचार तथा कार्य की अधिकाधिक स्वतन्त्रता देकर ही सर्वोत्तम रूप मे प्राप्त कर सकते हैं। समाज की सर्वोत्तम प्रगति वैयक्तिक स्वतन्त्रता के आधार पर ही हो सकती है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ प्रतियोगिता की भावना अभिन्न रूप से जुडी हुई है जो व्यक्तिवादी

सिद्धान्त मे एक मौलिक वस्तु है। राज्य का प्रमुख कार्य नागरिको मे स्वतन्त्र प्रतियोगिता की अवस्थाओ को बनाये रखना है और राज्य अपना यह कार्य आर्थिक नियमो की प्राकृतिक प्रक्रियाओ मे हस्तक्षेप न करके ही कर सकता है। व्यक्तिवाद का विश्वास है कि अपने हितो को व्यक्ति ही सबसे अच्छी तरह समझ सकता है और यदि राज्य उसके मार्ग की कुछ बाधाओ को हटा दे तो वह अपनी आवश्यकता की वस्तुओ को प्राप्त कर सकता है। उसका निष्कर्ष यही है कि वैयक्तिक एव सामाजिक सुख की वृद्धि का सबसे अधिक सुनिश्चित उपाय व्यक्ति के प्रयत्नो पर से नियन्त्रण हटा लेना और सरकारी कानूनो को कम करके केवल इतने रख लेना है जिसमे वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आक्रमण न हो सके। इस प्रकार नागरिक की दृष्टि से राज्य का काम निषेधात्मक होना चाहिये।

व्यक्तिवाद का यह पक्ष उसके दूसरे फ्रेञ्च नाम 'लासा फेअर' (Laissez Faire) मे अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होता है जिसका अर्थ है "व्यक्ति को अकेला छोड दो ताकि वह जो चाहे सो कर सके" और जिसका आशय यह है कि राज्य को जहाँ तक हो सके अलग रहना चाहिये जिससे व्यक्ति अपनी शक्तियो का खुल कर प्रयोग कर सके। उसे अपन कार्यों के सम्पादन मे पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इस प्रकार की स्वतन्त्रता मे सरकारी हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिये। राज्य को उसी समय हस्तक्षेप करना चाहिये जब कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे अवैध रीति से बाधा डाले। उसका समुचित कार्य हिंसा तथा छल मे व्यक्ति की रक्षा करना, अपराधो का अवरोध, उनका प्रकाश मे लाना तथा अपराधियो को दण्ड देना, समझौता को कार्यान्वित करना, आन्तरिक शान्ति एव सुव्यवस्था कायम रखना और बाहरी आक्रमण से रक्षा करना है। राज्य का यह प्रत्यक्ष कार्य नही है कि वह नागरिको के कल्याण के लिये प्रयत्न करे या आर्थिक कार्यों का सम्पादन करे या व्यक्तियो को उनके हित के लिये कार्य करने के लिये बाध्य करे। जब राज्य रेलवे का स्वामी बन कर उसका नियन्त्रण एव सचालन करता है, डाकघरो तथा तारघरो की व्यवस्था करता है, नहरो तथा सिंचाई के अन्य साधनो की योजना बनाता है, शिक्षादान के लिये स्कूलो, कॉलिजो, तथा विश्वविद्यालयो की स्थापना करता है और अस्पतालो, अजायबघरों, पार्कों, क्रीडा-क्षेत्रो आदि तथा जीवन की अन्य सुविधाओ को जुटाने की व्यवस्था करता है तब वह अपने उचित क्षेत्र से आगे बढ जाता है और इस प्रकार व्यक्तिगत उद्योग के क्षेत्र म हस्तक्षेप करके वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता म भी हस्तक्षेप करता है तथा अपने ही उद्देश्य को विफल

कर देता है। इस प्रकार राज्य का काय निषेधात्मक रूप मे नियमन का ही है, उसका काम बुराइयों को दूर करना है, मनुष्यो को सुखी बनाना नही। वह रक्षण एव नियन्त्रण के लिये है, अभिवृद्धि या पोषण के लिये नही।* जमन लखक हमबोल्ड ने राज्य के काय-क्षेत्र के सम्बन्ध म अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है "राज्य को नागरिको के कल्याण की समस्त चिन्ता से दूर रहना चाहिये और पारस्परिक सुरक्षा तथा बाहरी शत्रुओ से रक्षा करने के काय से एक रत्ती भी आगे नहीं बढना चाहिये।"† शासन के कार्यो को देश के भीतरी तथा बाहरी रक्षा के काय अर्थात् पुलिस के काय तक सीमित करके व्यक्तिवाद ने सरकारी नियन्त्रण एव सहायता के स्थान पर आत्म-सहायता के सिद्धान्त को प्रोत्साहन दिया है।

व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का यह विवेचन मिल के उन विचारो पर प्रकाश डाले बिना अपूर्ण रहेगा जो उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'स्वतन्त्रता' (On Liberty) मे व्यक्त किये है। उसका विचार था कि राज्य का सबसे मुख्य कतव्य अधिक से अधिक व्यक्तियो का अधिक से अधिक कल्याण करना है। यह उसी समय सम्भव है जब कि व्यक्तियो को अपने काय करने के लिये उस समय तक स्वतन्त्र छोड दिया जाय जब तक वे दूसरो के कामो मे हस्तक्षेप न कर। राज्य उनका सबस अधिक हित-साधन उसी समय कर सकता है जब कि वह उनके कार्यो म कम से कम हस्तक्षेप करे। "यदि मनुष्य दूसरो को उसी प्रकार रहने दें जैसा वे चाहे तो इसमे मनुष्यमात्र का अधिक लाभ होगा।"‡ नागरिको की शक्तियो के पूण विकास के लिये इस प्रकार की स्वतन्त्रता आवश्यक है। व्यक्ति के जीवन के नियमन में अत्यधिक हस्तक्षेप से उसका चरित्र निबल होता है और जीवन का समुचित विकास नही हो सकता। इस प्रकार मिल ने व्यक्ति के विचार-स्वातन्त्र्य तथा भाषण स्वातन्त्र्य और काय

---

* किन्तु एडम स्मिथ तथा फिजियोक्रेट अर्थशास्त्रियों ने शिक्षा की व्यवस्था तथा सडको आदि के निर्माण को राज्य के समुचित कार्यों मे शामिल किया है।

† The state should abstain from] all solicitude for the positive welfare of the citizens and ought not to proceed a step further than is necessary for their mutual security and protection against foreign enemies' (Humboldt, quoted in Garner Political Science and Government, p 415)

‡ 'Mankind are greater gainers by suffering each other to live as seems good to the rest' (Mill)

करने की स्वतन्त्रता का वैयक्तिक तथा सामाजिक सुख एवं विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक मानकर जोरदार शब्दों में समर्थन किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मिल ने व्यक्ति पर राज्य के समस्त नियन्त्रण तथा पथ-प्रदर्शन की सत्ता का निषेध किया है। उसने मानवीय कार्यों को दो भागों में विभाजित किया है—वे कार्य जिनका प्रभाव कर्त्ता तक ही सीमित रहता है और दूसरे वे जिनका प्रभाव कर्त्ता के अतिरिक्त समाज पर भी पड़ता है। समाज को यह अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति को पहले प्रकार के कामों के सम्बन्ध में आदेश दे क्योंकि वह अपने उन कार्यों के सम्पादन के लिये समाज के प्रति उत्तरदायी नहीं है। परन्तु अपने दूसरे प्रकार के कार्यों के लिये वह समाज के नियन्त्रण में है, उसे दूसरों की हानि करनेवाले कार्यों से रोका जा सकता है। इस प्रकार मिल का मत था कि मानव जाति वैयक्तिक या सामूहिक रूप से दूसरे की स्वतन्त्रता में केवल आत्मरक्षा की दृष्टि से ही बाधा डाल सकती है।*

राज्य के कार्य-क्षेत्र को पुलिस के कार्यों तक ही सीमित रखना हमारी वर्तमान विचारधारा में असंगत है। हम राज्य को केवल पुलिस राज्य से अधिक कुछ समझने लगे हैं। विविध रूपों में हम सभी आजकल समाजवादी हैं। अब प्रश्न यह नहीं है कि शासन हस्तक्षेप करे या नहीं। वह हस्तक्षेप तो करता है, विचारना यह है कि वह कहाँ तक किस प्रकार और किस क्षेत्र में हस्तक्षेप करे।† आज के जटिल एवं अन्योन्याश्रित समाज में स्पेन्सर, मिल तथा हमबोल्ट जैसे उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों के व्यक्तिवाद के लिये स्थान नहीं है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जैसी परिस्थितियाँ थीं, उनके यह प्रतिकूल नहीं था। उससे पूर्व जो शासन-प्रणाली

---

* The sole end for which mankind are warranted individually or collectively, in interfering with the liberty of action of any of their number, is self protection. The only purpose for which power can be rightfully exercised on any member of a civilized community, against his will, is to prevent harm to others. His own good either physical or moral is not sufficient warrant. The only part of the conduct of any one for which he is amenable to society, is that which concerns others. In the part which merely concerns himself his independence is, of right absolute. Over himself, over his own body and mind the individual is sovereign." (Mill quoted in Garner Political Science and Government p. 416)

† Dickinson After Two Thousand Years, p. 57

प्रचलित थी उसके दोषों के विरुद्ध हस्तक्षेप न करने की नीति का प्रतिपादन एक प्रतिक्रिया के रूप में ही किया गया था। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, मिल वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सामाजिक तथा व्यक्तिगत प्रगति के लिये अत्यन्त आवश्यक मानता था। जो वस्तु इस प्रकार की स्वतन्त्रता में बाधा डालती है, उसे बुराई समझना चाहिये। साधारणतया राज्य की दमनकारी शासन-सत्ता और शासन द्वारा बनाये गये कानून हमारी स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करते हैं। इस प्रकार राज्य अनिष्टकारी बन जाता है और उसके कामों को अधिक से अधिक सीमित कर देना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि वह अनिष्टकारी है, तो भी व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक मानते हैं क्योंकि मनुष्य की स्वार्थमयी तथा अपराधात्मक प्रवृत्तियों को सीमित करने के लिये उसकी आवश्यकता है। यदि मनुष्य स्वभाव से ही दूसरों के हितों का ध्यान रखने वाला होता तो राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। राज्य का अस्तित्व इसलिये ही है कि समाज में अपराध होते हैं। अतः उसका मुख्य कार्य दण्ड देना तथा अपराधों का अवरोध करना ही है, कल्याण की अभिवृद्धि नहीं।

व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का समर्थन—

राज्य के कार्यों को रक्षात्मक कार्यों अर्थात् सेना, पुलिस, न्यायालय दण्ड विधान तथा विवादों का निर्णय (और किसी की राय में जनता की महामारी आदि रोगों के प्रकोप से रक्षा भी करना) तक सीमित रखना विविध कारणों से उचित माना गया है।

(१) नैतिक तर्क—

इस तर्क का आश्रय ह्यूम, रूसो, काण्ट, मिल आदि ने लिया। इसका मुख्य मन्तव्य यह है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास तथा सामाजिक अस्तित्व के लक्ष्य की सिद्धि उसी समय सर्वश्रेष्ठ रूप में कर सकता है, जब कि जीवन की अवस्थाओं में राज्य का हस्तक्षेप कम से कम कर दिया जाय। स्वतन्त्र वातावरण में ही व्यक्ति की विविध शक्तियों का सामञ्जस्यपूर्ण विकास हो सकता है। व्यक्ति की कार्य स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने से विकास संकुचित हो जाता है। चरित्र का निर्माण स्वतन्त्रता के वातावरण में ही हो सकता है।

व्यक्तिवादी नीति का तात्पर्य यह है कि शासन प्रतियोगिता को निर्बाध छोड़ दे। व्यक्तिवादी का कथन है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता व्यक्ति की शक्तियों के विकास के लिये सबसे उपयुक्त स्थितियाँ प्रदान करती है। वह उसे स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाती है, उसे अपने साधनों के उपयोग के लिये प्रेरणा

प्रदान करती है और उसे स्वयं कार्य करने के लिये अनुप्रेरित भी करती है। इस प्रकार व्यक्ति में आत्म भावना का संचार होता है। दूसरी ओर, अतिशय शासन के विपरीत प्रभाव होते हैं, उससे हमारी शक्तियाँ क्षीण होती हैं, हमारी उत्तरदायित्व की भावना निर्बल होती है और स्वावलम्बन की शक्ति तथा अपनी ओर से स्वयं कार्य करने की शक्ति भी नष्ट होती है। संक्षेप में आत्म विकास की प्रेरणा ही मारी जाती है। इस प्रकार न्याय का तकाजा है कि व्यक्ति को अकेला ही छोड़ दिया जाय। इस मार्ग से व्यक्ति के आनन्द तथा सुख का ही सम्पादन नहीं होगा वरन् सभ्यता की अभिवृद्धि भी हो सकेगी। व्यक्तिवाद के समर्थक कहते हैं कि उच्चतम सभ्यता का विकास इसी सिद्धान्त के संरक्षण में हुआ है।

(२) आर्थिक तर्क—

उपर्युक्त नैतिक तर्क तो उन लोगों पर प्रभाव डालता है जिनकी मनुष्य के बौद्धिक, तथा नैतिक विकास में दिलचस्पी होती है, परन्तु अर्थशास्त्री के लिये आर्थिक तर्क का महत्व अधिक है। यह कहा जाता है कि व्यापार तथा उद्योग आदि की सब से अधिक उन्नति उसी समय होती है जब कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पूँजी लगाने, अपनी सम्पत्ति भाड़े पर उठाने तथा अपने श्रम को बेचने की स्वतन्त्रता हो। स्वतन्त्र प्रतियोगिता की प्रणाली के अन्तर्गत पूर्ति तथा माँग के नियमों के अनुसार उत्पादन के विभिन्न तत्वों का सर्वोत्तम रूप में समन्वय हो जाता है। उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है, उत्पादन का व्यय कम हो जाता है और वस्तुओं के मूल्य भी कम रहते हैं जिससे सबको लाभ पहुँचता है। अपनी पूँजी तथा श्रम का स्वतन्त्रता के साथ उपयोग करने की स्वाधीनता सब के लिए हितप्रद है। इससे खरीदनेवाला बाजार से सस्ते से सस्ता माल खरीद सकता है और मजदूर अधिक से अधिक वेतन लेकर अपना श्रम बेच सकता है। श्रम-सम्बन्धी कानून, कर-सम्बन्धी प्रतिबन्ध, वेतन निर्धारण, उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता देना, आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध आदि के द्वारा सरकार जो उद्योगों तथा वाणिज्य का नियमन करने का प्रयत्न करती है उससे आर्थिक मशीन के कार्यों में बाधा पड़ती है। यह मशीन तो उसी समय ठीक-ठीक काम कर सकती है जब कि उसके साथ छेड़ छाड़ न की जाय। आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न होने से ऐसी सामंजस्य की अवस्था उत्पन्न होती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना अधिक से अधिक हित कर सकता है और इसके साथ ही सब का सामान्य हित भी बना रहता है।

एक समय ऐसा था जब कि इस सिद्धान्त का समाज पर बड़ा गहरा प्रभाव था। इङ्गलैण्ड में इसने अनेक आर्थिक प्रतिबन्ध दूर हो गये जो सामन्त शाही के समय से चल आ रहे थे और इस प्रकार वाणिज्य-व्यापार में प्रगति हुई। उदाहरणार्थ, श्रम का नियमन करनेवाले कानून और मजदूरों के स्वतन्त्र रीति से सगठन करने पर प्रतिबन्ध लगानेवाले नियम तथा नाविक नियम एवं अन्न नियम रद्द कर दिये गये। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आर्थिक व्यक्तिवाद ने बहुत अच्छी प्रगति की। परन्तु आर्थिक शक्तियों के अनियन्त्रित कार्यकलाप के दोष उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकट होने लगे और एक नवीन आर्थिक नीति की आवश्यकता प्रकट होने लगी। इस नीति-परिवर्तन में आदर्शवाद और समाजवाद ने बड़ी सहायता की।

(३) वैज्ञानिक तर्क—

व्यक्तिवादी यह दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि उनका सिद्धान्त विकास के सिद्धान्त के अनुकूल है। जिस प्रकार वनस्पति तथा प्राणि-जगत में जीवन के लिये संघर्ष होता है उसी प्रकार मानव-जगत में भी व्यक्ति को अपने जीवन के लिये संघर्ष करना चाहिये। यदि वह योग्य है तो जीवित रहेगा और यदि अयोग्य है तो मिट जायगा। दुर्बल और अयोग्य व्यक्तियों के लिये यह कार्य भूमि नहीं है। अतः व्यक्तियों के सुख के हेतु समाज के विकास मार्ग के हितों पर कुठाराघात नहीं करना चाहिये। व्यक्तिगत मामलों में यदि कुछ कठिनाइयाँ भी हों तो उनकी कोई चिन्ता नहीं यदि उससे सम्पूर्ण समाज का लाभ होता हो। "इसमें बड़ी निर्दयता दिखाई देती है कि अनाथों और विधवाओं को अपने जीवन मरण के संग्राम में असहाय छोड़ दिया जाय परन्तु यदि इस पर पृथक रूप से विचार न करके मानवता के सार्वभौम हितों की दृष्टि से विचार किया जाये तो इस निर्दयता के अन्तराल में छिपी परोपकार की प्रवृत्ति देख पड़ेगी।" इन शब्दों में स्पेंसर ने अपने विचार प्रकट किये हैं। व्यक्तिवाद के इस महान उपासक का यह विचार था कि गरीबों एवं पीड़ितों को राज्य या शासन की ओर से सहायता देना समस्त प्राणि विज्ञान के नियमों के विपरीत है। सरकारी हस्तक्षेप दुर्बल तथा अयोग्य व्यक्तियों को सहायता देकर कृत्रिम रूप से उन्हें बनाये रखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह उस सिद्धान्त के विपरीत है जिसके अनुसार केवल योग्यतम व्यक्तियों को ही जीवित रहने का अधिकार है। समाज की प्रगति का यह तकाजा है कि जो जीवन संग्राम में पीछे रह जाते हैं, उनका नाश हो जाना चाहिये। मानव प्रगति का नियम है—"स्वतन्त्रता, असमता और योग्यतम की विजय।" राज्य के हस्तक्षेप तथा स्वतन्त्रता के अभाव

से समता स्थापित होती है और अयोग्य जीवित रहते हैं जिससे समाज की अधोगति होती है और केवल अयोग्य व्यक्तियों का हित होता है।

(४) अनुभव का तर्क—

व्यक्तिवादी विचारक इतिहास के आधार पर भी अपने सिद्धान्त की पुष्टि करता है। वह आसानी के साथ अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध करता है कि जहाँ सरकार ने खाद्य पदार्थों का मूल्य निर्धारित किया, मजदूरी का नियमन किया, किन्हीं वस्तुओं के आयात अथवा निर्यात को प्रोत्साहन दिया या रोका वहाँ इस प्रकार के हस्तक्षेप से हानि ही हुई है। इस प्रकार के प्रतिबन्धों की असफलता से यह स्पष्ट है कि सरकार की ओर से इन कार्यों में हस्तक्षेप न करना ही बुद्धिमानी है। यह तथ्य कि इनमें से अधिकांश नियमों को बाद में रद्द करना पड़ा, इस बात का प्रमाण है कि उनका निर्माण ही नहीं करना चाहिये था।

(५) राज्य की अयोग्यता का तर्क—

व्यक्तिवादी का यह भी एक तर्क है कि राज्य इस योग्य नहीं है कि वह समाज के आर्थिक जीवन की व्यवस्था कर सके। जिस प्रकार फेफड़ा भोजन को पचाने का काम नहीं कर सकता और आमाशय रक्त-संचार का काम नहीं कर सकता उसी प्रकार राज्य औद्योगिक कार्यों का संचालन नहीं कर सकता। शासन समाज के विविध भागों में सामंजस्य रखने का माध्यम है, निर्माण का साधन नहीं है। वाणिज्य तथा उद्योगों के संचालक के रूप में राज्य अवश्य ही अयोग्य सिद्ध होगा। अपने जटिल संगठन के कारण वह इस कार्य के अयोग्य है। आर्थिक क्षेत्र में अधिकांश कार्य जब राज्य द्वारा किये जायेंगे तो वे अवश्य ही उन कामों की अपेक्षा खराब ढंग से किये जायेंगे जो ऐसे व्यक्तियों द्वारा किये जाते हैं जिनकी उनमें रुचि होती है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को स्वयं सबसे अधिक अच्छी तरह से समझता है और वह स्वयं राज्य की अपेक्षा उनकी पूर्ति अधिक उत्तमता के साथ कर सकता है।

इस प्रकार व्यक्तिवादी जनता के आर्थिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप का विरोध इसलिये करता है कि उसे यह विश्वास है कि यह अवांछनीय है। गैंकी ने हस्तक्षेप से जो हानियाँ हैं उनके सम्बन्ध में लिखा है कि "इससे व्यक्तिगत उद्योग दुर्बल होता है, दानशीलता भी नष्ट हो जाती है, व्यक्तिगत दायित्व की भावना कम होती है, स्वातन्त्र्य प्रेम में भी कमी हो जाती है, राज्य के कर्मचारियों की संख्या बढ़ जाती है जो व्यक्ति के जीवन के सभी कार्यों का

नियमन करते है, और समाज की स्थिति ऐसी हो जाती है, जिसमे बहुत बड़ी सख्या मे लोग सरकारी दान या सहायता के आश्रित हो जाते हैं। ये सब बातें स्वावलम्बन, स्वातन्त्र्य, निश्चय तथा निर्णयबुद्धि एवं चरित्र पर प्रभाव डाले बिना नही रह सकतीं। इससे जनता पर करो का अत्यधिक भार हो जाता है जो बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँच सकता है कि उससे राष्ट्र के विनष्ट होने की नौबत आ सकती है।'

व्यक्तिवाद का मूल्यांकन—

जो सिद्धान्त संसार मे एक लम्बी अवधि तक सभ्य राष्ट्रो की सरकारों का समर्थन प्राप्त करता रहा और एक शताब्दी तक सुप्रसिद्ध विचारको द्वारा जिसे समर्थन मिलता रहा, उसमे नि सन्देह कुछ ऐसे तत्त्व होने चाहिये जो सच्चे तथा मूल्यवान है। व्यक्तिवाद का यह मुख्य मन्तव्य कि व्यक्ति तथा समाज व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और निर्बाध प्रतियोगिता की प्रणाली के अन्तर्गत अधिक समृद्धि प्राप्त करते हैं और अतिशय सरकारी हस्तक्षेप व्यापार तथा उद्योग के लिये हानिप्रद है, वास्तव मे सत्य है। राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति के मामलो मे हस्तक्षेप की नीति की अपेक्षा हस्तक्षेप न करने की सामान्य नीति सही अच्छी है। यह भी निर्विवाद है कि शासन पर निर्भरता यदि अतिशय सीमा तक पहुँच गई तो इससे स्वावलम्बन तथा प्रारम्भक शक्ति का ह्रास हो जायगा। परन्तु व्यक्तिवादी स्वतन्त्र प्रतियोगिता के लाभो को बहुत बढाकर दिखलाता है और राज्य द्वारा वाणिज्य तथा उद्योगो के बुद्धिमत्तापूर्वक नियमन के जो लाभ हैं, उन्हे कम करके दिखलाता है। हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त मे सब लाभ ही लाभ हैं, ऐसी बात नही है और न हस्तक्षेप की नीति मे सब हानि ही हानि है। जैसे-जैसे सभ्यता की प्रगति होती है और समाज अधिकाधिक जटिल एव अन्योन्याश्रित होता जाता है और जैसे-जैसे व्यक्ति के लिये समाज के दूसरे व्यक्तियो पर प्रभाव डाले बिना कोई काम करना कम से कम सम्भव होता जाता है, वैसे ही वैसे आर्थिक जीवन पर राज्य के नियन्त्रण की आवश्यकता भी बढती जाती है। वर्तमान स्थिति मे यह सर्वथा असम्भव है कि राज्य के कार्यों को केवल उस निषेधात्मक तथा दमनकारी क्षेत्र तक ही सीमित रहने दिया जाय जिसका निर्देश स्पेन्सर ने किया है। उसका कार्य-क्षेत्र जितना व्यक्तिवादी मानने के लिये तैयार है उससे कही अधिक विस्तृत है।

राज्य को केवल दण्ड ही नही देना चाहिए, उसे जनता के आर्थिक, नैतिक तथा बौद्धिक हितो की अभिवृद्धि भी करनी चाहिए। राज्य को केवल 'पुलिस

राज्य' ही नही वरन् कल्याणकारी राज्य (Welfare State) भी होना चाहिये। विल्सन ने कहा है कि 'सरकार द्वारा औद्योगिक जीवन का नियमन, विशुद्ध वस्तुओं के उपलब्ध होने की व्यवस्था, श्रमजीवियों की रक्षा की व्यवस्था प्राकृतिक साधनों पर सरकार का स्वाम्य, यातायात, प्रकाश, जल, गैस, बिजली आदि आवश्यक सेवाओं की सरकार की ओर से व्यवस्था, इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि व्यक्तिवाद का एक नया रूप या आंशिक रूप में विकसित समष्टिवाद (Collectivism) उत्पन्न हो चुका है।'*

बार्कर के भी ऐसे ही विचार हैं। उसे व्यक्तिवाद तथा समष्टिवाद में भेद केवल शाब्दिक मालूम होता है, यथार्थ नहीं।† उसका कथन है कि यदि व्यक्तिवाद से हमारा आशय व्यक्तियों के अधिकारों में विश्वास है और यदि समष्टिवाद से हमारा तात्पर्य इन्हीं अधिकारों की पूर्ति के लिये शासन द्वारा प्रस्तुत सामूहिक सेवा में विश्वास है तो हमें इन दोनों में कोई विरोध नहीं, वरन् आवश्यक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होगा। बेन्थम तथा उसके अनुयायियों द्वारा प्रभावित व्यक्तिवाद के युग तथा १८७० से आगे संरक्षण नीति से प्रभावित समष्टिवाद के युग में भेद किया जा सकता है और किया भी गया है परन्तु वह केवल अध्ययन का भेद है और उसमें वर्गीय पक्षपात दिखाई देता है। १८७० के बाद कुछ वर्ग व्यक्तिगत अधिकारों की हानि से दुःखी थे, जब कि बहुत से लोग अधिकारों में वृद्धि का अनुभव करने लगे। सामान्य रूप से पूरी उन्नीसवीं शताब्दी एक ही प्रक्रिया की—व्यक्तिगत अधिकारों के विस्तार की अर्थात् व्यक्तिवाद के विस्तार की—शताब्दी है, परन्तु वह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें साथ ही साथ उन अधिकारों के हित में शासन की सेवाओं का अर्थात् समष्टिवाद का विस्तार होता रहा है, हालांकि वास्तव में यह विस्तार व्यक्तिवाद के नाम से कहे जानेवाले व्यक्तिगत अधिकारों के विस्तार का परिणाम ही है। प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक अवस्थाएँ वैसे ही इच्छा करने मात्र से उत्पन्न नहीं होतीं। उनके लिये सामूहिक प्रयत्न भी आवश्यक है और ऐसा प्रयत्न राज्य ही कर सकता है। जो राज्य व्यक्ति के गुणों का आदर करता है वह हस्तक्षेप से दूर रहनेवाला राज्य नहीं है, वह ऐसा राज्य है जो व्यक्ति के पीछे-पीछे चलता है और निरन्तर सेवा करता है। व्यक्तित्व के पक्ष में तर्क करना ऐसे व्यक्ति के

---

* Wilson Elements of Modern Politics p 542

† The current antithesis between collectivism and individualism is verbal rather than real (Barker Principles of Social and Political Theory p 268)

पक्ष में तर्क करना नहीं है जिसकी कोई पूछ ही नहीं करता। वास्तव में बात उल्टी है, वह सामान्य कानूनी व्यवस्था के पक्ष में और सामूहिक सेवा की समग्र व्यवस्था के पक्ष में, जिसकी व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यकता है, तर्क करता है। वह उसके लिये आवश्यक अधिकारों के पक्ष में, अधिकार-व्यवस्था के पक्ष में और उन अधिकारों की उपलब्धि कराने के लिये राज्य की सेवा के पक्ष में तर्क करता है। संक्षेप में, बार्कर के अनुसार, समष्टिवाद व्यक्तिवाद का परिणाम है।*

व्यक्तिवाद की गलत धारणाएँ—

व्यक्तिवादियों ने राज्य की उत्पत्ति तथा प्रकृति, स्वतन्त्रता की प्रकृति तथा समाज और उसके सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में जो धारणाएं बना रखी हैं उनके कारण वे इस कथन के सत्य को समझ नहीं सकते। हम नीचे बतलायेंगे कि ये धारणाएँ असत्य हैं और इस प्रकार व्यक्तिवाद का आधार ही निर्बल है।

१—सबसे प्रथम, यह विचार सत्य नहीं है कि राज्य का अस्तित्व इसलिये है कि समाज में अपराधों का अस्तित्व है। यह मानना गलत है कि राज्य का जन्म केवल मनुष्य की स्वार्थमयी एवं अपराधजनक प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिये ही हुआ है। मनुष्य पूर्णरूप से अहंवादी ही नहीं है, उसकी समस्त प्रवृत्तियां केवल आक्रमण की ओर ही झुकी हुई नहीं हैं। प्रेम, सहानुभूति, बलिदान की क्षमता तथा सहकारिता की प्रवृत्ति मानव प्रकृति के मौलिक तत्व हैं। अरस्तू ने बहुत पहले अपना जो विचार प्रकट किया था कि राज्य का अस्तित्व केवल जीवन के लिये हुआ और वह श्रेष्ठ जीवन के लिये कायम रहता है, व्यक्तिवादियों की धारणा की अपेक्षा अधिक सत्य है। राज्य ने सभ्यता एवं संस्कृति की प्रगति में बड़ी सहायता की है यह बात तो इतिहास से भी प्रमाणित है। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति की ऐसी कल्पना जिस पर व्यक्तिवाद का सिद्धान्त स्थिर है, गलत है।

२—दूसरे, व्यक्तिवादी विचारक राज्य के कार्य-क्षेत्र में किसी भी प्रकार के विस्तार के विरुद्ध हैं क्योंकि उनकी यह धारणा है कि प्रत्येक ऐसे विस्तार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता के क्षेत्र में उतनी ही कमी पड़ जाती है। यह विचार

* Barker Principles of Social and Political Theory pp 269 270

इस कल्पना के आधार पर है कि राज्य की सत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता ये दोना परस्पर विरोधी हैं और राज्य जो कानून बनाता है, उससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण होता है। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि शासन जितना ही अधिक होगा हमारी स्वतन्त्रता उतनी ही कम होगी। यह एक महान् भूल है। राज्य के नियमो तथा उसकी सत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे कोई विरोध नही है। क़ानून वास्तव म हम पर प्रतिबन्ध लगाता है परन्तु प्रत्येक प्रतिबन्ध आवश्यक रूप से हमारी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध नही होता। प्रत्यक व्यक्ति नियमित रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके इसके लिये सबलो पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना पडता है, जिससे वे मनमाने ढग से काम न कर सकें। स्वतन्त्रता की यह कल्पना सवथा गलत है कि उसम मर्यादा का सवथा अभाव होता है। सच्ची स्वतन्त्रता सही बात का चुनने और ठीक काय करने मे है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता राज्य म कानून द्वारा ही सम्भव है। व्यक्तिवादी का यह कथन सत्य है कि स्वतन्त्रता के अभाव म चरित्र का विकास नही हो सकता, दमन का वातावरण उसके प्रतिकूल है। परन्तु वह यह भूल जाता है कि अनुशासन और मर्यादा भी समान रूप से आवश्यक हैं। यदि हम एक बालक को बिना नियन्त्रण के छोड दें, तो उसका परिणाम् भयानक होगा। व्यक्तिवादी का यह कथन भी अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण है कि समस्त सरकारी नियमन चरित्र तथा प्रारम्भक शक्ति का ह्रास कर देता है। यह सत्य नही है कि शासन सत्ता का प्रत्यक विस्तार व्यक्ति को दुबल तथा कम स्वावलम्बी बनाता है। यदि उद्योग एव वाणिज्य पर बुद्धिमत्ता के साथ मर्यादित रूप म राज्य का नियन्त्रण हो तो वह दु ख-दायी नही हो सकता।

३—तीसरे, मनुष्य का स्वार्थी तथा अहवादी समझ कर व्यक्तिवाद समाज की प्रकृति तथा व्यक्ति के साथ उसके सम्बन्ध को गलत रूप मे देखता है। वह समाज को ऐसी इकाइयो का एक समूह मात्र मानता है, जो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं और जिनको परस्पर बाँधनेवाला कोई आन्तरिक बन्धन नही है। व्यक्ति का उस समुदाय से भिन्न समझा जाता है जिसका वह सदस्य है और उसका कल्याण एव हित उसके साथी नागरिको के हितो से भिन्न समझा जाता है। समुदाय के महत्त्व को गिरा कर व्यक्ति के महत्त्व पर अत्यधिक जोर देना और राज्य द्वारा नियमन के प्रति घृणा, इस प्रकार के विचार के स्वाभाविक परिणाम हैं। परन्तु यह विचार गलत है, यह

समाज के सामुदायिक जीवन के मूल पर ही कुठाराघात करता है। अपनी प्रकृति एवं आवश्यकता के कारण मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसका जन्म समाज में होता है, वह समाज में पोषण पाता है और उसी में उसका अन्त होता है। अपने अस्तित्व और विकास के लिये वह समाज पर निर्भर रहता है। यदि उसका समाज के जीवन-दायक एवं जीवनधारी प्रभावों से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाय तो वह गतिहीन हो जायगा और अन्त में मृत्यु को प्राप्त होगा। समाज से विलग वह एक अमूर्त भाव मात्र है, जिसका न कोई महत्व है और न मूल्य ही।* समाज का सदस्य होने के कारण ही वह मानव बनता है। यदि व्यक्ति जो कुछ वह है और बन सकता है उसके लिये समाज पर निर्भर है, तो सामाजिक कल्याण के प्रति वह उदासीन नहीं रह सकता। उसका हित समाज के हित से अविच्छेद्य रूप से जुड़ा हुआ है। चूँकि राज्य सामाजिक कल्याण का संरक्षक है, अतः उन सभी विषयों में जिनका सब से सम्बन्ध है राज्य को व्यक्तियों के कार्यों का नियमन करने का अधिकार होना चाहिये। राज्य द्वारा नियन्त्रण तथा नियमन की आवश्यकता एवं महत्व को कम करने का प्रयत्न गलत है।†

४—अन्त में, व्यक्तिवाद की यह मान्यता भी केवल एक सीमित अर्थ में ही सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों का सवश्रेष्ठ निर्णायक है और यदि उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो वह अपने हितों की सर्वश्रेष्ठ ढङ्ग से सिद्धि कर सकेगा। व्यक्ति की अपेक्षा समाज उसकी बौद्धिक और नैतिक, यहाँ तक कि उसकी शारीरिक आवश्यकताओं का भी अधिक श्रेष्ठ निर्णायक है। वह व्यक्तियों की स्वार्थपरता तथा उनके अज्ञान का प्रतिकार कर

* Apart from his surroundings and relationships the individual is a mere abstraction a logical ghost a metaphorical spectator a mere negation (Ritchi Principles of State Interference p 11)

† 'The higher the state of civilisation the more completely do the actions of one member of the social body influence all the rest, and the less possible is it for any one man to do a wrong without interfering more or less with the freedom of all his fellow-citizens So that even upon the narrowest view of the functions of the state it must be admitted to have wider powers than the advocates of the police theory are disposed to admit. (Huxley quoted by Garner Political Science and Government p 426)

सकता है। यह स्पष्ट रूप से अवाछनीय है कि सदैव व्यक्तियो को ही यह निर्णय करने का अधिकार हो कि वह कैसी शिक्षा प्राप्त करे अथवा उसे यह चुनने का अधिकार हो कि वह सस्ता तथा अस्वास्थ्यप्रद भोजन खायगा या नहीं। अस्वास्थ्यप्रद मकान मे रहने मे जो खतरे है उनमे व्यक्ति की रक्षा करने, अशुद्ध भोजन खाने तथा अशुद्ध जल पीने से उसे रोकने आदि की राज्य मे अधिक सामर्थ्य है। क्योकि एक व्यक्ति पर इस बात मे विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह अपनी वास्तविक आवश्यकताओ को भली-भाँति समझता है तथा वह सदा अपने सच्चे हितो के अनुसार ही कार्य करेगा, राज्य को हस्तक्षेप करना पडता है और उसकी उन खतरो से रक्षा करनी पडती है, जिनका उसे ज्ञान नही होता। इस प्रकार अधिकाश राज्य उन स्थितियो का नियमन करना आवश्यक समझते है जिनमे सामाजिक उपयोगिता के कुछ व्यवसाय होते हैं। वे चिकित्सा तथा वकालत के व्यवसाय के लिये न्यूनतम योग्यताएँ निर्धारित करते हैं और उन व्यवसायो को वेही लोग कर सकते हैं जिनमे निर्धारित योग्यताएँ होती हैं। वे कारखाना-कानून, खान कानून, सफाई आदि-सम्बन्धी कानून बनाते हैं जिनका उद्देश्य व्यक्तियो की स्वय उनके द्वारा किये हुए कामो से उत्पन्न खतरो से रक्षा करना ही है। इन कार्यो मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध माननेवाला सिद्धान्त गलत है।

व्यक्तिवाद की मूल मान्यताएँ ही गलत नहीं हैं वरन् जो तर्क उसके समर्थन मे प्रस्तुत किये गये हैं, वे भी सत्य नही हैं। यह ऊपर दिखलाया जा चुका है कि समस्त सरकारी नियमनो का व्यक्ति के चरित्र-विकास पर प्रतिकूल प्रभाव नही पडता। अब तो यह और भी स्पष्ट होता जा रहा है कि राज्य के नियन्त्रण के क्षेत्र मे विस्तार किये बिना यह आशा नही की जा सकती कि समाज के बहुसख्यक लोग अपना स्वतन्त्र रूप से विकास कर सकेंगे। इस प्रकार व्यक्तिवादियो के नैतिक तर्क से हमे कोई विशेष सहायता नही मिलती। इसी प्रकार आर्थिक तर्क से भी हम कोई निश्चित निर्णय नही कर सकते। स्वतन्त्र प्रतियोगिता मे भलाई ही भलाई होती हो ऐसा नही है। इससे उन लोगो को लाभ भले ही हो जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हैं परन्तु गरीबो के लिये तो निश्चय यह एक अभिशाप ही है। इसमे बडे प्रतियोगी छोटे प्रतियोगियो का नाश करते हैं। स्वतन्त्र प्रतियोगिता के परिणाम उसी समय ठीक निकल सकते है जब कि समाज मे आर्थिक समता हो। उसके अभाव मे प्रतियोगिता नाममात्र को स्वतन्त्र होती है और उसमे गरीबो का शोषण ही होता है, इससे बर्बादी ही अधिक

होती है। इसमे "भौतिकवाद, बेईमानी एव अन्याय बढते हैं तथा नैतिक चरित्र का सामान्य स्तर नीचा होता है।" औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व काल म तथाकथित इकरार की स्वतन्त्रता (Freedom of Contract) का अर्थ था मजदूरों के लिये अल्प वेतन, अधिक घण्टो तक काम, शरीर की कुण्ठित वृद्धि और निम्नतम जीवन-स्तर। आर्थिक शक्तियो के खुल कर मैदान में कभी कभी बडे अवाछनीय परिणाम निकलते हैं। आर्थिक मामलो में हस्तक्षेप न करने की नीति वर्तमान समाज की आवश्यकताओ के अनुकूल नही है। वैज्ञानिक तर्क के सम्बन्ध मे जितना कम कहा जाय, उतना ही अच्छा है। यह मनुष्य के नैतिक पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करता है। पशु जगत म "योग्यतम की विजय का सिद्धान्त" जिस प्रकार लागू है, उसी प्रकार उसे मानव ससार म लागू नही किया जा सकता।* मानव-जगत मे वे ही जीवित रहते हैं जो नैतिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं, भौतिक दृष्टि से योग्यतम नही। प्राणि विज्ञान सम्बन्धी तर्क का प्रयोग शासन द्वारा व्यापार एव वाणिज्य के नियमन के सम्बन्ध म जिस प्रकार किया जा सकता है, उसी प्रकार उसका प्रयोग रोगियो और गरीबों की सहायता के सम्बन्ध मे भी किया जा सकता है। जो सिद्धान्त अनाथो, रोगियो तथा गरीबों को राज्य द्वारा सहायता देने की निन्दा करता है, वह समझदार व्यक्तियों को घृणित मालूम होता है।

जो तर्क शासन की पिछली भूलो के आधार पर स्थिर है वह भी निरर्थक नही है। यदि अतीत मे किसी समय उद्योग तथा वाणिज्य के सम्बन्ध मे सरकारी हस्तक्षेप किसी मामले म अनुचित रहा तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि भविष्य मे हर मामले मे ऐसा ही होगा। यदि कुछ उदाहरणो म खाद्य पदार्थों का मूल्य नियन्त्रण तथा पण्यो का आयात निर्यात प्रतिबन्ध समाज के लिये हानिप्रद सिद्ध हुआ, तो इससे यह परिणाम नही निकालना चाहिये कि राज्य को कारखाना कानून तथा सफाई आदि के कानून नहीं बनाना चाहिये। पिछले कुछ वर्षों के अनुभव म प्रमाणित होता है कि सरकार बडे पैमाने पर आर्थिक कार्य भी बडी कुशलता से कर सकती है, उदाहरणार्थ, डाक तथा रेलवे का सचालन। रूस तथा इङ्गलैण्ड म (मजदूर दल की सरकार के अधीन) जो कुछ हो रहा है उससे स्पष्ट प्रकट होता है कि राज्य उद्योगो का नियन्त्रण

* 'Spencer made the fatal mistake which many continue to make of transferring concepts that are appropriate to one science to another where the phenomena are quite different' (Hallowell Main Currents in Modern Political Thought)

और प्रबन्ध बड़ी कुशलता तथा सफलता के साथ कर सकते है। अनुभव के बढ़ने से राज्यो की इन क्षेत्रो मे कार्य प्रणाली और भी अच्छी हो जायगी। इस सम्बन्ध मे यह निर्देश करना अप्रासगिक नही होगा कि व्यक्तिगत उद्योग उन दोषो से मुक्त नही है, जो उद्योगो के सरकारी नियन्त्रण पर आरोपित किये जाते है। अन्तर केवल इतना ही है कि "राज्य एक काच के भवन मे रहता है, हम यह देखते हैं कि वह क्या करने की चेष्टा करता है और उसकी सभी असफलताएँ बढा-चढाकर हमारे सामने रखी जाती है। परन्तु व्यक्तिगत व्यवसाय एव उद्योग लोहे और सीमेंट की मजबूत इमारतो म रहते हं। वे क्या करते हैं, उनके विषय म जनता कम जानती है। जब उनकी बुराइया अधिक भयङ्कर और स्पष्ट हो जाती है तभी हम उनके विषय मे सुनते है।

अन्त मे, इस तर्क के उत्तर मे कि राज्य उद्योगो की व्यवस्था करने म अयोग्य है, यह कहा जा सकता है कि इसम सत्याश है। सरकार द्वारा उद्योगो का प्रबन्ध उन कारणो से जो 'लाल फीते' मे अनिवार्य है, अवश्य ही दोषपूर्ण होगा। व्यवसाय के सरकार द्वारा सचालन म व्यक्तिगत लाभ की भावना का अभाव भी सफलता के मार्ग मे बाधक होता है और इसके साथ ही काम मे साधारण आलस्य तथा उत्पादन के उन्नत ढङ्गो के प्रयोग म प्रोत्साहन की कमी भी अनिवार्य है। परन्तु जो व्यक्ति राज्य द्वारा समाज के आर्थिक जीवन के समाज के हित मे नियमन एव नियन्त्रण के अधिकार का समर्थन करते हैं वे इन तर्कों को नही सुनते। समाजवादी तो उन पर बिल्कुल ध्यान नही देते।

उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि व्यक्तिवाद का समर्थन नही किया जा सकता। इसका आधार गलत मान्यताओ पर है और उसके समर्थन म जो तर्क किये गये है, वे दुर्बल है। यह सिद्धान्त वर्तमान औद्योगिक युग की आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता। इसके अतिरिक्त इसका पूँजीवाद के साथ गठबन्धन होने के कारण यह उन आक्षेपो से नही बच सकता जो पूँजीवाद के विरुद्ध किये जाते है। समाजवादी इस सिद्धान्त को इसलिये बुरा बताते हैं कि यह आर्थिक न्याय की उनकी कल्पना के विपरीत है क्योकि इसके अन्तर्गत व्यक्ति के काम और उसके पुरस्कार मे कोई सगति नही है। हम यह

* 'The state lives in a glasshouse we see what it tries to do, and all its failures partial or total are made the most of But private enterprise is sheltered under good opaque bricks and mortar The public rarely knows what it tries to do and only hears of its failures when they are gross and patent to all the world (Huxley quoted by Garner op cit p 470)

अधिकाधिक अनुभव करने लगे हैं कि औद्योगिक मजदूर तथा उपभोक्ता दास ही पूँजीपति की उन महान् सत्ताओं से रक्षा पाने के पात्र हैं जो उत्पादन के आधुनिक ढंग के कारण उनके हाथों में पहुँच गई है। सभ्यता की जटिलता की भी यह माँग है कि व्यक्तिगत हित सामाजिक हितों के अधीन हो और हमारी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राज्य के कार्य-क्षेत्र में विस्तार हो। आज समाज की आवश्यकता स्वतन्त्र प्रतियोगिता के लाभों पर जोर देने की नहीं वरन् सहकारिता एवं नियमित प्रयत्न के गुणों एवं आवश्यकताओं को स्वीकार करने की है। अब व्यक्तिवादियों की राज्य की निषेधात्मक कल्पना में लोगों का विश्वास हटता जा रहा है और राज्य अब समाज-सेवी राज्य बनता जा रहा है। लोग अब यह मानते जा रहे हैं कि राज्य को सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि करनी चाहिये।

नूतन व्यक्तिवाद—

ऊपर हमने यह मत प्रकट किया था कि समष्टिवाद व्यक्तिवाद का स्वाभाविक परिणाम था। बहुजन की स्वतन्त्रता एवं उनके अधिकारों की सार्थकता के लिये राज्य ने अपना कार्यक्षेत्र बहुत बढ़ा लिया और वह नाना प्रकार के कार्य करने लगा। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान में युद्ध जनित असाधारण परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिये राज्य ने अपना कार्यक्षेत्र और भी बढ़ा लिया जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बड़ा आघात पहुँचा जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिवाद जिसका प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक काफी कम हो गया था फिर जोर पकड़ने लगा। परन्तु अब उसने नया रूप धारण किया। जब तक सामाजिक जीवन में जटिलता नहीं आई थी तब तक व्यक्ति राज्य से अपने अधिकारों की रक्षा स्वयं करने में समर्थ था परन्तु आजकल व्यक्ति राज्य के विशाल यन्त्र के सामने असहायता का अनुभव करता है। आजकल अनेक प्रकार के संगठित समुदाय हैं जिनका वह सदस्य होता है और जिनके द्वारा वह अपनी अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। राज्य की अपेक्षा उन संगठित समुदायों से उसका सम्बन्ध अधिक घनिष्ट होता है, उनके प्रति उसकी निष्ठा भी तीव्र होती है और उसके जीवन में उनका स्थान भी महत्वपूर्ण होता है। वह देखता है कि एकाकी रूप में उसके लिये अपने अधिकारों की रक्षा असम्भव है और इस लक्ष्य की सिद्धि समुदायों द्वारा हो सकती है। अब वह स्वयं नहीं, वरन् समुदाय के द्वारा, उसकी शक्ति से अर्थात् एक सामूहिक व्यक्ति के रूप में अपने अधिकारों की रक्षा करता है। इस प्रकार अब व्यक्ति के लिये समुदायों का महत्व बहुत बढ़ गया है और उसे राज्य से उतना मोह नहीं रह गया है।

जितना अपने समुदाया से है। अब यह राज्य को अपनी सम्पूर्ण निष्ठा भक्ति का पात्र नही समझता, उसे भी अन्य सगठित समुदायो के समान एक समुदाय मानता है और उनके लिये अपने-अपने क्षेत्र मे काय करने की स्वतत्रता की माग करता है, जैसे पहले वह स्वय अपने लिये स्वतत्रता की माँग करता था। जसे पहल एक व्यक्ति की स्वतत्रता के हित मे राज्य की सत्ता पर मर्यादा अरोपित करने की माँग की जाती थी उसी प्रकार अब समुदायो की स्वतत्रता के हित मे राज्य की सत्ता को मर्यादित करने की माँग की जाने लगी। माग एक ही है—राज्य की सत्ता को मर्यादित करन की ओर उसका प्रयोजन भी एक ही है—व्यक्ति की स्वतत्रता एव उसके अधिकारो की रक्षा ? अब व्यक्ति अपने अधिकारो की रक्षा के लिये समुदायो के लिये अधिकार चाहता है और इस प्रकार व्यक्तिवाद ने सामुदायिक व्यक्तिवाद का रूप ग्रहण कर लिया है। बाकर ने कहा है कि "यदि अब हम व्यक्तिवादी हैं तो हमारा रूप सामुदायिक व्यक्तिवादियो का हो गया है। हमारे 'व्यक्ति' समुदाय बनते जा रहे हैं।"*

सामुदायिक व्यक्तिवाद भी व्यक्तिवाद की तरह राज्य की अपरिमित सत्ता का विरोधी है। ऊपर हमने बहुवादी सिद्धात का विवेचन किया है। वह इसी नूतन व्यक्तिवाद का रूप है।

प्रश्न

१ व्यक्तिवाद से आप क्या समझते हैं ? उसकी क्या धारणाएं हैं ? राज्य के कायक्षेत्र के सम्बन्ध मे उसका क्या निष्कर्ष है ?

२ व्यक्तिवाद में समथन के लिये क्या तक दिये जाते हैं ? क्या वे आपको मान्य हैं ?

३ व्यक्तिवाद के गुण दोषों पर प्रकाश डालते हुए उसका मूल्यांकन कीजिये।

४ 'व्यक्तिवाद तथा समष्टिवाद मे भेद केवल शाब्दिक मालूम होता है, यथाथ नहीं।' बाकर के इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिये।

५ 'यदि अब हम व्यक्तिवादी हैं तो हमारा रूप सामुदायिक व्यक्तिवादियों का हो गया है।' (बाकर) इसका अथ स्पष्ट कीजिये।

६ राज्य के उचित कायक्षेत्र के सम्बन्ध मे व्यक्तिवाद तथा मर्यादित आदर्शवाद की तुलना कीजिये। (इस प्रश्न का उत्तर आदर्शवाद का अध्याय पढ़ने के बाद दीजिये।)

---

* 'If we are individualists now, we are corporate individualists Our individuals are becoming groups' (Barker Political Thought in England, p 158)

अध्याय ६

उपयोगितावाद
(Utilitarianism)

अठारहवीं शताब्दी में राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद के साथ ही साथ उपयोगितावाद का जन्म हुआ जिसे हम व्यक्तिवाद का ही एक परिष्कृत रूप कह सकते हैं। वास्तव में मूलतः उपयोगितावाद एक नैतिक सिद्धान्त है और प्राचीन भौतिक सुखवाद (Hedonism or Epicureanism) का परिमार्जित एवं आधुनिक रूप है। इसका अर्थ है कि जिस काम से सुख होता है वह अच्छा है और जिससे कष्ट होता है वह बुरा है। कामों की अच्छाई तथा बुराई की एकमात्र कसौटी उनसे होनेवाला सुख या दुःख है। प्राचीन भारतवर्ष में चार्वाक भौतिक सुखवादी था जिसका मत था—'जब तक जिओ, सुख से जियो और ऋण लेकर भी घी खाओ। मर जाने पर जब यह शरीर भस्म हो जायगा तो फिर लौट कर कौन आता है।'* प्राचीन यूनान में एपिक्यूरस के सम्प्रदायवालों ने ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में इस मत का आरम्भ किया था। एपिक्यूरस का मत था कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य भौतिक सुख तथा चिन्ताओं से मुक्ति प्राप्त करना है। उसका मत अफलातून और अरस्तू की राज्य-सम्बन्धी आदर्शवादी कल्पना की प्रतिक्रिया था। अफलातून तथा अरस्तू ने राज्य को एक महान् प्राकृतिक एवं नैतिक संस्था बतलाया था जिसका व्यक्ति एक अभिन्न अंग था परन्तु एपिक्यूरस ने राज्य के इस मत को अस्वीकार करके उसे व्यक्ति के सुख का साधनमात्र बतलाया। मध्य युग में सुखवाद बिल्कुल लुप्त हो गया परन्तु वर्तमान युग के प्रारम्भ में इसका पुनः उदय हुआ और उसने दर्शन तथा राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया। इस

---

* यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

सुखवाद का रूप व्यापक हो गया। व्यक्ति के सुख के साथ साथ अन्य लोगों के अर्थात् समाज के सुख का भी उसमें समावेश हुआ, सुख के स्थान पर उपयोगिता शब्द का प्रयोग होने लगा और सुखवाद शब्द की जगह उपयोगितावाद ने ले ली।

हम अभी देख चुके हैं कि प्राचीन काल में यूनान में एपिक्यूरस ने राज्य को मनुष्य के सुख का साधन मात्र माना था। वर्तमान काल में यही धारणा पुनर्जीवित हुई और जब राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रवेश हुआ तो राज्य के सम्बन्ध में भी उन्हीं विचारों का प्रादुर्भाव हुआ।

इस सिद्धान्त का राजनीतिक क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयोग प्रकट रूप से अंग्रेज दार्शनिक डविड ह्यूम (१७११ १७७६) ने किया जब कि उसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा कि हम राज्य का अस्तित्व सामाजिक समझौते के आधार पर नहीं वल्कि उपयोगिता के आधार पर ही समझ सकते हैं। ह्यूम के विचारों का फ्रांस में बड़ा प्रभाव पड़ा। वहाँ अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कई उपयोगितावादी विचारक हुए जिनमें हेल्वेटियस तथा हालबेश प्रसिद्ध हैं जिन्होंने बतलाया कि आचार शास्त्रियों तथा कानून-निर्माताओं को आचार के नियमों तथा कानूनों का निर्माण करते समय जो मानदण्ड अपने समक्ष रखना चाहिये वह है 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख।'* फ्रांस के भौतिक अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का आर्थिक क्षेत्र में प्रयोग करके राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की तथा व्यक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ देने की सलाह दी। फ्रांस से परिपक्व होकर ये विचार वापस इंगलण्ड पहुँचे जहाँ जेरेमी बेन्थम ने उनके आधार पर उपयोगितावाद का एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त खड़ा किया।

वे दिन औद्योगिक क्रान्ति के थे जिसके फलस्वरूप इङ्गलैंड में यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले बड़े-बड़े कारखाने खुल रहे थे और कुटीर-उद्योगों का ह्रास हो रहा था। इन उद्योगों के नष्ट हो जाने से गाँवों के अनेक लोग बेकार हो रहे थे और काम की तलाश में कारखानेवाले नगरों में एकत्र हो रहे थे। इन बेकार लोगों की विवशता एवं असहाय अवस्था से लाभ उठा कर पूँजीपति लोग उनका शोषण करने लगे। मजदूरों की बड़ी दुर्दशा थी। उन्हें न ठीक काम मिलता था, न उचित वेतन ही मिलता था और न उन्हें रहने के लिये

* Greatest pleasure of the greatest number

अध्याय ६

उपयोगितावाद
(Utilitarianism)

अठारहवीं शताब्दी में राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद के साथ ही साथ उपयोगितावाद का जन्म हुआ जिसे हम व्यक्तिवाद का ही एक परिष्कृत रूप कह सकते हैं। वास्तव में मूलतः उपयोगितावाद एक नैतिक सिद्धांत है और प्राचीन भौतिक सुखवाद (Hedonism or Epicureanism) का परिमार्जित एवं आधुनिक रूप है। इसका अर्थ है कि जिस काम से सुख होता है वह अच्छा है और जिससे कष्ट होता है वह बुरा है। कामों की अच्छाई तथा बुराई की एकमात्र कसौटी उनमें होनेवाला सुख या दुःख है। प्राचीन भारतवर्ष में चार्वाक भौतिक सुखवादी था जिसका मत था—'जब तक जियो सुख से जियो और ऋण लेकर भी घी खाओ। मर जाने पर जब यह शरीर भस्म हो जायगा तो फिर लौट कर कौन आता है।'* प्राचीन यूनान में एपिक्यूरस के सम्प्रदायवालों ने ईसा से पहले तीसरी शताब्दी में इस मत का आरम्भ किया था। एपिक्यूरस का मत था कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य [illegible] सुख तथा चिन्ताओं से मुक्ति प्राप्त करना है। उसका मत अफलातून तथा अरस्तू की राज्य-सम्बन्धी आदर्शवादी कल्पना की प्रतिक्रिया था। अफलातून तथा अरस्तू ने राज्य को एक महान् प्राकृतिक एवं नैतिक संस्था बतलाया था जिसका व्यक्ति एक अभिन्न अंग था परन्तु एपिक्यूरस ने राज्य की इस धारणा को अस्वीकार करके उसे व्यक्ति के सुख का साधनमात्र बतलाया। मध्य युग में सुखवाद बिल्कुल लुप्त हो गया परन्तु वर्तमान युग के आरम्भ में इसका पुनः जन्म हुआ और उसने दर्शन तथा राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया। इस

---

* यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

सुखवाद का रूप व्यापक हो गया। व्यक्ति के सुख के साथ साथ अन्य लोगो के अर्थात् समाज के सुख का भी उसमे समावेश हुआ, सुख के स्थान पर उपयोगिता शब्द का प्रयोग होने लगा और सुखवाद शब्द की जगह उपयोगितावाद ने ले ली।

हम अभी देख चुके हैं कि प्राचीन काल मे यूनान म एपिक्यूरस ने राज्य को मनुष्य के सुख का साधन मात्र माना था। वर्तमान काल म यही धारणा पुनर्जीवित हुई और जब राजनीतिक क्षेत्र म इसका प्रवेश हुआ तो राज्य के सम्बन्ध म भी उन्ही विचारो का प्रादुर्भाव हुआ।

इस सिद्धान्त का राजनीतिक क्षेत्र मे सर्वप्रथम प्रयोग प्रकट रूप से अंग्रेज दार्शनिक डविड ह्यूम (१७११ १७७६) ने किया जब कि उसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा कि हम राज्य का अस्तित्व सामाजिक समझौते के आधार पर नही वरिक उपयोगिता के आधार पर ही समझ सकते है। ह्यूम के विचारो का फ्रास मे बडा प्रभाव पडा। वहाँ अठारहवी शताब्दी के अन्त म कई उपयोगितावादी विचारक हुए जिनम हल्वेटियस तथा हालबेक प्रसिद्ध हैं जिन्होने बतलाया कि आचार शास्त्रियो तथा कानून-निर्माताओ को आचार के नियमो तथा कानूनो का निर्माण करते समय जो मानदण्ड अपने समक्ष रखना चाहिये वह है 'अधिक से अधिक लोगो का अधिक से अधिक सुख।'* फ्रास के भौतिक अर्थशास्त्रियो ने इस सिद्धान्त का आर्थिक क्षेत्र मे प्रयोग करके राज्य को आर्थिक मामलो म हस्तक्षेप न करने की तथा व्यक्तियो को स्वतन्त्र छोड देने की सलाह दी। फ्रास से परिपक्व होकर ये विचार वापस इगलैण्ड पहुँचे जहा जेरेमी बेन्थम ने उनके आधार पर उपयोगितावाद का एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त खडा किया।

वे दिन औद्योगिक क्रान्ति मे थे जिसके फलस्वरूप इङ्गलैण्ड मे यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले बडे-बडे कारखाने खुल रहे थे और कुटीर-उद्योगो का ह्रास हो रहा था। इन उद्योगो के नष्ट हो जाने से गावो के अनेक लोग बेकार हो रहे थे और काम की तलाश म कारखानेवाले नगरो मे एकत्र हो रहे थे। इन बेकार लोगो की विवशता एव असहाय अवस्था से लाभ उठा कर पूंजीपति लोग उनका शोषण करने लगे। मजदूरो की बडी दुर्दशा थी। उन्हें न ठीक काम मिलता था, न उचित वेतन ही मिलता था और न उन्हें रहने के लिये

* Greatest pleasure of the greatest number'

ठीक ठाक जगह ही मिलती थी। फलत वहाँ अनेक प्रकार की समस्याए उपस्थित हो गई थी और सुधार की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत हो रही था। उन्ही दिनो फ्रास म विचार क्षेत्र मे बडी हलचल थी और सारा वातावरण आलोचनामय हो रहा था। परम्परागत सस्थाओ की तीव्र आलोचना हो रही थी और स्वतन्त्रता समानता जसे नये आदर्शो का प्रचार हो रहा था। इसी वातावरण मे और कुछ अश तक इसी के कारण फास मे राज्य-क्रांति हुई जिसने प्राचीन राज्य-व्यवस्था को नष्ट करके प्रजातन्त्र की स्थापना की। इसका प्रभाव अन्य देशो मे भी पडा। इङ्गलैण्ड भी अछूता न बचा। वहाँ भी वतमान सस्थाओ की आलोचना होने लगी और सुधार की माग होने लगी। इस समस्त परिस्थिति का बेन्थम पर बडा प्रभाव पडा। उसने सुधार की आवश्यकता महसूस की और उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर कानूनी तथा राजनीतिक सुधार की योजना पश की। बेन्थम के अनेक अनुयायी भी थे जिनमें जेम्स मिल, उसका पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल तथा ऑस्टिन मुख्य हैं।

वेन्थम का उपयोगितावाद—

बेन्थम का कथन था कि प्रकृति ने मनुष्य को दो स्वामियो—सुख और दुःख—के अधीन रखा है। यह बतलाना कि हमे क्या करना चाहिये और यह निर्धारित करना कि हम क्या करेंगे केवल उन्ही का काम है। अपने समस्त विचारो के लिये हम उन्ही के ऋणी हैं और हमारे तथा जीवन के समस्त निश्चय उन्ही के द्वारा निर्धारित होते है।' यह उपयोगितावाद का मूल मत्र है। सब मनुष्य सुख प्राप्त करना तथा दुःख मे दूर रहना चाहते है। वह काम अच्छा है जिससे सुख की प्राप्ति हो और जिस काम से दुःख प्राप्त हो वह बुरा है। समस्त कामो तथा वस्तुओ की अच्छाई या बुराई की यही कसौटी है। इस कसौटी का नाम उपयोगिता है। बेन्थम ने उपयोगिता की व्याख्या इस प्रकार की है— किसी वस्तु या काय का 'वह गुण जिससे लाभ, हर्ष, प्रसन्नता अथवा हित उत्पन्न हो या जिससे हानि पीडा, अहित अथवा अप्रसन्नता का निवारण

---

* Nature has placed man under the governance of two sovereign masters pain and pleasure It is for them alone to point out what we ought to do as well as to determine what we shall do we owe to them all over ideas we refer to them all our judgments and all the determinations of our life (Bentham)

हो।' इसके अनुसार उपयोगिता का सिद्धान्त 'वह सिद्धांत है जो प्रत्येक कार्य का अनुमोदन या उसकी निंदा उस पक्ष की, जिसका हित विचारणीय है, प्रसन्नता में वृद्धि या कमी करने की उस कार्य की प्रवृत्ति के आधार पर करता है।'* जिस कार्य से किसी व्यक्ति की प्रसन्नता में वृद्धि होती है वह उचित है और जो कार्य उसमें कमी करता है वह अनुचित है। नैतिकता का मानदण्ड यही है। इस सिद्धान्त का प्रयोग व्यक्ति तथा समाज दोनों के सम्बन्ध में हो सकता है। व्यक्ति अपने कार्यों के औचित्य का निर्णय अपने सुख दुःख के आधार पर करता है। यदि इसका प्रयोग समाज के सम्बन्ध में हो तो सूत्र का रूप हो जाता है 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख।' राज्य या समाज अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक सुख की दृष्टि से अपने कार्यों के औचित्य का निर्णय करते हैं।

बेंथम इस कसौटी को बड़ी सरल और व्यावहारिक बतलाता था। इसमें शास्त्र जैसी दुर्बोध और दुष्प्राप्य कोई बात नहीं है। इसका आधार वास्तविकता है क्योंकि हम जानते हैं कि मनुष्य सुख दुःख का विचार करके ही काम करते हैं और सुख-दुःख की माप-तौल हो सकती है।

उसने चौदह प्रकार के साधारण सुख और बारह प्रकार के साधारण दुःख बतलाये हैं। उसका कथन था कि सुख दुःख की माप हो सकती है क्योंकि सब सुख एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें मात्रा का ही भेद होता है, गुण का नहीं, सुख दुःख न्यूनाधिक ही होते हैं, उच्चतर या निम्नतर नहीं। सुख दुःख की मात्रा ६ बातों पर विचार करके की जा सकती है—(१) तीव्रता, सुख या दुःख कितना तीव्र है, (२) अवधि, वह कितनी देर ठहरता है (३) निश्चितता या अनिश्चितता, किसी कार्य में अपेक्षित सुख निश्चित है या अनिश्चित, (४) निकटता या दूरी, वह तुरन्त ही होता है या देर से, (५) उत्पादक शक्ति, उसमें और भी सुख (या दुःख) उत्पन्न होगा या नहीं, (६) शुद्धता, उसमें दुःख (या सुख) तो नहीं होगा। इन ६ बातों से व्यक्ति के सुख का हिसाब लगाया जा सकता है। यदि सामूहिक सुख-दुःख का हिसाब लगाना है तो (७) विस्तार का और विचार करना पड़ेगा अर्थात् उसमें कितने लोगों को सुख

---

* By the principle of utility is meant that principle which approves or disapproves of every action whatsoever according to the tendency it appears to have to augment or diminish the happiness of the party whose interest is in question. (Bentham)

होगा, सब को या अधिक का। इन बातों का विचार करके और हिसाब लगाकर प्रत्येक काम या वस्तु से उत्पन्न होनेवाले सुख या दुःख की माप की जा सकती है तथा उसके औचित्य एवं अनौचित्य का निर्णय किया जा सकता है। सुख-दुःख का हिसाब लगाते समय प्रत्येक व्यक्ति को समान महत्व देना चाहिए। एक व्यक्ति का मूल्य एक व्यक्ति के बराबर ही होना चाहिए, एक से अधिक नहीं।

चूँकि सभी व्यक्ति सुख चाहते हैं इस कारण समाज और राज्य के कार्यों की कसौटी अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख होनी चाहिए। व्यक्तियों को ऐसे कार्यों से रोकना चाहिए जो बुरे या समाज विरुद्ध हों। ऐसे कार्यों से रोकने का एक ही उपाय है कि विभिन्न कार्यों के साथ सुख या दुःख की भावना जोड़ दी जाय और इस प्रकार व्यक्तियों को उन कार्यों को करने या न करने के लिये प्रेरित किया जाय। कामों के साथ इस तरह कृत्रिम रीति से जुड़े हुए सुख या दुःख को बेन्थम ने 'दबाव' (Sanction) कहा है। उसने दबाव चार प्रकार के बतलाये हैं—(१) प्राकृतिक—युक्त आहार विहार से स्वास्थ्य की प्राप्ति और अधिक खा जाने से बीमार पड़ने का भय, (२) सामाजिक—अच्छे काम करने पर प्रशंसा और बुरे काम करने पर लोक-निन्दा का भय, (३) धार्मिक—पुण्य कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति और पाप से दैवी दण्ड का भय तथा (४) राजनीतिक—कानून के पालन से निर्विघ्न जीवन की प्राप्ति और अपराध करने पर दण्ड पाने का भय। इन सब में राज्य का दबाव ही सबसे अधिक प्रभावशाली है क्योंकि मनुष्य प्रकृति के नियमों, लोकमत तथा दैवी नियमों की अवहेलना कर सकता है परन्तु राज्य के दण्ड से नहीं बच सकता। अतः समाज के कल्याण-सम्पादन का काम राज्य ही कर सकता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार उसने कानून, न्याय, प्रशासन, जेल, शिक्षा आदि के सुधार के लिये विशद योजनाएँ बनाई और सुधार-कार्य पर बड़ा जोर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड में जो अनेक प्रकार के सुधार हुए उनमें बेन्थम का प्रभाव स्पष्ट है।

बेन्थम उपयोगिता को ही राज्य का आधार मानता था। उसका कथन था कि राज्य के आदेशों का पालन लोग कुछ तो उसकी उपयोगिता देख कर और कुछ आदत के कारण करते हैं। वह प्राकृतिक कानून, प्राकृतिक अधिकार तथा सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का विरोधी था। हाब्स के समान वह भी कानून को आदेश मानता था। आदेश ईश्वर या मनुष्य ही दे सकता है, अतः

प्रकृति या विवेक नही। वास्तविक अधिकार वे ही हो सकते हैं जिनका उल्लंघन किये जाने पर दण्ड मिल सके। ऐसे अधिकार कानूनी ही हो सकते हैं। नागरिक के राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नही हो सकते क्योंकि राज्य को बाध्य करनेवाली कोई दूसरी शक्ति नहीं है। राज्य यदि समझौते अथवा अनुमति के आधार पर ही स्थिर होता तो व्यक्ति को समझौता तोड कर या अपनी अनुमति वापस लेकर राज्य की अवहेलना करने का अधिकार होता परन्तु ऐसा नही है।

बेन्थम के मत म राज्य का प्रभुत्व सर्वोच्च एव असीमित है, परन्तु ऐसा केवल सिद्धान्त की दृष्टि से ही है। व्यवहार मे उपयोगिता के सिद्धान्त के कारण वह सीमित हो जाता है क्योकि शासक को समाज के रीतिरिवाजो का आदर करना पडता है और अपने कामो के विरुद्ध विद्रोह की सभावना का ध्यान रखना पडता है क्योंकि जनता स्वय किसी कानून का पालन करने या न करने का निर्णय उसकी उपयोगिता के आधार पर ही करती है।

बेन्थम पक्का जनतन्त्रवादी था। उसके जनतन्त्रवाद का आधार भी उपयोगिता का सिद्धान्त ही था। व्यक्ति अपने सुख या हित की प्राप्ति का ही प्रयत्न करता है। यदि एकतन्त्र हो तो राजा का हित-साधन होगा, यदि कुलीन-तन्त्र हो तो केवल कुलीनो अथवा धनियो का ही स्वार्थसाधन होगा। यदि अधिकतम लोगो का अधिकतम सुख प्राप्त करना ध्येय है तो वह जनतन्त्र से ही प्राप्त हो सकता है।

आर्थिक मामलो मे बेन्थम के विचार एडम स्मिथ के विचार से मेल खाते थे। साधारणतया वह आर्थिक कानूनो का विरोधी था और मुक्त व्यापार का समर्थक था परन्तु उसका यह आशय नही था कि आर्थिक विषयो मे राज्य बिल्कुल हस्तक्षेप न करे। उसके लिये तो राज्य के कार्य की कसौटी उपयोगिता थी।

जॉन स्टुअर्ट मिल का उपयोगितावाद—

बेन्थम के अनुयायियो मे जॉन स्टुअर्ट मिल सबसे महत्वपूर्ण था जिसने बेन्थम के उपयोगितावाद के दार्शनिक पक्ष मे संशोधन करके उसे आदर्शवाद के निकट पहुँचा दिया। उसका मुख्य संशोधन सुख की धारणा के सम्बन्ध मे है। बेन्थम ने सभी सुख समान कोटि के माने थे और उनमे केवल मात्रा का भेद ही माना था, गुण का नही। उसकी दृष्टि मे सब सुख समान थे, कोई सुख उच्च कोटि का या निम्न कोटि का नही था। परन्तु मिल ने सुखो मे गुण

के आधार पर भेद किया और उच्च कोटि के तथा निम्न कोटि के सुखों में अन्तर माना। उसका कथन था कि एक विद्वान् को सत्साहित्य के पठन-पाठन से जो सुख मिलता है या एक परोपकारी का किसी असहाय व्यक्ति की सहायता करने से जो सुख प्राप्त होता है वह किसी मांसाहारी को मांस खाने में जो सुख मिलता है उससे कहीं उत्कृष्ट कोटि का होता है। उसकी दृष्टि में तो यदि कोई विद्वान अपनी स्थिति में पूर्णतया सन्तुष्ट न भी हो तो भी वह उस मूर्ख से अच्छा है जो अपनी स्थिति में सन्तुष्ट है। 'एक सन्तुष्ट सूअर की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मानव होना अच्छा है, एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात होना अच्छा है।'* इस प्रकार उच्चतर तथा निम्नतर सुख में भेद करके उसने बेन्थम की सुख की कल्पना बदल दी। बेन्थम के अनुसार सुख केवल भौतिक अथवा शारीरिक सुख ही था और इस प्रकार उसकी नैतिकता की कसौटी बाह्य थी। परन्तु मिल ने भौतिक तथा आध्यात्मिक सुख में भेद करके उस कसौटी को बाह्य तथा आन्तरिक दोनों माना और इस प्रकार उसे उच्च तथा अधिक मानवीय रूप दे दिया। परन्तु इसके साथ ही उसने अनजाने ही बेन्थम के दर्शन को गड्ढे में डाल दिया क्योंकि सुख-दुःख की मापतौल तो तभी हो सकती है जब वे केवल मात्रा में ही भिन्न हों, गुण में नहीं। कम या अधिक का तो जोड़-बाकी से हिसाब हो सकता है परन्तु उत्कृष्ट तथा निकृष्ट का हिसाब कैसे हो?

बेन्थम का उपयोगितावाद मूलतः व्यक्तिवादी था। व्यक्ति का उद्देश्य अधिकतम सुख प्राप्त करना था। राज्य का कार्य समस्त व्यक्तियों को समान समझ कर अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख सम्पादन करना था। बेन्थम की दृष्टि में समाज केवल विभिन्न व्यक्तियों का समूह था, उसकी कोई सावयव प्रकृति नहीं थी। परन्तु मिल इन सब बातों में अपने गुरु से भिन्न था। उसकी दृष्टि में मनुष्य का लक्ष्य अपनी शक्तियों का उच्चतम तथा अत्यन्त सामंजस्य पूर्ण विकास करना था, अधिकतम सुख की प्राप्ति नहीं। वह सब व्यक्तियों को बराबर नहीं समझता था। इसी कारण जहाँ बेन्थम समानता के आधार पर बहुमत के शासन का समर्थन करता था, वहाँ मिल असमानता के आधार पर शासन में योग्य व्यक्तियों को प्रधानता देना चाहता था। उसके मत में राज्य का लक्ष्य अधिकतम सुख नहीं वरन् मनुष्य की बौद्धिक शक्तियों का विकास था जिसके लिये व्यक्ति को स्वतन्त्रता की आवश्यकता थी। मिल व्यक्ति को

---

* It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied better Socrates dissatisfied than a fool satisfied (*Mill, Utilitarianism Liberty and Representative Government*, p 9)

स्वतन्त्रता का बड़ा समर्थक था। वह समाज का व्यक्ति के उन्हीं कामों में हस्तक्षेप करने का अधिकार स्वीकार करता था जिनका प्रभाव दूसरे व्यक्तियों पर पड़ सकता है। उनकी दृष्टि में समाज कोई यांत्रिक संस्था नहीं वरन् अपने विचारों के अनुकूल अपने कार्यों में परिवर्तन करनेवाली एक सजीव संस्था थी।

समाज की ऐसी कल्पना के अनुकूल वह व्यक्ति के हित तथा सार्वजनिक हित के बीच की दूरी को कम करना चाहता था। वह व्यक्ति को स्वभाव से सामाजिक समझता था और कहता था कि व्यक्ति अपने सुख तथा सम्पूर्ण समाज के हित में अनिवार्य रूप से ऐसा अटूट सम्बन्ध समझता है कि उसे सामान्य हित की वृद्धि के लिये कार्य करने की आदत पड़ जाती है। वह ईसामसीह की इस शिक्षा में उपयोगितावादी नैतिकता का पूर्ण विकसित रूप देखता था—'जो तुम दूसरों से अपने लिये चाहते हो वही दूसरों के साथ करो। अपने पड़ोसी से उसी प्रकार प्रेम करो जैसे अपने आप से करते हो।'*

राजनीतिक तथा सामाजिक मामलों में तो मिल पक्का व्यक्तिवादी था और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक था परन्तु आर्थिक मामलों में बेन्थम के विपरीत वह समाजिक कल्याण की दृष्टि से राज्य के हस्तक्षेप का तथा राज्य की ओर से अनेक कार्यों को करवाने के पक्ष में था और इस क्षेत्र में उसी प्रकार समाजवाद के निकट पहुँच गया था जैसे व्यक्ति के लक्ष्य, समाज का स्वरूप तथा राज्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में आदर्शवाद के निकट जा पहुँचा था। यद्यपि उसके विचारों में असंगति थी और वह व्यक्ति तथा समाज के हितों में समुचित रीति से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाया था फिर भी एक आदर्शवादी की तरह व्यक्तित्व की रक्षा तथा सामाजिक कल्याण का सम्पादन ही उसका लक्ष्य था। मिल अपने सिद्धान्त को अंत तक उपयोगितावाद का नाम ही देता रहा परन्तु स्पष्टतः उसने बेन्थम के कट्टर उपयोगितावाद का आधार नष्ट कर दिया था। किन्तु इसके साथ ही उसमें कुछ बहुमूल्य बातें जोड़कर उसने उसकी रक्षा कर ली। आइवर ब्राउन ने कहा है कि 'यही कारण है कि उपयोगितावादी सिद्धान्त में, दीर्घकाल से निन्दित होते हुए भी, अमरत्व की संभावना दिखाई देती है।

---

* To do as you would be done by and to love your neighbour as yourself, constitute the ideal perfection of utilitarian morality (Mill Utilitarianism, Liberty and Representative Government p 16)

उपयोगितावाद का सामान्य रूप—

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, उपयोगितावाद वास्तव में नैतिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार किसी भी कार्य, वस्तु या संस्था के औचित्य अथवा अनौचित्य का निर्णय उसकी उपयोगिता के आधार पर करना चाहिये। राज्यविज्ञान का अध्ययन करनेवालों के लिये यह सिद्धान्त इस कारण महत्वपूर्ण है कि, जैसा हम अभी देख चुके हैं, अठारहवीं शताब्दी में अनेक अंग्रेज विचारकों ने इसका प्रयोग प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त तथा उस पर आधारित राज्य के कार्यों के सिद्धान्त का विरोध करने के लिये किया। प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त व्यक्तिवादी सिद्धान्त है और वह राज्य के कामों को रक्षा तथा न्याय तक ही सीमित रखता है। अन्य प्रकार के कामों में वह राज्य के हस्तक्षेप का विरोध करता है। उपयोगितावादी विचारक भी व्यक्तिवादी थे परन्तु वे समाज के असंख्य लोगों की दुर्दशा देख रहे थे और समझते थे कि उनकी दुर्दशा तभी मिट सकती है जब राज्य उनके हित के लिये काम करे। इसी कारण उन्होंने उपयोगितावादी सिद्धान्त के आधार पर कानूनी तथा राजनीतिक सुधारों की योजनाएँ प्रस्तुत की और सुधारकार्य पर जोर दिया। इस प्रकार वे प्रधानतः कानून-सुधारक थे। उन्होंने आग्रह किया कि उन समस्त कानूनों में संशोधन होना चाहिये जो समाज की प्रगति में बाधा डाल रहे हैं, चाहे उनका आधार रीतिरिवाज हो या प्राकृतिक अधिकार। औचित्य एवं अनौचित्य, श्रेष्ठता तथा निकृष्टता, अच्छाई या बुराई की वह कसौटी, जिसका प्रयोग राज्य को करना चाहिये, जनता का सुख है, दैवी प्रेरणा, अन्तरात्मा का आदेश या विवेक के कोरे अमूर्त सिद्धान्त नहीं। वे यह मानते थे कि अन्य कार्य क्षेत्रों के समान राजनीतिक क्षेत्र में भी उपयोगिता या मानव कल्याण का हेतु ही अच्छाई की कसौटी है। वह शासन सर्वश्रेष्ठ है, जिसका संगठन ऐसा है जो राज्य के अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक सुख अथवा कल्याण का सम्पादन कर सके।

इस प्रकार उपयोगितावाद राज्य का सिद्धान्त नहीं, उसके लक्ष्य का सिद्धान्त है। वह दार्शनिक नहीं, एक अत्यन्त व्यावहारिक प्रणाली है। अमूर्त सिद्धान्तों को लेकर नहीं चलता। वह तो मनुष्य के स्वभाव को, जगत को देखता है और जैसी परिस्थिति उसे दिखाई देती है उसके अवलोकन तथा विश्लेषण के आधार पर क्या होना चाहिये उसका बुद्धिपूर्वक निर्णय करता है। इस प्रकार उसकी प्रणाली विश्लेषणात्मक है और उसका दृष्टिकोण बौद्धिक व्यावहारिक एवं मानवीय है।

राज्य की आधारभूत धारणाओं पर लक्ष्य न देते हुए भी वह राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे कुछ मान्यताओं को लेकर ही आगे बढ़ता है। वह राज्य को ऐसी संस्था मानता है जिसकी स्थापना मनुष्यों ने ज्ञानपूर्वक स्वेच्छा से अपनी सुरक्षा तथा सुविधा के लिये की है और जिसमे वे आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकते हैं। राज्य नागरिकों की रचना है, अत उसकी कोई स्वतंत्र प्रकृति नही है। उसका आधार उपयोगिता है। हम राज्य को इसलिये मानते हैं, हम उसके आदेशों का इसलिये पालन करते हैं कि वह हमारे लिये उपयोगी है अर्थात्, हमें उससे सुख सुविधा प्राप्त होती है अथवा हमारे दु ख एवं हमारी कठिनाइयां दूर होती है। यदि राज्य न हो तो सर्वत्र अव्यवस्था एवं अशान्ति फैल जायगी और हमे कष्ट होगा। राज्य के आदेशपालन का यही एकमात्र आधार है। राज्य का अस्तित्व इस कारण है कि हम उसकी आवश्यकता है। यद्यपि मिल के समान कुछ उपयोगितावादी मनुष्य को सामाजिक मानते थे तो भी सामान्यतया उपयोगितावादी विचारक राज्य की सावयव प्रकृति को स्वीकार नही करते। वे समाज को व्यक्तियों का योगमात्र मानते है। उनका विचार है कि जो व्यक्तियों के लिए ठीक है वह समाज के लिये भी ठीक है। इस प्रकार यह सिद्धान्त व्यक्तिवादी है।

उपयोगितावादियों की यह धारणा थी कि मानव जीवन की अवस्थाओं मे राज्य के कानूनों द्वारा सुधार किया जा सकता है। अत उन्होंने संसदीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली, शासन की आर्थिक नीति, अपराधियों की दशा, शिक्षा आदि में क़ानून बनवा कर सुधार करवाने के प्रयत्न किये। बेन्थम ने सार्वभौम वयस्क मताधिकार, वार्षिक पार्लामेण्ट, गुप्त मतपत्र द्वारा मतदान, नगर शासन-सुधार, जेलों मे सुधार, जेलों के नियमों में संशोधन, भिक्षुओं के सुधार आदि की आवश्यकताओं पर जोर दिया। इन सुधारों के परिणाम बड़े महत्वपूर्ण निकले। प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता की कसौटी पर परीक्षा करने के स्वभाव होने के कारण उन्हें परम्परागत रिवाजों और संस्थाओं के लिये कोई आदर-भावना नहीं थी। उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाने पर वे उन्हें भी नष्ट कर देना चाहते थे। इसी कारण उपयोगितावादी विचारक दार्शनिक क्रान्तिवादी (Philosophical Radicals) भी कहलाते थे।

सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में उपयोगितावादियों के कार्यों की प्रशंसा करते हुए डेविडसन ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल थाट इन इङ्गलण्ड' मे लिखा है—'इङ्गलण्ड उपयोगितावादी क्रान्तिवादियों का बड़ा ऋणी है। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश भाग मे उनके विचारों का प्रचार रहा और इसके

परिणाम-स्वरूप सक्रिय राजनीति, सामाजिक सुधार तथा हितकारी कानून निर्माण में ऐसी अभिरुचि उत्पन्न हुई जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसका लाभ आज अनुभव हो रहा है। उन्होंने अपने सिद्धान्तों का क्रमशः प्रचार किया और उसमें प्रत्येक महान् विचारक ने स्थायी मूल्य का योगदान दिया। प्रगति उनका मुख्य नारा था। स्वतन्त्रता तथा लोकहित के उत्साह ने उन्हें महान् प्रेरक शक्ति प्रदान की और यही वस्तु वर्तमान युग ने उन लोगों से प्राप्त की है। उन्होंने संसार को कोई पूर्ण दार्शनिक प्रणाली नहीं दी, परन्तु कुछ सुनिश्चित सिद्धान्त भेंट किये जो परिणामों की कसौटी पर सत्य प्रमाणित हुए हैं और जिनका अब भी अपरिमित रूप में लाभप्रद प्रयोग हो सकता है।'

आलोचना—

डेविडसन के उद्गार सत्य हैं। उपयोगितावादियों ने लोकहित के बड़े काम किये हैं और उनके सिद्धान्त बड़े सामाजिक मूल्य के सिद्ध हुए हैं। इस सिद्धान्त से राजनीतिज्ञों तथा साधारण लोगों को शासन की नीतियों एवं उनके कार्यों की जांच करने की एक अच्छी कसौटी प्राप्त होती है।* परन्तु सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक दृष्टि से इसमें कई दोष दिखाई देते हैं।

उपयोगितावादियों ने सुख की प्राप्ति को, जिसका साधारण अर्थ भौतिक सुख होता है, वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप में मानव जीवन का चरम ध्येय माना है। उसमें नैतिकता के लिये स्थान नहीं है। इस बात का स्वीकार करना असंभव है। सामान्य हित की भावना में, जिसकी अभिवृद्धि करना राज्य का कर्तव्य है, नैतिक मूल्यों का प्रवेश अवश्य होना चाहिए। हमें जिस ध्येय की प्राप्ति करनी चाहिये वह है अपने नैतिक व्यक्तित्व की पूर्णता, केवल अधिकतम सुख की प्राप्ति नहीं।

यह मान लेना भी गलत है कि हमारे सब कुछ काम सुख की इच्छा से ही प्रेरित होते हैं। मनुष्य में जहां एक ओर स्वार्थ की प्रवृत्ति है वहां दूसरी ओर परोपकार एवं त्याग की प्रवृत्ति भी है। त्याग को तथा परोपकार को महत्व देने वाले लोग अपने भौतिक सुख को तिलाञ्जलि देकर घोर से घोर संकट झेलने को भी तैयार रहते हैं।

---

* The formula of the greatest happiness can be made a hook to put in the nostrils of the Leviathan, that he may be tamed and harnessed to the chariot of utility (Pollock, quoted in Appodorai Substance of Politics, p 48)

'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' इस सूत्र को ग्रहण करने में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। बेन्थम के सिद्धांत के अनुसार अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख निर्धारित करना असम्भव है। डॉ० अप्पादोराई ने ठीक ही कहा है कि राजनीति में अंकगणित उसी प्रकार काम नहीं देती जैसे अंकगणित में राजनीति।* यदि सब मनुष्य समान होते और सुखों में केवल मात्रा का ही भेद होता, गुण का नहीं, तो अंकगणित की साधारण प्रक्रिया से अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख निकल आता। परन्तु सभी मनुष्य समान नहीं होते और एक ही सुख का अनुभव विभिन्न प्रकृतिवाले मनुष्य विभिन्न मात्राओं में करते हैं। इसके अतिरिक्त यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि अधिकतम लोगों के सुखों को जोड़ने से अधिकतम सुख प्राप्त होगा। उसका योग शून्य भी हो सकता है। एक समुदाय में यदि आधे मनुष्य ऐसे हों जिन्हें उपद्रव करने में सुख मिलता हो और आधे लोगों को शान्ति में सुख मिले तो उनके सुखों को जोड़ने से शून्य प्राप्त होगा। इस सूत्र के जो दो भाग हैं—अधिकतम लोग और अधिकतम सुख—उनमें अन्तर्विरोध हो सकता है। मान लीजिये हमारे पास एक लाख रुपया गरीबों में बाँटने के लिये है। इसे हम दो प्रकार से बाँट सकते हैं। हम १० आदमियों को दस-दस हज़ार रुपये दे सकते हैं जिससे वे अपने लिये साधारण मकान बनाकर और कुछ काम धंधा आरम्भ करके अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सकें, या हम १०० आदमियों को एक एक हज़ार रुपया देकर उन्हें छोटे-मोटे धंधों में लगाकर उन्हें जीविका कमाने के रास्ते पर लगा दें। पहले प्रकार से सहायता करने में दस आदमियों को १० १० हज़ार प्राप्त होते हैं परन्तु ९० आदमियों को कुछ नहीं मिलता। दूसरे प्रकार के वितरण में १०० आदमियों को एक एक हज़ार रुपया मिलता है। इस प्रकार जो अधिकतम लोगों का सुख है वह अधिकतम नहीं है और जो अधिकतम सुख है वह अधिकतम लोगों का नहीं है। इस प्रकार इस सूत्र को व्यवहार में लाना बड़ा कठिन है।

उपयोगितावादियों की राज्य-सम्बन्धी कल्पना को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनकी दृष्टि में राज्य की स्थापना व्यक्तियों ने स्वेच्छापूर्वक कुछ सुविधाओं के लिये की है। परन्तु राज्य एक प्राकृतिक एवं नैतिक संस्था है और उसकी प्रकृति सावयव है। वह मनुष्यों का कृत्रिम समूह नहीं है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इंगलैण्ड

---

* Arithmetic in Politics is not much more helpful than Politics in Arithmetic (Appodorai Substance of Politics p 47)

म जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी उसका मुकाबला करने मे उपयोगितावाद असफ रहा। उस समय पुरानी विचारधारा म महान् परिवर्तन की आवश्यकता थी जान स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद को नवीन आवश्यकताओं के अनुकूल क का प्रयत्न अवश्य किया परन्तु उसे सफलता नही मिली। इस आवश्यकता पूर्ति ग्रीन ने मर्यादित आदर्शवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके की।

प्रश्न

१ उपयोगितावाद से आप क्या समझते हैं ? उसकी मुख्य बातों का वर्ण कीजिये।

२ क्या 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' का सिद्धान्त राज्य के कार्य का सन्तोषप्रद सिद्धान्त कहा जा सकता है ? कारण सहित समझाइये।

३ उपयोगितावाद के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए उसका मूल्यांक कीजिये।

४ जान स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद का किस प्रकार संशोध किया ? इस कार्य मे उसे कहाँ तक सफलता मिली ?

५ मिल ने उपयोगितावाद का संशोधन करते हुए उसे आदर्शवाद औ समाजवाद के निकट पहुँचा दिया। क्या यह कथन सत्य है ?

६ 'उपयोगितावाद मे, दीर्घकाल से निन्दित होते हुए भी, अमरत्व की सभावना दिखाई देता है'। (आइवर ब्राउन) इस उक्ति पर अपने विचा प्रकट कीजिये।

७ The formula of the greatest happiness can be made a hook to put in the nostrils of the Leviathan, that he may be tamed and harnessed to the chariot of utility (Pollock) इस कथन को विवेच

अध्याय ७

आदर्शवाद*

सिद्धान्त की प्रकृति—

आदर्शवादी सिद्धान्त के अनेक नाम हैं। इसे कभी-कभी दार्शनिक या आध्यात्मिक सिद्धान्त भी कहा जाता है। इंगलैण्ड की आदर्शवादी परम्परा के एक श्रेष्ठ विचारक बोसान्क्वे ने इस सिद्धान्त का विवेचन करनेवाले अपने ग्रन्थ का नाम "राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त" (Philosophical Theory of State) रखा है। हॉब्हाउस ने इस सिद्धान्त की आलोचना इसका नाम 'आध्यात्मिक सिद्धान्त' (Metaphysical Theory) रख कर की है। ये नाम अनुपयुक्त नहीं हैं क्योंकि आदर्शवादी विचारक राजनीतिक समस्याओं का विवेचन दार्शनिक दृष्टिकोण से करते हैं। कुछ लेखक इसे निरंकुश सिद्धान्त (Absolutist Theory) कहते हैं। कुछ तीव्र आलोचकों ने इसे 'राज्य का रहस्यवादी सिद्धान्त' कहा है। हेगेल तथा उसके कुछ जर्मन शिष्यों की

---

* आदर्शवाद अंग्रेजी के आइडियलिज्म (Idealism) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जिसकी व्युत्पत्ति आइडिया शब्द से हुई है जिसका अर्थ विचार है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार अंग्रेजी शब्द आइडियलिज्म का हिन्दी रूपान्तर विचारवाद होता है परन्तु हमने अधिक प्रचलित आदर्शवाद शब्द का ही प्रयोग किया है और यह प्रयोग अशुद्ध भी नहीं है। पाश्चात्य दर्शन में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिक अफलातून ने किया था जिसके अनुसार आदर्श पूर्ण वस्तु का ही हो सकता है। इस दृश्य जगत की समस्त वस्तुएं अपूर्ण हैं, पूर्णत्व केवल विचार में ही हो सकता है अर्थात् केवल विचारगत वस्तु ही पूर्ण हो सकती है। पूर्ण वस्तु को हम आदर्श भी कह सकते हैं। इस प्रकार विचारवाद और आदर्शवाद में कोई अन्तर नहीं है। कुछ लेखक विचारवाद शब्द का भी प्रयोग करते हैं।

रचनाओं में इस सिद्धान्त ने जो रूप ग्रहण किया है, उसके कारण ये नाम उचित भी मालूम पड़ते हैं। ये लेखक व्यक्ति को राज्य के अधीन मान कर राज्य को सर्वथा स्वेच्छाचारी (निरंकुश) बना देते हैं। परन्तु यह बात अन्य राजनीतिक आदर्शवादियों के सम्बन्ध में लागू नहीं होती। निरंकुशता (Absolutism) का विशेषण उनके सिद्धान्तों के साथ नहीं लगाया जा सकता। शायद इस सिद्धान्त का सर्वोत्तम नाम राज्य का 'आदर्शवादी-नैतिक सिद्धान्त' होगा। यह सिद्धान्त आदर्शवादी है क्योंकि यह राज्य की परिभाषा एवं व्याख्या उसकी आदर्श प्रकृति एवं ध्येय के अनुसार करता है अर्थात् इस दृष्टि से कि राज्य को कैसा होना चाहिये और राज्य क्या बनना चाहते हैं, चाहे वे अपने लक्ष्य से अभी दूर ही हों। आदर्शवादी विचारक राज्य की प्रकृति और उसकी संस्थाओं के सम्बन्ध में अपने परिणामों को पूर्णतया या मुख्यतया मनुष्यों के वास्तविक आचरण तथा उन संस्थाओं के संचालन के निरीक्षण पर आधारित नहीं करता। वह मनुष्य की दुर्बलताओं एवं दोषों तथा उसके पूर्ण आचरण में भेद मानता है और अपने सिद्धान्त को आध्यात्मिक एवं बुद्धिपरक और इस कारण उसकी प्रकृति के अधिक स्थायी तथा व्यापक तत्वों पर आधारित करता है।

यह सिद्धान्त नैतिक है क्योंकि यह मानव की नैतिक प्रकृति के साथ आरम्भ होता है और राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है जिसका लक्ष्य अपने नागरिकों के जीवन को श्रेष्ठ बनाना है। राज्य के अनेक पक्ष हैं—समाज-वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, कानूनी, मनोवैज्ञानिक, जीव वैज्ञानिक तथा नैतिक। आदर्शवाद के अनुसार उसका नैतिक पक्ष अन्य सभी पक्षों से प्रबल है। राज्य आवश्यक रूप से श्रेष्ठतम जीवन का साधन है, कानूनी व्यवस्था का साधन या उत्तम उत्पादन एवं वितरण का साधन वह केवल गौणरूप से है। इस प्रकार राजनीतिक दर्शन एक नैतिक अध्ययन है जो राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है और उसके नैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के उपाय ढूँढता है। राजनीति पर नैतिक दृष्टि से विचार करना अफलातून तथा अरस्तू की विशेषता थी। राजनीतिक आदर्शवाद की अनेक धारणाएँ इन दोनों विचारकों में मिलती हैं। अफलातून की 'रिपब्लिक' और अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' का एक बड़े लम्बे समय से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में अपना स्थान रहा है। यह विश्वविद्यालय ही इंगलैण्ड के उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक चिंतन में आदर्शवादी प्रवृत्तियों के पुनरुद्धार के लिये उत्तरदायी है। ग्रीन, ब्रेडले और बोसान्क्वे ब्रिटिश आदर्शवाद के प्रमुख व्याख्याता हैं।

राज्य की इस आदर्शवादी कल्पना का कई लेखकों ने, जिनमें अफलातून, अरस्तू, रूसो, काण्ट, हेगल, ग्रीन, ब्रैडले तथा बोसान्क्वे मुख्य हैं, कई विभिन्न रूपों में प्रतिपादन किया है। इस कारण इसका ऐसे ढङ्ग से विवेचन करना सरल नहीं है जिसमें सभी दृष्टिकोणों का सही समावेश हो सके। सबसे अच्छी बात तो यह है कि इसके दो मुख्य रूपों—उग्र (Extreme) और मर्यादित (Moderate)—में भेद किया जाय और दोनों का अलग अलग विवेचन किया जाय।

उग्र और मर्यादित आदर्शवाद—अंग्रेज आदर्शवादियों, विशेषकर ग्रीन तथा ब्रैडले, की रचनाओं में राजनीतिक आदर्शवाद का जो रूप है वह साधारणतया मर्यादित कहा जाता है और हेगेल तथा उसके जर्मन अनुयायियों ने जो रूप उसे दिया है वह उग्र कहलाता है। इन दोनों का मुख्य भेद राज्य के प्रति उनके भाव तथा राज्य के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध की उनकी कल्पना में है। उग्र आदर्शवाद राज्य को आदर्श का रूप देता है और उसका ऐसा व्यक्तित्व मानता है जो व्यक्तियों के व्यक्तित्वों का केवल अपने में समावेश ही नहीं करता वरन् उनका अतिक्रमण भी करता है। वह राज्य को एक साध्य मानता है और व्यक्तियों को उसकी पूर्ण अधीनता में रखता है। उसके अनुसार राज्य के अपनी रक्षा तथा विस्तार के अपने ही प्रयोजन हैं जो व्यक्तियों के प्रयोजन से भिन्न और श्रेष्ठ हैं। मर्यादित आदर्शवाद व्यक्ति के अधिकारों को नहीं भूलता और राज्य के कार्यों पर कुछ मर्यादाएँ आरोपित करता है, उग्र आदर्शवाद के समान वह राज्य को निरपेक्ष नहीं बनाता। राज्य का आदर्शीकरण हेगेल के इस सिद्धान्त में अच्छी तरह प्रकट होता है कि इतिहास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण इकाई व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय नहीं वरन् राष्ट्र है। राष्ट्र की बुद्धि अथवा आत्मा व्यक्तियों के द्वारा काम करती हैं परन्तु उसका कार्य अधिकांश में उनकी सचेतन इच्छा और उनके प्रयोजन से स्वतन्त्र रह कर होता है। राज्य ही कला, कानून, सदाचार और धर्म का वास्तविक स्रष्टा है, व्यक्ति नहीं। राज्य, जिसमें राष्ट्र आत्मचेतना को प्राप्त होता है, राष्ट्रीय विकास का निर्देशन करता है और राज्य ही उस विकास का चरम लक्ष्य है। इसके विपरीत ग्रीन इस प्रमेय को लेकर चलता है कि मनुष्य का उद्देश्य आत्म प्राप्ति है और इस विश्वास से कि वह समाज में तथा समाज के द्वारा ही हो सकती है वह व्यक्ति तथा समाज में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। आदर्शवाद के इन दोनों रूपों का सरल वर्णन आप प्रथम भाग में राज्य के सिद्धान्त के सम्बन्ध में पढ चुके हैं। यहाँ हम हेगल और ग्रीन के, जो इन दोनों रूपों के प्रधान प्रतिपादक हैं, विचारों को प्रस्तुत करेंगे।

हेगेल—उग्र आदर्शवाद—

हेगेल के विचार अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल हैं और सरलता से समझ में नही आते। हम यहाँ उसके विचारो को अत्यन्त सरल और संक्षिप्त रीति से प्रस्तुत करेंगे। उसके अनुसार इस दृश्य जगत के मूल मे जो वस्तु है वह विश्वात्मा है। वह विश्वात्मा अपनी आन्तरिक प्रेरणा से अनेक रूपो में विकसित होता है और विकसित होता हुआ फिर अपने शुद्ध निर्विकार रूप में लौट आता है। यह बारम्बार होता रहता है। यही सृष्टि का क्रम है।

यह विकास आन्तरिक अर्थात् विचार जगत मे और बाह्य अर्थात् दृश्य जगत दोनो मे होता रहता है। प्रथम आत्मा अपने स्वगत (Subjective) रूप में प्रकट होता है और फिर वह बाह्य जगत मे व्यक्त होता है। बाह्य जगत में जो आत्मा का विकास होता है वह सर्वप्रथम जड जगत मे होता है, उसके बाद पेड़-पौधो मे, फिर कीडा मकोडा, पशु-पक्षियो आदि मे और अन्त मे मनुष्य के रूप मे। इस विकास क्रम मे मनुष्य योनि बहुत ऊँचे स्तर पर है क्योंकि उसमें विश्वात्मा विकास-क्रम मे सबसे पहली बार चेतन होता है। परन्तु मनुष्य जो आत्मा का रूप होता है अर्थात् जीवात्मा वह विश्वात्मा की अपेक्षा बहुत नीचे स्तर पर है। अत उसका भी उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। जीवात्मा का विकास आन्तरिक और बाह्य दोनो जगत मे होता है। उसका बाह्य विकास बाह्य जगत के विभिन्न नियमो, सामाजिक संस्थाओ आदि के रूप में होता है जिनमे राज्य का सर्वोच्च स्थान है।

हेगेल के अनुसार यह विकास द्वन्द्वात्मक (Dialectical) प्रक्रिया द्वारा अर्थात् आन्तरिक विरोध द्वारा होता है। विकास की प्रत्येक मंजिल में तीन सीढियाँ होती है—वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और संवाद (Synthesis)। उदाहरणार्थ, विचार जगत मे सत्य की खोज इस प्रक्रिया द्वारा इस प्रकार होती है। मान लीजिये प्रारम्भ मे जीवन व्यतीत करने के कोई नियम नही थे। ऐसी दशा मे मनुष्य ने यह अनुभव किया कि जीवन व्यतीत करने के लिये नियम होना चाहिये। इस अनुभूति के साथ अनेक नियम बने जैसे सत्य बोलो, दूसरो पर दया करो आदि। जीवन-यापन के लिए नियम होना चाहिये यह वाद हुआ। परन्तु आगे चलकर इन नियमों की अपूर्णता मालूम होने लगी और नियमो मे पारस्परिक विरोध दिखाई देने लगा। जैसे कोई कसाई एक गाय को मारना चाहता है। गाय भागती है और कसाई उसका पीछा करता है। गाय आँखो से ओझल हो गई है और वह मुझसे पूछता

है कि गाय कहाँ गई। अब मेरे सामने सत्य बोलो और दया करो ये दो नियम है। यदि में सत्य बोलता हूँ तो गाय की हत्या होती है तथा दया करने के नियम का उल्लघन होता है और यदि गाय पर दया करने के लिये मैं सत्य नही बताता तो पहले नियम का उल्लघन होता हैं। ऐसी स्थिति म लोगो मे यह भावना होने लगती है कि नियम आदि व्यर्थ है, जैसा उचित मालूम हो वैसा करना चाहिये। यह दशा पहली दशा की ठीक उल्टी है। अत यह प्रतिवाद हुआ। परन्तु नियमहीन अवस्था बडी भयकर होती है। उसमें दुष्टो को मनमानी करने का मौका मिलता है। ऐसी स्थिति मे प्रतिवाद की आलोचना होने लगती है और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होन लगती है। लोग सोचते हैं कि नियम अवश्य होन चाहिये परन्तु नियमो का अक्षरश पालन करने की जगह उनकी भावना की रक्षा करनी चाहिये। यह सवाद हुआ। यह सवाद प्रतिवाद का उल्टा है और ऐसा मालूम होता है कि हम फिर वाद पर पहुँच गय। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। इसम वाद और प्रतिवाद दोनो का सामजस्य हो गया है और वह दोनो से उच्च सत्य है। इसमे नियमो की आवश्यकता (वाद) और उसके साथ ही विवेक (प्रतिवाद) दोनो विद्यमान् है। इस तरह सत्य की खोज में हम आगे बढ़ते हैं। इस खोज मे हम चक्कर काट कर वही नही पहुच जाते जहा से चले थे, वरन् वाद और प्रतिवाद की स्थितियो म स होते हुए जब हम सवाद की स्थिति को प्राप्त होते हैं तो हम एक ऊँचे स्तर पर पहुँच जाते हैं। जो सवाद है वह फिर वाद बन जाता है, उसका प्रतिवाद होता है और फिर दोनो के सत्यांश को लेकर नया सवाद बनता है। इस प्रकार विकास-क्रम चलता रहता है और उन्नति होती रहती है। यही प्रक्रिया दृश्य जगत मे भी होती रहती है। उदाहरणार्थ हम बीज बोते हैं, पृथ्वी मे बीज फूल कर एव सड कर नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर पौधा बन जाता है। पौधा भी बढ कर सूख जाता है और उससे अनेक बीज प्राप्त होते हैं। इस प्रक्रिया म बीज वाद है, पौधा प्रतिवाद और अनेक बीज सवाद हैं।

हम अभी बतला चुके हैं कि जीवात्मा का विकास आन्तरिक और बाह्य दोनो जगत मे होता है। बाह्य जगत मे यहा आशय नियमो सस्थाओ आदि से है। आत्मा इन नियमो एव सस्थाओ म मूर्त रूप धारण करता है। इस आत्मा को हम इच्छा भी कह सकते हैं। यह स्वभाव से स्वतत्र होती है अर्थात् स्वतत्रता इसका स्वाभाविक गुण होता है। जब हम कहते हैं कि आत्मा नियमो और सस्थाओ म मूर्तिमान होता है तो इसका आशय यह भी है कि इन नियमो

और संस्थाओं में स्वतन्त्रता मूर्तिमान होती है अर्थात् उनके द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

बाह्य जगत में विकास के अनेक स्तरों को पार करता हुआ आत्मा सामाजिक आचार (Social morality) की संस्थाओं में प्रकट होता है। इन संस्थाओं में कुटुम्ब सर्वप्रथम है जिसका आधार पारस्परिक प्रेम तथा दूसरों के सुख के लिये आत्मबलिदान की भावना है। कुटुम्ब में सब सदस्यों में प्रेम एवं एकता की भावना होती है और उनके हितों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं होता। उनमें कुछ कमाते हैं कुछ नहीं कमाते परन्तु सभी लोग परस्पर प्रेम से रहते हैं और सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

कुटुम्ब की वृद्धि के साथ समाज का प्रादुर्भाव होता है जो परिवार का प्रतिवाद है। कुटुम्ब में तो पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति आदि गुण काम करते है परन्तु समाज में प्रतियोगिता एवं संघर्ष होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की बात सोचता है और इस प्रकार संघर्ष होता है। परिवार में तो अनेक व्यक्ति दूसरों पर निर्भर रहते है परन्तु समाज के संघर्ष में व्यक्तियों को आत्म निर्भर रहना पड़ता है जिससे व्यक्ति उन्नति करता है।

संघर्ष में व्यक्ति उन्नति तो करता है परन्तु निरन्तर और असीमित संघर्ष व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधक बन जाता है। ऐसी अवस्था में इस बात की आवश्यकता होती है कि संघर्ष की मर्यादा स्थापित हो और पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति आदि का भी, जो कुटुम्ब के आधार है, जीवन-संग्राम में स्थान हो। इस आवश्यकता की अनुभूति के साथ राज्य का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब तथा समाज का संवाद है। राज्य व्यक्तियों को प्रतियोगिता का अवसर देता है परन्तु इसके साथ ही प्रतियोगिता के दुष्परिणामों से निर्बल व्यक्तियों की रक्षा भी करता है। इस प्रकार राज्य में कुटुम्ब और समाज दोनों के गुणों का सामंजस्य होता है। राज्य के रूप में आत्मा का बाह्य विकास चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इसी कारण हेगेल ने राज्य को अनेक विशेषणों से अलंकृत किया है। राज्य विश्वात्मा अर्थात् ईश्वर का पार्थिव रूप है, वह पृथ्वी पर विद्यमान ईश्वरीय विचार है संसार के संगठन में व्यक्त ईश्वरीय इच्छा है वह पूर्ण बौद्धिकता की अभिव्यक्ति है आदि।०

It is ... of the spirit of the world ... on earth ... Perfected ra[tio]nal[ity] ... "the ... spirit unfold[s] itself ... world"

इस प्रकार आत्मा जिन संस्थाओं के रूप में प्रकट होती है उनमें राज्य का स्थान सर्वोच्च है, उसके ऊपर कोई संस्था नहीं हो सकती। वह अन्य सभी संस्थाओं का समायक और रक्षक है। समस्त नैतिकता, कानून आदि उसी के अन्तर्गत हैं। उसके ऊपर किसी कानून अथवा नैतिकता का नियमन नहीं हो सकता। वह स्वतन्त्र है और स्वयं अपना नियामक है। वह दूसरों के लिये नैतिकता के मानदण्ड स्थिर करता है, स्वयं उसके कार्य उन मानदण्डों से नापे नहीं जा सकते। उसकी नैतिकता का स्वयं अपना मानदण्ड है।

राज्य पूर्ण विकसित सामाजिक आचार का मूर्तिमान् रूप है। उसका अपना व्यक्तित्व है। उसकी अपनी इच्छा है और उसमें रहनेवाले व्यक्तियों से भिन्न उसका अपना अस्तित्व है। अतः वह स्वयं साध्य है और इसी कारण उसके अपने अधिकार हैं कोई कर्तव्य नहीं। यदि व्यक्तियों के तथा उसके अधिकारों में संघर्ष हो तो वह व्यक्तियों के अधिकारों का अतिक्रमण कर सकता है। वास्तव में ऐसा संघर्ष हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति के वे ही अधिकार हो सकते हैं जो राज्य उसे प्रदान करता है।

जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, आत्मा का दूसरा नाम इच्छा भी है जो स्वतन्त्र है। अतः राज्य मूर्तिमान् स्वतन्त्रता है। मनुष्य राज्य के अन्दर रह कर और उसके आदेशों का पालन करके ही स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। उसकी इच्छा सामान्य इच्छा है जो विवेकपूर्ण है और कभी भ्रान्त नहीं हो सकती। उसकी इच्छा प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, जहाँ तक व्यक्ति की इच्छा दूसरों की इच्छा के अनुरूप है और सबके हित की इच्छा करती है। इसी कारण उसकी इच्छा का अर्थात् उसके आदेशों (कानूनों) का पालन करना व्यक्ति का कर्तव्य है। उसका विरोध कभी उचित नहीं हो सकता। वह हमारी परम श्रद्धा का पात्र है।

सामान्य इच्छा के इन गुणों से राज्य की प्रकृति तथा उसके कार्यों के सम्बन्ध में तीन परिणाम निकलते हैं—

(१) राज्य कभी अप्रातिनिधिक रूप में कार्य नहीं कर सकता। राज्य जो कुछ भी करता है, वह सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है और इस प्रकार वह प्रत्येक व्यक्ति की असली इच्छा के अनुकूल है, यहाँ तक कि जब चोर कारागार की ओर ले जाया जाता है तो राज्य का यह कार्य उसकी असली इच्छा के अनुसार ही होता है। वह जेल जाने से अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। स्वतन्त्रता राज्य के नियमों का पालन करने में है।

स्वतन्त्रता और कानून एकरूप हैं। इस प्रकार हेगेल के सिद्धान्त के एक महत्वपूर्ण तत्व पर प्रकाश पड़ता है। हेगेल के अनुसार "मानव-हृदय में स्वतन्त्रता की जो सर्वोत्कृष्ट कल्पना है उसी का साकार रूप राज्य है।" राज्य के बिना स्वतन्त्रता की भावना कभी सिद्ध नहीं होगी। हेगेल का तर्क इस प्रकार है —स्वतन्त्रता विवेक के आदेश का पालन करने में है। परन्तु एक व्यक्ति का विवेक सदा विश्वसनीय नहीं होता, कभी कभी वह तात्कालिक और अस्थायी कारणों से प्रभावित हो जाता है और किसी विशिष्ट हित की ओर झुका रहता है। राज्य के कानूनों द्वारा जो विवेक व्यक्त होता है उसमें वे दोष नहीं होते। वह सार्वभौम होता है विशिष्ट नहीं। इस कारण सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के कानून का पालन करने में ही है। राज्य के सदस्य के रूप में व्यक्ति स्वतन्त्रता का भोग कल्पित प्राकृतिक अवस्था की अपेक्षा अधिक वास्तविक रूप में करता है।

(२) जो सम्बन्ध व्यक्ति को अपने साथी नागरिकों तथा राज्य के साथ बाँधते हैं, वे उसके आत्मा के अभिन्न अङ्ग हैं। उनके बिना वह जो कुछ है नहीं रह सकेगा। इस प्रकार यह उसके लिये असम्भव है कि वह ऐसे हित की इच्छा करे जो सामान्य हित के विरुद्ध हो या वह राज्य-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करे।

(३) राज्य में समस्त नागरिकों की सामाजिक नैतिकता का समावेश होता है। राज्य सामाजिक सदाचार का संरक्षक है। इसका यह आशय नहीं है कि वह नागरिकों के साथ व्यवहार में नैतिक नियमों द्वारा बँधा हुआ है। इससे उसकी सर्वशक्तिसम्पन्नता में कमी आ जायगी। राज्य व्यक्तिगत सदाचार के नियमों से ऊपर है। श्रेष्ठ या निकृष्ट—इन नैतिक शब्दों का प्रयोग साधारण अर्थ में राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता। राज्य अपने ही सदाचार के आदर्श का पालन करता है।

गार्नर ने हेगेल के सिद्धान्त का संक्षेप में इस प्रकार विवेचन किया है। 'हेगेल की दृष्टि में राज्य 'ईश्वरीय राज्य' है जो कोई गलती नहीं कर सकता जो सर्वशक्तिशाली है, अभ्रान्त है और अपने हित में नागरिकों के प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है। अपनी श्रेष्ठता के कारण और जिस त्याग तथा बलिदान के लिए वह अपने नागरिकों को आदेश देता है, उसके कारण वह व्यक्ति का उत्थान करता है और उसे श्रेष्ठत्व प्रदान करता है। व्यक्ति की

प्रवृत्ति स्वार्थमयी है परन्तु इस प्रकार वह उसे 'सार्वभौमिक पदार्थ के जीवन मे वापस खींच ले जाता है' ।"*

आदर्शवादी सिद्धान्त के इस उग्र रूप का स्रोत अफलातून तथा अरस्तू के इस मत मे है कि राज्य स्वाश्रयी संस्था है। यदि राज्य स्वयं स्वाश्रयी है तो यह अपने नागरिकों के लिये समस्त मानव समाज के बराबर हो जाता है। इस मत का प्राकृतिक परिणाम व्यक्ति के नागरिक के रूप मे राज्य से सम्बन्ध तथा व्यक्ति के रूप मे समस्त मानव समाज से सम्बन्ध, इन दोनों विभिन्न सम्बन्धों को बराबर एकरूप कर देता है। व्यक्ति की समस्त आकांक्षाओं तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राज्य पर्याप्त माना जाता है। राज्य की सहायता के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है जिसकी व्यक्ति आकांक्षा कर सकता है। इस स्थिति से निरंकुशता के सिद्धान्त को पहुँच जाना सरल है। चूँकि राज्य व्यक्ति की समस्त सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देता है इसलिये वह निरपेक्ष सत्ता के साथ नागरिकों की पूर्ण भक्ति की मांग कर सकता है। राज्य सैद्धान्तिक रूप से नागरिक पर सदैव अपनी पूर्ण सत्ता का प्रयोग कर सकता है।

हेगेल की दृष्टि मे इस स्थिति से व्यक्ति को जितनी हानि है उससे कहीं अधिक लाभ है क्योंकि उसे केवल राज्य में ही सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, उसी मे वह नैतिकता प्राप्त करता है और अपने अधिकारों की प्राप्ति करता है।

मर्यादित आदर्शवाद—टॉमस हिल ग्रीन—

जिस प्रकार उग्र आदर्शवाद का लाक्षणिक रूप हमे हेगेल के विचारों मे मिलता है उसी प्रकार मर्यादित आदर्शवाद का लाक्षणिक रूप हमे अंग्रेज दार्शनिक ग्रीन के विचारों मे प्राप्त होता है। ग्रीन पर काण्ट तथा हेगेल के दर्शन का बड़ा प्रभाव था। उसने उनके सिद्धान्त को ग्रहण कर इङ्गलण्ड की परिस्थिति के अनुकूल बनाने के लिये उसमे कुछ परिवर्तन कर उसे मर्यादित रूप दे दिया। आदर्शवाद का मौलिक स्रोत यूनानी दार्शनिकों के सिद्धान्तों मे

---

* "The state to Hegel is a God-State incapable of wrong, infallible omnipotent and entitled to every sacrifice which its interests may require of the individual By virtue of its transcendant character and of the sacrifice and devotion which it has a right to demand it elevates and ennobles the individual whose tendency is to become selfish and self centered and carries him back into the life of the universal substance (Garner Political Science and Government pp 213-214)

है। जैसे उग्र आदर्शवाद का स्रोत अफलातून तथा अरस्तू के इस मत में है कि राज्य एक स्वाश्रयी संस्था है, वैसे ही मर्यादित आदर्शवाद का स्रोत उनके इस मत में है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जिससे राज्य एक सामाजिक एवं आवश्यक संस्था बन जाता है।

ग्रीन के सिद्धान्त को बार्कर ने तीन सूत्रों में व्यक्त किया है—'मानव चेतना स्वतन्त्रता की इच्छा करती है, स्वतन्त्रता के लिये अधिकार आवश्यक हैं, और अधिकारों की प्राप्ति के लिये राज्य की आवश्यकता है।'* हम इन तीनों सूत्रों की व्याख्या के द्वारा ग्रीन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करेंगे।

मानव चेतना स्वतन्त्रता की इच्छा करती है—

मानव का चरम लक्ष्य परमात्मा में आत्मप्राप्ति करना है। जब मनुष्य आत्म चेतन होते हैं अर्थात् अपनी आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करते हैं तो वे परमात्म चेतना की अवस्था में प्रवेश करते हैं और इस अवस्था में उनको यह बोध होता है कि हम सब समान स्वभाववाले हैं, हमारी सबकी समान सदिच्छा है और सबका एक ही लक्ष्य है—परमात्मा में आत्मप्राप्ति। इस प्रकार मानव चेतना अर्थात् आत्मा को सामाजिक कल्याण का ज्ञान होता है जो स्वयं उसका भी कल्याण है। जब वह सामाजिक कल्याण की पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो उसकी भी आत्मप्राप्ति हो जाती है। इस आत्मप्राप्ति के निमित्त मानव-चेतना स्वतन्त्रता चाहती है।

स्वतन्त्रता का अर्थ—

स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है—(अ) आन्तरिक स्वतन्त्रता जिसका अर्थ है अपनी मनोवृत्तियों को वश में रखना। यह आचार शास्त्र का विषय है। (आ) बाह्य स्वतन्त्रता जिसका अर्थ है ऐसी बाह्य परिस्थितियों का होना जिसमें व्यक्ति निर्बाध रूप में अपने वास्तविक हित के काम कर सके। यह राज्य शास्त्र का विषय है।

ग्रीन के अनुसार बाह्य स्वतन्त्रता का अर्थ केवल हस्तक्षेप का अभाव नहीं है। यह तो निषेधात्मक स्वतन्त्रता हुई। न उसका अर्थ मनमानी करने की छूट ही है। यह स्वतन्त्रता नहीं, उच्छृंखलता है। वास्तविक स्वतन्त्रता निषेधात्मक स्वतन्त्रता की उल्टी है। इसके दो लक्षण हैं—(१) वह यथार्थ अथवा

* Human consciousness postulates liberty liberty involves rights rights demand the state Barker Political Thought in England p 23 ग्रीन के सिद्धान्त का वर्णन हमने मोटी तौर से बार्कर के आधार पर ही किया है।

विध्यात्मक होती है। वह हस्तक्षेप का अभावमात्र नहीं है, उसका सच्चा अर्थ है इच्छित कार्यों का करने की सुविधा। (२) वह चाहे जो कुछ कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है वरन् कुछ निश्चित प्रकार के कार्य अर्थात् उचित कार्यों को, ऐसे कार्यों को जो हम आत्म प्राप्ति में सहायक हों, करने की स्वतन्त्रता है। ऐसे कार्य करने की एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दूसरे किसी व्यक्ति की ऐसी ही स्वतन्त्रता से कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि सबका लक्ष्य एक ही है। अतः यह स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर कार्य करने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार ग्रीन के अनुसार 'स्वतन्त्रता दूसरों के साथ मिलकर करने योग्य कामों को करने की निश्चयात्मक सत्ता है।'* इस प्रकार वह असीमित नहीं होती क्योंकि वह केवल करने योग्य कामों को करने की अर्थात् उन कामों को करने की जिनका हमारी विवेकपूर्ण सत् इच्छा निर्देश करती है, स्वतन्त्रता है। इस प्रकार वह सीमित है।

स्वतन्त्रता में अधिकार समाविष्ट है—

प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त उचित कार्य करने की सत्ता अर्थात् स्वतन्त्रता चाहता है और इसके लिये कुछ परिस्थितियाँ चाहता है। इन परिस्थितियों और सुविधाओं के द्वारा ही व्यक्ति आत्म प्राप्ति कर सकता है। ये परिस्थितियाँ एवं सुविधाएँ अधिकार हैं। इन अधिकारों की सृष्टि कैसे होती है ? (१) व्यक्ति एक नैतिक प्राणी की हैसियत से एक नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सुविधाओं की माँग करता है। व्यक्ति केवल अपने ही लिये इन सुविधाओं की माँग नहीं करता। विवेकपूर्ण होने के कारण वह यह भी स्वीकार करता है कि जैसे मुझे इन सुविधाओं की आवश्यकता है वैसे ही अन्य लोगों को भी उनकी आवश्यकता है और उन्हें भी वे प्राप्त होनी चाहिये। (२) जब समाज इन माँगों को स्वीकार कर लेता है तो वे अधिकार का रूप धारण कर लेती हैं। यह स्वीकृति इस कारण प्राप्त हो जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति को उनकी आवश्यकता है। इस प्रकार अधिकार एक नैतिक व्यक्ति की समाज द्वारा स्वीकृत माँग है। इसका निर्माण दो तत्वों से मिलकर होता है—(१) व्यक्ति की माँग और (२) समाज की स्वीकृति। इनमें से किसी भी तत्व के न होने से अधिकार नहीं बनता। बिना समाज की स्वीकृति के व्यक्ति की माँग अधिकार नहीं बन सकती। यदि मैं यह माँग करूँ कि मैं अपने परिवारवालों के साथ मनमाना व्यवहार कर सकूँ तो समाज द्वारा स्वीकृत न

---

* Liberty is a positive power of doing or enjoying something worth doing or enjoying in common with others.'

होने के कारण यह मेरा अधिकार नहीं हो सकता । इसी प्रकार समाज मानता है कि पशुओं के साथ दया का व्यवहार होना चाहिये परन्तु पशुओं में ऐसी माग करने की योग्यता नहीं होती और वे कोई माँग नहीं कर सकते। अतः उनको दयापूर्ण व्यवहार पाने का कोई अधिकार नहीं होता।

जब ग्रीन समाज की स्वीकृति की चर्चा करता है तो उसका अर्थ समाज की नैतिक चेतना की स्वीकृति होता है, राज्य या कानून की स्वीकृति नहीं। ऐसे अधिकार जिन्हें समाज की नैतिक चेतना स्वीकार करती हो परन्तु जिन्हें राज्य की स्वीकृति प्राप्त न हुई हो, प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं। वे प्राकृतिक इस अर्थ में नहीं हैं कि ये मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त थे जैसा समझौते के सिद्धान्त के प्रतिपादकों का मत है, वे प्राकृतिक इस अर्थ में हैं कि उनके बिना मनुष्य की पूर्ण उन्नति अर्थात् आत्मप्राप्ति जो उसकी नैतिक प्रकृति की अनिवार्य माँग है सम्भव नहीं है। ये अधिकार नैतिक हैं क्योंकि इनकी आवश्यकता नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये है। जब इन अधिकारों को राज्य की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उन्हें कानून का संरक्षण प्राप्त हो जाता है तो वे कानूनी अधिकार बन जाते हैं। उदाहरणार्थ, हमारा समाज यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन के लिये काम प्राप्त होना चाहिये, परन्तु जब तक राज्य इस माग को स्वीकार नहीं कर लेता तब तक वह हमारा प्राकृतिक अथवा नैतिक अधिकार ही रहेगा, कानूनी अधिकार नहीं बन सकता।

अधिकारों की प्राप्ति के लिये राज्य की आवश्यकता है—

व्यक्ति की माग समाज द्वारा स्वीकृत हो जाने पर अधिकार बन जाते हैं परन्तु अधिकारों का उपभोग तभी हो सकता है जब राज्य उनकी रक्षा करे और उनका उल्लंघन करनेवालों को दण्ड दे। यह प्रश्न हो सकता है कि जब सभी लोग नैतिक हैं और अधिकारों की आवश्यकता समझते हैं तो फिर उन्हें राज्य की रक्षा की क्या आवश्यकता? यह ठीक है, परन्तु व्यक्ति ऐसा तभी सोचते हैं जब वे अपनी वास्तविक अर्थात् सदिच्छा के प्रभाव में रहते हैं। व्यक्ति प्रायः अपनी अविवेकपूर्ण तात्कालिक इच्छा के प्रभाव में अर्थात् क्रोध, स्वार्थ आदि दुर्गुणों के प्रभाव में काम करते हैं और उचित अनुचित का ध्यान न रखते हुए दूसरों का अहित करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में इस बात की आवश्यकता होती है कि कोई ऐसी निष्पक्ष संस्था हो जो सब के अधिकारों की रक्षा कर सके। यह संस्था राज्य है। राज्य सबके लिये निष्पक्षता के साथ समान अधिकारों की व्यवस्था करके और उन पर अमल करवाकर व्यक्तियों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक

करता है। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति होती है और वह एक प्राकृतिक एवं नैतिक संस्था है।

राज्य का आधार इच्छा है, बल नहीं

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि राज्य का आधार बल नहीं, इच्छा है।* राज्य की उत्पत्ति मानव चेतना की स्वातन्त्र्य-इच्छा के कारण हुई है। स्वतन्त्रता अधिकारों की प्राप्ति से ही सार्थक होती है और अधिकारों की रक्षा के लिये राज्य की आवश्यकता होती है। जो इच्छा स्वतन्त्रता चाहती है, वही अधिकारों की सृष्टि करती है और उनकी रक्षा के लिये वही राज्य को जन्म देती है।

परन्तु अधिकारों को कार्यान्वित करने के लिये राज्य बल का प्रयोग करता है। अधिकारों के उपभोग से ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य मनुष्य को स्वतन्त्र बनाने के लिये उसके विरुद्ध बल का प्रयोग करता है अर्थात् मनुष्य बलपूर्वक स्वतन्त्र बनाया जाता है। यह तो विरोधोक्ति हुई।

इसको समझने के लिये हमें दो प्रश्नों पर विचार करना चाहिये—(१) बल प्रयोग कौन करता है? (२) उसके इस कार्य का समाज के सदस्यों की सक्रिय इच्छा कहाँ तक समर्थन करती है?

(१) बल प्रयोग करने वाला राज्य है जो समाज के सदस्यों की सदिच्छा अर्थात् सामान्य इच्छा (General will) का प्रतिनिधि है। यह सामान्य इच्छा सामान्य कल्याण की सामान्य चेतना है जिससे समाज बनता है, अधिकारों की सृष्टि होती है और राज्य की स्थापना होती है। यही सामान्य इच्छा राज्य में सर्वोच्च सत्ता अर्थात् प्रभुत्व सत्ता होती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह ठीक है परन्तु यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखने पर तो यह मालूम होता है कि राज्य में प्रभुत्व-सत्ता किसी एक व्यक्ति या संस्था के हाथ में होती है और उसी के द्वारा बल प्रयोग होता है। परन्तु वह व्यक्ति विशेष (या संस्था विशेष) तभी तक बल का प्रयोग कर सकता है जब तक उसे सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त हो और वह उसका प्रतिनिधि स्वीकार किया जाता हो। ऐसा न होने पर उसका प्रभुत्व शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार बल प्रयोग वास्तव में सामान्य इच्छा द्वारा ही होता है।

---

* Will, not force, is the basis of the State'

(२) किन्तु हम देखते हैं कि राज्य के अधिकांश लोगों में सामान्य इच्छा चेतन रूप में नहीं होती, फिर हम यह कैसे मान लें कि प्रभुत्व सत्ता को सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त है? ग्रीन का कथन है कि यह सत्य है कि अधिकांश लोगों में सामान्य इच्छा चेतन रूप में नहीं होती, फिर भी लोग इतना तो समझते ही हैं कि अधिकारों की व्यवस्था करके और उन्हें कार्यान्वित करके राज्य ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिनमें व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। लोग राज्य के क़ानूनों का भय से पालन नहीं करते। वे इस कारण करते हैं कि वे यह जानते हैं कि राज्य के कामों के लेखे जोखे का परिणाम राज्य के पक्ष में ही है। फिर हम यह भी नहीं कह सकते कि लोगों में साधारणतया सामान्य इच्छा जागृत रूप में नहीं होती, क्योंकि हम दैनिक जीवन में अपने बहुत से नैतिक कर्तव्य अपनी इच्छा से ही, बिना राज्य के भय के ही करते रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि हमें सामान्य कल्याण का ज्ञान है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या वर्तमान राज्य और उसकी संस्थाएं जो व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने को विवश करती हैं सामान्य इच्छा की कल्पना पर आधारित हैं? इसका उत्तर स्पष्ट है—नहीं, उनका निर्माण हिंसा तथा विजय द्वारा हुआ है और उनकी अनेक संस्थाओं में सार्वजनिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत हित का अधिक महत्व है, उदाहरणार्थ सम्पत्ति सम्बन्धी क़ानूनों में केवल धनियों के हित का ही ध्यान रखा गया है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जिन लोगों ने विजय द्वारा राज्य की स्थापना की है और जिन लोगों ने विजेता के शासन को स्वीकार करके राज्य के निर्माण में सहायता दी है उन सबके मन्तव्यों में किसी न किसी रूप में सामान्य कल्याण की भावना रही है और अब भी बनी हुई है तथा उसे सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त है। राज्य चाहे जैसा हो, लोगों में किसी अंश तक यह भावना अवश्य रहती है कि राज्य की कार्य प्रणाली उसकी औचित्य-बुद्धि के अनुकूल है। हम देखते हैं कि जब कोई किसी के साथ अन्याय करता है तो वह मनुष्य अन्यायी के विरुद्ध न्यायालय में शिकायत करता है। इसका अर्थ यही है कि उसे यह विश्वास है कि न्यायालय वही करेगा जो उसे उचित मालूम होता है। इस प्रकार लोग राज्य की कार्यप्रणाली को किसी अंश तक अपनी औचित्य बुद्धि के अनुकूल ही मानते हैं। जनता जिस राज्य को न चाहे वह राज्य टिक नहीं सकता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य का आधार बल नहीं, इच्छा है।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि राज्य बल-प्रयोग नहीं करता। राज्य बल-प्रयोग करता है परन्तु एक निश्चित ढंग से अर्थात् कानून के अनुसार और एक निश्चित उद्देश्य से अर्थात् कानूनी संस्थाओं की रक्षा तथा सामाजिक कर्तव्यों के निर्वाह के लिये जो सामाजिक जीवन की आवश्यक शर्तें हैं।

राज्य सर्वशक्तिमान् एवं निरंकुश नहीं है—

इस प्रकार ग्रीन के मत में राज्य एक प्राकृतिक, नैतिक एवं आवश्यक संस्था है जिसके द्वारा व्यक्ति को अपने नैतिक व्यक्तित्व के विकास की समस्त सुविधाएँ मिलती हैं। उसका आधार सामान्य इच्छा है और उसके कानून सामान्य इच्छा की ही अभिव्यक्तियाँ हैं जिनका पालन करना व्यक्ति का कर्तव्य है। व्यक्ति के जीवन में राज्य का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह व्यक्ति का सबसे बड़ा मित्र एवं सहायक है। उसके लक्ष्य और राज्य के लक्ष्य में कोई विरोध नहीं हो सकता क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है।

इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि राज्य सर्वशक्तिमान् एवं निरंकुश है और उसमें कोई गलती नहीं हो सकती। हेगेल ने तो राज्य को इन गुणों से विभूषित किया है परन्तु ग्रीन इस स्थिति को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार राज्य न तो सर्वशक्तिमान् है और न निरंकुश ही। वह अन्दर और बाहर दोनों ओर से मर्यादित है।

आन्तरिक मर्यादाएँ—(१) राज्य की सबसे बड़ी मर्यादा तो उसकी मूल प्रकृति में ही है।* वह एक नैतिक संस्था है और उसका कार्य व्यक्ति को उसके नैतिक विकास में सहायता देना है। नैतिकता का सम्बन्ध मन से है और इस प्रकार वह आन्तरिक वस्तु है। नैतिक काम वही होता है जिसे व्यक्ति अपनी नैतिक बुद्धि से, उचितानुचित की भावना से, करे। ऐसे काम जबरदस्ती नहीं कराये जा सकते किन्तु राज्य बल प्रयोग द्वारा ही कार्य करा सकता है। अतः वह मनुष्य से नैतिक काम नहीं करा सकता। वह तो केवल इतना ही कर सकता है कि नैतिक जीवन के मार्ग में जितनी बाधाएँ हों उनका निराकरण कर दे। उसका काम 'नैतिक जीवन की बाधाओं को दूर करना' है। वह स्वयं अपनी ओर से व्यक्ति को नैतिक बनाने का प्रयत्न नहीं कर सकता। इस प्रकार राज्य के कार्य सीमित हैं।

---

* The supreme limitation on the State lies in its own essence (Barker Political Thought in England p 36)

(२) हम अभी देखेंगे कि ग्रीन कुछ विशेष परिस्थिति मे व्यक्ति का राज्य का विरोध करने का अधिकार भी स्वीकार करता है।

(३) राज्य की सत्ता समाज के अन्तर्गत परिवार, चर्च आदि जो स्थायी प्राकृतिक समुदाय है उनके अधिकारो से भी मर्यादित हैं। वह समुदायो का समुदाय है। समाज के अन्दर ऐसे समुदाय राज्य के उदय से पहले से ही विद्यमान रहते हैं जिनकी सामाजिक प्रकृति मे उत्पन्न एक आन्तरिक अधिकार और कर्तव्य व्यवस्था होती है, जिस प्रकार राज्य की अपनी अधिकार तथा कर्तव्य-व्यवस्था होती है। इन समुदायो की सृष्टि राज्य नही करता। वे और उनकी अधिकार एव कर्तव्य-व्यवस्था पहले से ही विद्यमान हैं। परिवार के साथ कितने ही अधिकार और कर्तव्य जुडे हुए हैं जैसे पिता का पुत्र पर अधिकार और उसके प्रति कर्तव्य, पति का पत्नी पर अधिकार और उसके प्रति कर्तव्य पुत्र का पिता पर अधिकार और उसके प्रति कर्तव्य आदि। ये अधिकार और कर्तव्य राज्य के उदय से पहले के हैं। राज्य उन्हे छीन नही सकता और यदि वह छीनना भी चाहे तो वह उनका निर्वाह समुचित रीति से नही कर सकता। राज्य का काय तो केवल इतना ही है कि विभिन्न समुदायो के अधिकारो एव कर्तव्यो मे सामजस्य स्थापित करे और उनमे संघर्ष न होने दे। उनका नियामक एव सरक्षक होने के कारण वह उनमे श्रेष्ठ अवश्य है और एक प्रकार से अन्तिम सत्ता उसी के हाथ मे आ जाती है परन्तु इससे वह सर्वशक्तिमान् नही बन जाता।

बाह्य मर्यादा—जिस प्रकार राज्य आन्तरिक मामलो मे सर्वशक्तिमान और निरकुश नही है, उसी प्रकार अपने बाह्य सम्बन्धो मे भी वह सर्वशक्तिमान और निरकुश नही हो सकता। जिस प्रकार एक राज्य के अन्दर व्यक्ति का स्वतन्त्र जीवन का अधिकार सर्वस्वीकृत है उसी प्रकार अन्य नागरिकों का भी स्वतन्त्र जीवन का अधिकार है। इस प्रकार जीवन अधिकार सार्वलौकिक है। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक अधिकार के लिये समाज की स्वीकृति आवश्यक है। जब जीवन अधिकार सार्वलौकिक है तो उसकी स्वीकृति के लिये भी एक सार्वभौम समाज होना चाहिये। विभिन्न राज्यो की उस सार्वभौम समाज के अन्दर वही स्थिति होनी चाहिये जो एक समाज के अन्दर विभिन्न समुदायों की है। जैसे एक समाज के अन्दर व्यक्ति और समुदाय मनमानी नहीं कर सकते, उन्हें समाज तथा राज्य के कानूनो की परिधि मे रहना पडता है उसी प्रकार विभिन्न राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धो मे स्वच्छन्द नहीं हो सकते, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करना चाहिये।

राज्य के कार्यों का सिद्धान्त—

राज्य की ग्रान्तरिक मर्यादाग्रो का उल्लेख करते समय हम राज्य के काय सबधी सिद्धान्त पर प्रकाश डाल ग्राये हैं। यद्यपि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के नतिक विकास मे सहायता पहुँचाना है तथापि उसे घम ग्रथवा नैतिकता की उन्नति के लिये प्रत्यक्ष रूप से कार्य नही करना चाहिये। इसका कारण यह नहीं है कि एसा करने से व्यक्ति की स्वतत्रता का ग्रतिक्रमण होता है। यह तक व्यक्तिवादियो का है। ग्रीन व्यक्तिवादी नही है। उसके मत मे व्यक्ति की स्वतत्रता तथा राज्य के कार्यों मे कोई मौलिक विरोध नहीं है। इसका कारण यह भी नही है कि राज्य का प्रभुत्व सीमित है। उसकी प्रभुत्व-सत्ता पूर्ण होते हुए भी वह घम ग्रथवा नैतिकता की ग्रभिवृद्धि क लिय प्रत्यक्ष रूप से काय इस कारण नहीं कर सकता कि वह ग्रपनी ग्राज्ञाग्रो का पालन दण्ड के भय से ही करा सकता है। नतिकता दण्ड के भय से उत्पन्न नहीं हो सकती। ग्रत राज्य का काम केवल ग्रच्छे जीवन के माग की बाधाग्रो को बाधा पहुँचाना ग्रर्थात उनका निराकरण करना तथा ऐसे कामो को करवाना है जिनका करना ग्रच्छे जीवन के लिये ग्रावश्यक है, चाहे वे दण्ड के भय से किये जाय या कतव्य-भावना से।

राज्य के कार्यो का यह सिद्धान्त ऊपर स देखने म तो निषेधात्मक मालूम होता है क्योंकि इसमे उन्ही बातो पर जोर दिया गया है जो राज्य को नही करना चाहिये। परन्तु वास्तव मे यह निषेधात्मक नही है। ग्रच्छे जीवन के माग की बाधाग्रो को हटाने मे राज्य को ग्रपनी ग्रोर से कई काम करने पडते हैं। इसके साथ ही राज्य का लक्ष्य है ग्रपने नैतिक विकास के लिए व्यक्ति की शक्तियो को मुक्त करना, ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना जिनम वह ग्रपनी शक्तियो का उपयोग करके ग्रपने लक्ष्य की प्राप्ति म ग्रग्रसर हो सके। इससे ग्रधिक विध्यात्मक ग्रौर क्या हो सकता है?

दण्ड सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण ग्रीन के दण्ड-सम्बन्धी सिद्धान्त से होता है। दण्ड के सम्बन्ध म मुख्यत तीन सिद्धान्त माने जाते हैं—(१) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive theory) जिसके ग्रनुसार दण्ड का उद्देश्य ग्रपराधी स उसके ग्रपराध का बदला ग्रथवा प्रतिशोध लेना है। ग्रीन की दृष्टि म यह सिद्धान्त बबर लोगों का है जिनमें प्रत्येक व्यक्ति का ग्रपने साथ किये हुए ग्रपराध का बदला लेने का ग्रधिकार था। राज्य के निर्माण के साथ यह ग्रधिकार समाप्त हो गया। बदला व्यक्तिगत हो सकता है। राज्य बदला कैसे ले

सकता है ? (२) निरोधात्मक सिद्धान्त (Preventive theory) जिसके अनुसार अपराधी को दण्ड इसलिये दिया जाता है कि दूसरे लोग उसे दण्डित होते देखकर डरें और अपराध न करें। यह सिद्धान्त भी ग्रीन को मान्य नहीं है क्योंकि इसमें अपराधी अन्य लोगों के सुधार का साधन बनाया जाता है। मनुष्य स्वयं साध्य है उसे किसी का साधन बनाना उसे मनुष्यत्व से नीचे गिराना है। (३) सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformatory theory) जिसके अनुसार दण्ड अपराधी को सुधारने के लिये दिया जाता है। ग्रीन के मत में यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है क्योंकि वास्तविक सुधार व्यक्ति की इच्छा से होता है, दण्ड के भय से नहीं।

ग्रीन की दृष्टि में दण्ड का वास्तविक सिद्धान्त वही है जो राज्य के काम का है—'अच्छे जीवन के मार्ग की बाधाओं को दूर करना।' जब कोई व्यक्ति किसी की हत्या करता है तो वह मृत व्यक्ति के जीवन अधिकार पर आक्रमण करता है और इस तरह राज्य द्वारा स्थापित अधिकार व्यवस्था पर आघात करता है। उसकी अपराध-वृद्धि सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन के मार्ग में बाधक है और उस बाधा का निराकरण राज्य दण्ड देकर करता है। इस प्रकार दण्ड अच्छे-जीवन के मार्ग की बाधा का निराकरण हुआ। इस विशिष्ट अर्थ में हम उसे निरोधक सिद्धान्त कह सकते हैं।

इससे दण्ड अनैतिक नहीं हो जाता और न वह केवल निषेधात्मक ही रहता है। दण्ड नैतिक है—इस अर्थ में कि उसका उद्देश समाज के सदस्यों के नैतिक विकास के लिये आवश्यक व्यवस्था को कायम रखना है। वह इस अर्थ में भी नैतिक है कि उस दण्ड के आघात से अपराधी के स्वयं सुधरने की सम्भावना है। इस प्रकार वह केवल निषेधात्मक ही नहीं, विध्यात्मक भी है, उससे केवल समाज की अधिकार-व्यवस्था के समक्ष उपस्थित बाधा का निराकरण ही नहीं होता, व्यक्ति का सुधार भी होता है।

इस सिद्धान्त की विध्यात्मकता ग्रीन के शिक्षा तथा मद्य निषेध-सम्बन्धी विचारों में भी सिद्ध होती है। ग्रीन अनिवार्य शिक्षा का समर्थक था। उसका कथन था कि निरक्षरता अच्छे जीवन के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है और उसका निराकरण करना राज्य का कर्तव्य है। इसी प्रकार मद्यपान को भी वह अच्छे जीवन के मार्ग में बाधा समझता था। उसकी राय थी कि या तो मद्य का विक्रय करनेवाली दुकानें बन्द कर दी जायँ

या उसकी बिक्री पर कड़ा नियन्त्रण लगा दिया जाय जिससे लोग मद्यपान के प्रलोभन से बच सकें।

राज्य का विरोध करने का अधिकार—

ऊपर हमने बतलाया है कि ग्रीन के अनुसार राज्य का आधार बल नहीं, इच्छा है। इसका यह अर्थ होता है कि राज्य के प्रत्येक काम का व्यक्ति की सदिच्छा समर्थन करती है। अब प्रश्न यह उठता है कि किसी अवस्था मे व्यक्ति राज्य का विरोध कर सकता है या नहीं।

सिद्धान्त की दृष्टि से तो व्यक्ति को ऐसा अधिकार नहीं हो सकता क्योंकि व्यक्ति को समस्त अधिकार राज्य मे प्राप्त होते हैं और राज्य अपने विरुद्ध किसी को कोई अधिकार नहीं दे सकता। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर स्थिति भिन्न हो जाती है। राज्य स्वयं साध्य नहीं, वह अच्छे जीवन का साधन है। यदि वह इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता तो नागरिक उसके आदेशों का पालन करने के लिये बाध्य नहीं है। राज्य दो प्रकार से अपने कर्तव्य पालन से च्युत हो सकता है—(अ) यदि वह उत्तम जीवन के लिये आवश्यक सुविधाएं (उदाहरणार्थ शिक्षा) की व्यवस्था न करे और (आ) यदि वह सामान्य हित के विरुद्ध काम करे। ग्रीन इन दोनों दशाओं मे नागरिक को राज्य का विरोध करने का अधिकार देता है।

परन्तु इस अधिकार के साथ दो शर्तें हैं। (१) विरोध करने का विचार करनेवाले नागरिक को यह सोचना चाहिये क्या राज्य की यह त्रुटि इतनी महत्वपूर्ण है अर्थात् क्या वह अधिकार जिसे वह समाज के लिये आवश्यक समझता है परन्तु जिसे राज्य स्वीकार नहीं करता इतना महत्वपूर्ण है कि उसे प्राप्त करने के लिये वह राज्य का विरोध करे और इस प्रकार राज्य द्वारा स्थापित अन्य अधिकारों की व्यवस्था को खतरे मे डाल दे। यदि इस प्रश्न का उत्तर हां हो तो वह राज्य का विरोध कर सकता है। (२) परन्तु इसके साथ ही उसे यह भी जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि समाज के अधिकांश लोग भी उसे उतना ही महत्वपूर्ण समझते हैं या नहीं। ऐसा सोचना इसलिये आवश्यक है कि यद्यपि जिस अधिकार को वह प्राप्त करना चाहता है वह सामान्य हित की एक आवश्यक शर्त है तथापि जो समस्त अधिकार राज्य कायम किये हुए है वे भी ऐसी ही आवश्यक शर्तें हैं। हम एक शर्त के लिये

पूरी वस्तु को नष्ट नहीं कर सकते। वर्तमान अधिकार-व्यवस्था में एक अतिरिक्त अधिकार जोड़ने के लिये हम समस्त अधिकार-व्यवस्था को खतरे में नहीं डाल सकते। जब तक समाज में उस अधिकार के पक्ष में लोकमत तैयार नहीं होता, तब तक उसे विरोध करने का अधिकार नहीं होता। उसे अपने पक्ष में लोकमत तैयार करना चाहिये, लोकमत तैयार हो जाने पर ही विरोध उचित होगा। किन्तु समस्त शर्तों के पूरी हो जाने पर भी विरोध उचित ही होगा, यह कर्तव्य नहीं बन जाता।

इस प्रकार ग्रीन, हेगेल की भाँति, राज्य को सर्वशक्तिमान् और निरपेक्ष नहीं मानता और राज्य को साध्य मानकर व्यक्ति को उसके पूर्णतः अधीन नहीं बनाता। ग्रीन के सिद्धान्त में राज्य का स्थान ऊँचा बना रहने पर भी व्यक्ति का स्थान प्रमुख है और इसी कारण वह राज्य के कार्यों पर मर्यादाएँ आरोपित करता है। ग्रीन यदि कल्पना-जगत में उड़ान भरनेवाला आदर्शवादी है तो इसके साथ ही वह गंभीर यथार्थवादी भी है। आदर्शवाद के विचार-जगत में विचरण करता हुआ भी वह जीवन के ठोस सत्य से अपना सम्पर्क कायम रखता है और ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जिसका उपयोग वास्तविक जगत में हो सकता है।

आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचना—

इस सिद्धान्त की, विशेषकर इसके उग्र रूप की, अनेक दृष्टिकोणों से बड़ी तीव्र आलोचना की गई है। कुछ लोग उसे गलत तथा खतरनाक कह कर उसकी निन्दा करते हैं। दूसरे उसे भावात्मक तथा एकांगी बतलाते हैं। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वह जीवन के अनेक ठोस तथ्यों की उपेक्षा करता है। जोड के विचार में यह सिद्धान्त, सिद्धान्त की दृष्टि से सही नहीं है, तथ्यों के प्रतिकूल है और इसमें वर्तमान राज्यों के परराष्ट्रनीति के क्षेत्र में किये जाने वाले अविवेकपूर्ण कार्यों का समर्थन करने की प्रवृत्ति है।* इसके विरुद्ध जो आक्षेप किये जाते हैं वे निम्नलिखित हैं।

(१) यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है—इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक प्रधान आक्षेप यह है कि वह वास्तविकता की उपेक्षा करता है। वह आदर्श के रूप में तथा एक वास्तविक संस्था के रूप में राज्य में भेद नहीं करता।

* Unsound in theory untrue to fact, and liable to extend a dangerous sanction to the more unscrupulous actions of existing states in the sphere of foreign policy (Joad Modern Political Theory)

राज्य की कल्पना इस सिद्धान्त द्वारा जिस रूप में की गई है, वह वास्तविक जीवन की परिस्थितियों से बहुत दूर है। ऐसे आदर्श राज्य की स्थापना स्वर्ग में भले ही की जा सके किन्तु भूतल पर उनकी कभी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसका यह विचार कि राज्य प्रत्येक नागरिक की नैतिक इच्छा की स्वतन्त्र अनुमति तथा सहयोग पर आधारित है वास्तविक राज्यों के सम्बन्ध में लागू नहीं होता। यह आक्षेप सत्य है किन्तु अप्रासंगिक है क्योंकि हम पहले कह चुके हैं कि आदर्शवाद के अनुसार किसी संस्था की सच्ची प्रकृति का ज्ञान उससे सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों के पर्यवेक्षण द्वारा नहीं होता वरन् उन कल्पनाओं के भावात्मक विश्लेषण द्वारा होता है जो उसके मूल में काम करता हैं। किसी सिद्धान्त की परीक्षा उन आदर्शों के अनुसार नहीं करनी चाहिये जिनसे वह अलग रहता है।

(२) इसके साथ ही यह भी कहा जाता है कि वास्तव में आदर्शवादी आदर्श राज्य का भी निर्माण नहीं करता, वह तो वर्तमान अपूर्ण राज्य को ही आदर्श राज्य बतला कर विद्यमान् वस्तुओं के दैवी अधिकार का प्रतिपादन करता है।* समाज की वर्तमान संस्थाओं को ही आदर्श बतला कर वह समाज की अनुचित संस्थाओं का सुधार नहीं होने देता। उदाहरणार्थ, अरस्तू ने दास प्रथा को आदर्श व्यवस्था बतलाया हेगेल ने जर्मन एकतन्त्र को आदर्श राज्य सिद्ध किया और युद्ध को राज्य का एक आदर्श कार्य माना, यहां तक कि उदारवादी ग्रीन तक ने पूंजी के व्यक्तिगत स्वाम्य को आदर्श स्वीकार किया। इन सब बातों को देख कर हाब्सन ने आदर्शवाद को 'रूढ़िवाद का हथकण्डा' (Tactics of Conservatism) बतला कर उसकी निन्दा की है।† इस प्रकार वर्तमान् व्यवस्थाओं पर आदर्शवादी रंग चढ जाने का परिणाम यह होता है कि लोगों का ध्यान वर्तमान् व्यवस्था की त्रुटियों की ओर से हट जाता है और सुधार की प्रवृत्ति मन्द पड़ जाती है।

इसी सिलसिले में कुछ लोग एक अन्य दृष्टिकोण से कहते हैं कि आदर्शवादी विचारक समाज के मानव अन्तरात्मा में स्थित आध्यात्मिक आधारों को

---

* What the idealist does is not to construct an ideal, but to idealize the given data of imperfect society, and to preach the divine right of things as they are (Quoted in Barker, Political Thought in England p 67)

† Quoted in Barker Political Thought in England, p 67

इतना अधिक महत्व देता है, मनुष्य की विवेक बुद्धि, स्वतन्त्र इच्छा, सामान्य इच्छा आदि की विवेचना में ही इतना व्यस्त रहता है कि समाज की भौतिक अवस्थाओं में सुधार करने की आवश्यकता की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। वह लोगों की नैतिक वृत्ति के सुधार में इतना अधिक दत्तचित्त रहता है कि उसे वर्तमान संस्थाओं में कोई खराबी नहीं दिखाई देती। अरस्तू के समान वह भी सोचता है कि दोष 'निजी सम्पत्ति' से उत्पन्न नहीं होते वरन् मानव प्रकृति की दुष्टता के कारण उत्पन्न होते हैं। इसी कारण वह मनुष्य की नैतिक इच्छा की स्वतन्त्रता की परम आवश्यकता के आधार पर स्थित होकर राज्य को, जिसे इन बुराइयों का निवारण करना चाहिये, केवल बाधाओं के निराकरण के निषेधात्मक काम से आगे नहीं बढ़ने देता। इस प्रकार सुधार विरोधी होने के कारण यह रूढ़िवाद का ही दूसरा रूप है। अन्य बातों में भी यह रूढ़िवाद का समर्थन करता है। यह भी रूढ़िवाद की तरह राज्य में अनुशासन तथा व्यवस्था पर जोर देता है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी है, युद्ध एवं अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का समर्थक है और विश्वशान्ति का विरोधी है।

उपर्युक्त आक्षेप हेगेल तथा उसके समर्थकों के विरुद्ध तो सत्य हो सकते हैं परन्तु, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, ग्रीन जैसे मर्यादित आदर्शवादी के सम्बन्ध में तो बिलकुल असत्य हैं। ग्रीन द्वारा प्रतिपादित राज्य के कार्यों का सिद्धान्त इतना लचीला है कि उत्तम जीवन के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को दूर करने की आवश्यकता के आधार पर राज्य क्रान्तिकारी सुधार तक कर सकता है। ग्रीन व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पुजारी है, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता एवं विश्व बन्धुत्व का प्रबल समर्थक है और युद्ध का घोर विरोधी है।

(२) मेकडूगल, ग्रेहम वालास आदि मनोविज्ञान विशारद इस सिद्धान्त की अतिशय बुद्धिपरकता पर आक्षेप करते हैं। उनका कथन है कि आदर्शवादी लोग चेतन इच्छा तथा विवेकयुक्त मन पर अत्यधिक जोर देते हैं। मनुष्य जीवन में इच्छा तथा विवेक का एक क्षेत्र अवश्य है परन्तु उसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्र भी हैं जिनकी आदर्शवाद बिलकुल उपेक्षा करता है। यदि हम मनुष्य के व्यवहार को देखें तो हमें मालूम होगा कि वह बुद्धि द्वारा अधिक प्रेरित नहीं होता। उसके कार्यों में राग द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदि बुद्धि विरोधी वृत्तियों का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। लोग साधारणतया अपने दैनिक जीवन में बुद्धि से काम न लेकर अपनी अन्त प्रवृत्तियों से तथा अभ्यासवश अधिक काम करते हैं, दूसरों के सुझावों का उन पर अधिक प्रभाव पड़ता है और वे दूसरों की नकल करते हैं। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में बुद्धि की

जगह अबौद्धिक तत्व अधिक प्रभावशाली होते हैं। ग्रेहम वालास ने निर्वाचनों में लोगों के मतदान का विश्लेषण करके बतलाया है और हम भी इस बात को जानते हैं कि अधिकांश लोग मत देते समय सिद्धान्तों अथवा उचित अनुचित योग्य अयोग्य का विवेकपूर्वक विचार किये बिना मित्रता, जाति, द्वेष, दलीय हित आदि के आधार पर मत देते हैं। इस प्रकार समाज मनोवैज्ञानिकों का आदर्शवाद के विरुद्ध यह आक्षेप है कि वह एकांगी और अपूर्ण है क्योंकि उसका आधार समस्त प्रकृति न होकर उसका केवल एक अंग—बुद्धि—मात्र है।

मनोवैज्ञानिकों का यह तक बहुत कुछ अंश में सत्य है परन्तु उन्होंने आदर्शवाद को यथार्थ रीति से नहीं समझा। जब आदर्शवादी यह कहता है कि राज्य विवेक और तर्कपूर्ण इच्छा की उत्पत्ति है तो उसका यह आशय नहीं होता कि राजनीतिक संस्थाओं का सावधानी पूर्वक सोच विचार कर निर्माण किया गया है। उसका आशय इतना ही होता है कि यदि हम युग युगों के विकास को देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इस विकास प्रक्रिया में मनुष्य का विवेक सदा सक्रिय रहा है, चाहे वह अप्रत्यक्ष रूप में ही रहा हो। 'यदि विवेक सक्रिय न रहा होता तो विकास का आज तक का परिणाम जैसा है उससे भिन्न हुआ होता और हम एक तर्कसंगत बुद्धिगम्य संगठित जीवन के स्थान पर स्वाभाविक प्रवृत्तियों, आदतों तथा निषेधों का एक गोरखधंधा दिखाई देता जिसका न कोई अर्थ होता, न कोई सम्बन्ध होता और न कोई कारण ही होता।'*

आदर्शवादी यह दावा भी नहीं करता कि राजनीतिक क्षेत्र में एक साधारण नागरिक सभी काम सक्रिय विवेक द्वारा करता है। उसके बहुत से काम आदत या अनुकरण के कारण हो सकते हैं। जब वह कहता है कि उसके काम बुद्धियुक्त हैं तो उसका केवल इतना ही आशय होता है कि उनकी युक्तियुक्त व्याख्या हो सकती है। उसकी इच्छा यह है कि अभ्यास, अनुकरण आदि अबौद्धिक प्रवृत्तियों को बुद्धि का सहायक होना चाहिये उसका स्वामी नहीं। मनुष्य की बुद्धि को अस्वीकार करके उसे उसकी प्रकृति के अबौद्धिक तत्वों का दास मान लेना उसको गिरा कर पशुओं की कोटि में ला देना है।

(४) राज्य का व्यक्तित्व—यह सिद्धान्त राज्य को एक वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान करता है जिसमें उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व का समावेश होता है जो उसके सदस्य हैं। यह व्यक्तित्व उस कानूनी या काल्पनिक व्यक्तित्व से

* Barker Political Thought in England p 69

भिन्न है जिसका प्रतिपादन कानूनी सिद्धात करता है। यह सजीव व्यक्तित्व है। हेगेल के अनुसार राज्य सजीव व्यक्ति है। उसकी एकता आत्मचेतना की एकता है। राज्य के वास्तविक व्यक्तित्व के सिद्धान्त को दुग्वी तथा मकआइवर जैसे लेखकों ने विचित्र तथा असगत मान कर अस्वीकार कर दिया है। मैकआइवर का मत है कि राज्य की एकता उसके सदस्यो की एकता के समान नहीं हो सकती। व्यक्तियो का एक समूह एक व्यक्ति उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार एक अश्व समूह एक अश्व नहीं हो सकता या विद्यार्थियो का एक समूह एक विद्यार्थी नहीं हो सकता। मैकआइवर का यह मत तर्कपूर्ण प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार एक समिति मे एक मन का दूसरे मन से सम्पर्क होने पर एक सामान्य मन या इच्छा का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी प्रकार समाज मे सामान्य इच्छा या चेतना हो सकती है जिसे हम राष्ट्रीय इच्छा या चेतना कहते हैं जो विविध व्यक्तियो की इच्छाओ से भिन्न होती है। किन्तु यदि हम इस दावे को स्वीकार भी कर ले और राज्य के व्यक्तित्व मे विश्वास भी करें तो भी हम उन सब बातो को स्वीकार नहीं कर सकते जो उग्र आदर्शवादी कहते है। राज्य को कोई अति मानव नहीं माना जा सकता जिसमे अपने सदस्यो का समावेश हो। जो राज्य के इस अति-व्यक्तित्व मे विश्वास करते हैं, वे यह नहीं बतलाते कि वह किस प्रकार अपने नागरिको के व्यक्तित्व का अपने मे समावेश कर सकता है। यह समझना सरल नहीं है कि एक व्यक्तित्व मे किस प्रकार दूसरे व्यक्तित्व का समावेश हो जाता है।

राज्य को एक सजीव व्यक्तित्व मान लेने से जो परिणाम निकलते है वे अत्यन्त खतरनाक है। उसका राज्य की सर्वशक्तिसम्पन्नता तथा निरकुशता का प्रचार करने मे प्रयोग किया जाता है। इससे व्यक्ति राज्य की पूर्ण अधीनता मे आ जाता है और अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। वह व्यक्ति को क्रान्ति का अधिकार नहीं देता, यहा तक कि वह राज्य के किसी कार्य के औचित्य मे सन्देह करने का अधिकार भी नहीं देता। राज्य की दैवी प्रकृति और उसकी अभ्रान्तता के कारण व्यक्ति राज्य के अनुचित कार्यों की आलोचना करने के अधिकार तक से वंचित कर दिया जाता है। इन समस्त बातो मे इस सिद्धान्त का हम समर्थन नहीं कर सकते। यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि ये विचार समस्त आदर्शवादियो के नहीं हैं। वे हेगेल तथा उसके जर्मन अनुयायी बर्नहार्डी और ट्रिटश्के के विचार है। यह आलोचना गम्भीर तथा मर्यादित आदर्शवादी ग्रीन आदि के सम्बन्ध मे उपयुक्त नहीं हैं।

(५) राज्य और समाज—आदर्शवादी सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि यह आज के सामाजिक जीवन के समस्त तथ्यों पर विचार नहीं करता। राज्य तथा समाज की एकरूपता, जिसको मान कर यह सिद्धान्त चलता है, सही नहीं है। यदि हम एक बार राज्य तथा समाज में भेद कर और हम यह अनुभव करें कि सामाजिक जीवन में ऐच्छिक संस्थाओं का क्या महत्व है तो हम राज्य को उस उच्चासन पर आसीन नहीं कर सकते जिस पर हेगेल ने उसे बिठला दिया है। राज्य तथा समाज में भेद न करना इस सिद्धांत का एक बड़ा भारी दोष है। यह आलोचना भी आदर्शात्मक सिद्धांत के उग्र रूप के सम्बन्ध में ही सत्य है। यह उसके मर्यादित रूप के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकती।

बोसान्क्वे का यह विचार कि राज्य सदाचार के सिद्धांतों से ऊपर है और अपने सदस्यों तथा दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करने में वह इन नियमों का पालन करने के लिये बाध्य नहीं है सर्वथा गलत है। यह समझ में नहीं आता कि एक राज्य दूसरे राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों में नैतिक नियमों का पालन क्यों न करें और उसके राज्य के अन्दर के कामों के सम्बन्ध में भी नागरिक की नैतिक स्वीकृति या अस्वीकृति उसके लिये आवश्यक क्या नहीं है।

(६) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का निषेध—इस सिद्धांत के विरुद्ध एक अन्य आक्षेप यह भी किया जाता है कि यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और कानून के पालन को एक ही वस्तु मान कर वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सार एवं महत्व को कम कर देता है। इसकी मान्यता है कि सच्ची स्वतन्त्रता विवेकपूर्ण कार्य करने की स्वतन्त्रता है, वह विवेकपूर्ण आत्म-संयम है। परन्तु यदि व्यक्ति में ये गुण नहीं है तो इस कमी की पूर्ति समाज को करनी पड़ती है, वह अपने कानूनों के द्वारा अपने सदस्यों को स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस प्रकार कानून का पालन करना ही स्वतन्त्रता का उपभोग करना हो जाता है। इस प्रकार एक मूर्ख को उस समय भी स्वतन्त्र कहा जा सकता है जबकि उसे उससे अधिक बुद्धिमान् समाज ने कैद कर रखा है। समाज उसे स्वतन्त्र बनाने के लिए उसके साथ बलात्कार कर सकता है। यह बात चाहे कितनी ही सत्य हो कि स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों द्वारा सब पर समान रूप से प्रतिबन्ध लगाने में ही सम्भव होती है किन्तु यह मानना पड़ेगा कि आदर्शवादी सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता और नैतिक स्वतन्त्रता को एक समझ कर तथा व्यक्ति के वैयक्तिक विवेक और समाज के अवैयक्तिक विवेक के भेद की उपेक्षा करके बड़ी भूल करता है। एक व्यक्ति उसी समय स्वतन्त्र कहा जा सकता है जब कि वह उस

काम को कर सके जिसे वह उचित समझता है, जब कि वह दूसरों को इसी प्रकार की स्वतन्त्रता से वंचित न करता हुआ अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। जब उसे उन कार्यों को करने के लिए विवश किया जाता है जिन्हें दूसरे उचित समझते है तो वह स्वतन्त्र नही रहता। लास्की ने कहा है कि जब व्यक्ति उन क्षेत्रों मे, जिन्हे वह महत्वपूर्ण समझता है, विफलता का अनुभव करता है तो उसके लिये कोई स्वतन्त्रता नही रह जाती। वास्तव मे स्वतन्त्रता तभी होती है जब कि शासन के स्वेच्छाचार पर प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति हो। आदर्शवादी लोग कानून के पालन और स्वतन्त्रता को एक समझने मे इस महत्वपूर्ण बात को भूल जाते है। किन्तु यह आक्षेप आदर्शवादी सिद्धान्त की इस प्रतिज्ञा को मिथ्या सिद्ध नही करता कि कानून स्वतन्त्रता की पूर्व शर्त है। वह केवल यही दिखलाता है कि कुछ कानून ऐसे नही होते जैसा उन्हे होना चाहिये। आदर्शवादी यह पूर्णत स्वीकार कर लेंगे कि ऐसे कानूनो का पालन स्वतन्त्रता नही है।

इन आलोचनाओ के मूल्यो के सम्बन्ध मे विचार करते समय हमे आदर्शवादी सिद्धान्त के मर्यादित तथा उग्र रूपो के भेद का ध्यान रखना चाहिये। ये आक्षेप *हीगेल के विचारो के विरुद्ध तो ठीक है जिनका आज कोई समर्थन* नही करता। गार्नर ने लिखा है कि— आज समस्त राजनीतिक लेखक हीगेल के अधिकाश विचारो को, विशेष रूप से राज्य की स्वच्छन्दाचारिता के सिद्धान्त, उसकी तथाकथित दैवी प्रकृति एव ऐसी अवस्था मे सत्ता के आदेश का पालन करने के कर्तव्य को जब कि वह अवैध तथा अन्यायपूर्ण हो और इस सिद्धान्त को कि राज्य ही साध्य है, एक रहस्यमय अति व्यक्तित्व है, केवलात्मा का अवतार है जिसके नागरिको मे भिन्न अपने अधिकार एव हित हैं, अस्वीकार करते है।'* ये आलोचनाएँ ग्रीन जैसे आधुनिक आदर्शवादी विचारको के सम्बन्ध मे लागू नही होती। उन्होने आदर्शवादी सिद्धान्त की जो व्याख्या की है उसमे अनेक मूल्यवान तत्व है। राज्य स्वाभाविक तथा आवश्यक है, उसका मुख्य उद्देश्य ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न करना है जिनमे नागरिक अपने नैतिक व्यक्तित्व का विकास कर सकें, राज्य अपनी प्रकृति मे सावयव है वह अन्य समस्त संस्थाओ से सर्वोपरि है, वह समस्त कानूनो और अधिकारो का स्रोत है, वह अपनी रक्षा के लिये अपने सदस्यो (नागरिको) से अपने प्रति भक्ति तथा बलिदान का अधिकार रखता है, राज्य इच्छा पर आश्रित है, शक्ति पर नही। ये सब बातें सत्य है जिन्हे कोई भी राज्य का सही सिद्धान्त उपेक्षा की दृष्टि से नही देख सकता।

---

* Garner Political Science and Government, pp 218-219

राजनीति मे मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय

आन्शवाद की आलोचना करते समय हमने मनोवैज्ञानिकों के तर्क पर विचार किया था। कुछ वर्षो से राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र म मनोवैज्ञानिक विचारधारा का बडा महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। अत यह उचित होगा हम इस पर कुछ विचार कर लें। इसका विचार इसलिये और भी आवश्यक है कि यह बुद्धिवाद की जो आदशवाद तथा प्रजातन्त्र की विशेषता है, आलोचना है और उसकी प्रतिक्रिया भी है। वतमान् काल म रूस, जमनी, इटली आदि देशा म जो सवसत्तावादी शासन कायम हुए हैं उनमे इस विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दता है।

राजनीति तथा मनोविज्ञान के बीच पुराना साहचय है किन्तु मनोविज्ञान का राजनीतिक विश्लेषण म सुव्यवस्थित रूप मे प्रयोग बेजहाट की सन् १८७३ ई० मे प्रकाशित 'भौतिक विज्ञान तथा राजनीति' (Physics and Politics) नामक पुस्तक की रचना के समय म हुआ। उसने राजनीति की समस्याओ पर मनोवैज्ञानिक ढग से विचार करने की प्रणाली आरम्भ की जब कि उसमे पूव राजनीतिक प्रश्नो पर प्राणि विज्ञान के प्रकाश मे विचार करने की प्रणाली ही प्रचलित थी। राजनीतिक समस्याओ पर मनोवैज्ञानिक ढग से विचार करने पर जोर देनेवाले विद्वानो मे ग्रेहम वालास का नाम प्रसिद्ध है, जिसकी 'राजनीति म मानव प्रकृति' (Human Nature in Politics) तथा "महान समाज' (The Great Society) नामक पुस्तकें बहुत ही विचार पूर्ण हैं।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का एक प्रमुख मन्तव्य यह है कि राज्य और उसकी सस्थाएँ मन के परिणाम या फल हैं अत उनका अध्ययन मन की मापा द्वारा ही भली भाँति किया जा सकता है। मानवीय व्यवहार के अध्ययन की कुजी मनोविज्ञान ही है। यदि उसका अथ केवल यही हो कि समस्त राजनीतिक विचारो का आधार मनोवैज्ञानिक होना चाहिये तो इसमे कोई भी इन्कार नही करेगा। अफलातून, अरस्तू, मकियावेली, हॉब्स, लॉक और रूसो के ग्रन्थ पर्याप्त रूप से इसका स्पष्टीकरण करते है। किन्तु कभी-कभी इसकी व्याख्या इस प्रकार से की जाती है कि चूँकि सामुदायिक जीवन के तथ्य सामुदायिक चेतना के तथ्य हैं इसलिय उनके अध्ययन की एकमात्र समुचित पद्धति मनोवैज्ञानिक प्रणाली ही है। दूसरे शब्दो म यह भी कहा जाता है कि राज्य विज्ञान के विद्यार्थी के लिये जो अब मनोवैज्ञानिक हो गया है अध्ययन की

उचित विधि प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन की विधि है। इस विधि के दो प्रमुख लक्षण है। प्रथम, यह समस्त तथ्यो पर विचार करती है और उनके मूल्यो मे कोई भेद नही करती। यह कुछ तथ्यो को अच्छा और दूसरो को हेय नही मानती। दूसरे, यह जटिल घटनाओ को उनके सरल घटको मे परिवर्तित कर उन सरल घटको के प्रकाश मे उन जटिल समस्याओ का अध्ययन करती है।

प्राकृतिक विज्ञान की इस विधि का राज्य विज्ञान मे प्रयोग करने के दो परिणाम होगे। राज्य-वैज्ञानिक के लिये समस्त सामाजिक तथ्यो का समान मूल्य होगा। उसके लिये एक कबीले का वही मूल्य होगा जो एक मजदूर सघ का। इसे स्वीकार नही किया जा सकता। राज्य विज्ञान का आदर्शात्मक पहलू भी है, एक सीमा तक। वह मूल्यो पर विचार करता है। मूल्य का अस्तित्व न वैज्ञानिक के लिये है और न मनोवैज्ञानिक के लिये ही। इसका यह अर्थ निकला कि राजनीतिक समस्याओ का अध्ययन पूर्ण रूप मे एक मनोवैज्ञानिक के बतलाये ढग से नही किया जा सकता और न राज्य विज्ञान जटिल घटनाओ को सरल घटनाओ द्वारा समझने की रीतियो का प्रयोग ही सफलता के साथ कर सकता है। सामाजिक विज्ञानो मे व्याख्या सदैव ध्येय या उद्देश्यो की दृष्टि से ही होती है, प्रारम्भिक अवस्था की दृष्टि से नहीं। निम्नतम की व्याख्या उच्चतम द्वारा हो सकती है परन्तु उच्चतम की व्याख्या निम्नतम द्वारा नही हो सकती। राजनीतिक जीवन की सरल घटनाओ, जिनका पूर्वकाल मे विकास हुआ, और बाद मे विकसित जटिल घटनाओ। इन दोनो की व्याख्या लक्ष्य की प्राप्ति के क्रम मे विभिन्न अवस्थाओ के रूप मे की जानी चाहिये। किन्तु समाज मनोवैज्ञानिक प्रारम्भिक अवस्था को समय के विचार से नही, महत्व के विचार से लक्ष्य से पूर्ववर्ती समझता है। साराश मे, वह सभ्य जीवन की व्याख्या असभ्य प्रवृत्ति की भाषा मे करता है।* इस प्रकार वह तथ्यो को गलत सिरे से क्रमबद्ध करता है।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का दूसरा प्रमुख विचार यह है कि राजनीतिक कार्य और व्यक्तियो के विचार को विशुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया के प्रतिफल मानना भूल है। उनके विचार तथा तर्क उन पर निस्सन्देह प्रभाव डालते हैं किन्तु

---

* The social psychologist is led to make the beginning prior not only in time but in importance to the end in a word to explain civilized life in terms of savage instinct (Barker op cit, p 130)

उनसे कहीं अधिक महत्व प्रवृत्तियां तथा मनोभावों के प्रभावों का होता है। जो राजनीतिक सिद्धान्त मानव प्रकृति के अबौद्धिक पहलू की उपेक्षा करता है और जो उसकी क्रियाओं को 'बौद्धिक शक्ति' के प्रतिफल समझता है, वह गलत प्रतिज्ञा से आरम्भ करता है और गलत परिणामों से बच नहीं सकता। आदर्शवाद में यह बात दिखाई देती है। राज्य को बुद्धि या विवेकपूर्ण इच्छा का फल मानने में वह एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना करता है जो आज तक के किसी भी राज्य के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता। जिस राज्य के सम्बन्ध में आदर्शवादी विचार करता है, वह चाहे कहीं स्वर्ग में विद्यमान हो, इस भूतल पर उसका कहीं भी अस्तित्व नहीं है। यही बात उसके राजनीतिक दायित्वों की व्याख्या के सम्बन्ध में भी सत्य है। वास्तविक व्यवहार में मनुष्य राज्य की सत्ता की आज्ञा का पालन जिस भावना के साथ करता है वह यह अनुभूति नहीं है कि राज्य सामान्य इच्छा की प्रतिमा है और न यह भावना ही कि इस प्रकार आदेश पालन से सामान्य हित की सर्वाधिक सिद्धि होगी। राजनीतिक नियन्त्रण अपने आधार में सामाजिक ही है। समाज में जो सुव्यवस्था और सामंजस्य है वह लोकाचार, लोकमत, सुभाव, अभ्यास एवं अनुकरण आदि अनेक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों का, जो कानून के क्षेत्र से बाहर की बातें हैं, परिणाम है।

समाज-मनोवैज्ञानिक ने राज्य-वैज्ञानिक का ध्यान मनुष्य की सहज प्रकृति की प्रवृत्तियां एवं मनोभावों के अस्तित्व तथा उनके समस्त उप चेतन पक्ष की ओर आकर्षित करके एक बड़ी सेवा की है। मनुष्य के राजनीतिक जीवन का कोई भी अध्ययन तब तक पर्याप्त और पूर्ण नहीं हो सकता जब तक हम उनके अस्तित्व पर तथा राजनीतिक मत या आचरण के निर्माण में उनके कार्य पर विचार नहीं करते। राजनीति की कला अधिकांश में लोकमत के निर्माण में मानव के भावात्मक पक्ष का विचारपूर्वक उपयोग करने में ही है। राजनीतिक नेता बड़ी चतुरता के साथ हमारे मनोभावों को अपने उद्देश्य के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं, वे कुछ विचारों के लिये नूतन नाम रखते हैं और उसको हमारे मनोभावों के साथ जोड़ देते हैं। राजनीतिक दल भावात्मक विचारों के प्रतीक हैं। भावों का सामाजिक आचरण पर कितना प्रभाव पड़ता है, इसके लिये अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। ग्रेहम वालास के अनुसार राजनीति एक अल्प मात्रा में ही चेतनामय तर्क बुद्धि का परिणाम है। वह प्रधानतः "अभ्यास तथा प्रवृत्ति, सुभाव तथा अनुकरण का ही परिणाम है।"

समाज मनोवैज्ञानिकों ने जिन महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, उन्हें अस्वीकार करना व्यर्थ होगा। वे निस्सन्देह हमारे राजनीतिक विचारों एवं क्रियाओं का निर्धारण करते हैं। किन्तु इस खोज के उत्साह में समाज मनोवैज्ञानिक उन तथ्यों को अधिक महत्व देता है और बौद्धिक तत्वों को कम। बुद्धि और विवेक हमारे जीवन में कार्य करते हैं और एक बड़ी सीमा तक वे राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण एवं संचालन में भी काम करते है, जिसे मनोवैज्ञानिक स्वीकार नही करते। राज्य तथा उनकी संस्थाएँ बुद्धिमूलक हैं किन्तु इस अर्थ में नही कि उनका निर्माण बुद्धि के विचार पूर्ण कार्य के फलस्वरूप हुआ है। वे बुद्धिमूलक इस अर्थ में हैं कि उनकी बुद्धि के आधार पर व्याख्या की जा सकती है। उनका निर्माण मनुष्यों के द्वारा हुआ है जिनके जीवन मे बुद्धि तत्व प्रधान है। यह सत्य है कि राज्य सत्ता के आदेश का पालन करते समय न तो साधारण मनुष्य और न दार्शनिक न तो सामान्य इच्छा का स्मरण करता है और न सामान्य लोक संग्रह का। किन्तु यह विचार विद्यमान् रहता है और मन द्वारा गुप्त रूप मे अपना प्रभाव डालता है। इस बात पर विश्वास करना कि राज्य की एकता अनुकरण अथवा सुभाव के अबौद्धिक प्रभाव पर टिकी हुई है, हास्यप्रद है। यह स्वीकार करना कि समाज सुभाव तथा अनुकरण के कारण ही कायम है उसे अबौद्धिक संस्था बना देना है जो वह नही है। एक संस्था और कुछ हो या न हो, उसके पीछे बुद्धि अवश्य कार्य करती है। बार्कर के निम्नलिखित वाक्य मे मनोवैज्ञानिक समुदाय की आलोचना का सारांश निहित है। "समाज मनोविज्ञान हमें पहले भौतिकवाद की ओर अग्रसर करता है तथा निम्नतम के द्वारा उच्चतम की व्याख्या करवाता है और इसके बाद वह हमे अबुद्धिवाद की ओर ले जाता है जिससे हम समाज को अनुकरण का परिणाम समझते है और उसके नागरिकों को मनमाने सुभावों का जादूभरा परिणाम।*

प्रश्न

१ आदर्शवाद की मुख्य बातों का संक्षेप मे वर्णन कीजिये।

२ उग्र और मर्यादित आदर्शवाद के भेद का क्या आधार है? संक्षेप में इन दोनों के अन्तर को समझाइये।

---

* Social psychology leads us first into the materialism of explaining the higher by the lower and then into the irrationalism of seeing in society the result of imitation and in its citizens the hypontized product of arbitrary suggestion (Barker Political Thought in England, p 130)

३ हेगेल के द्वन्द्वात्मक विकास की प्रक्रिया को समझाइये। वह इस प्रक्रिया द्वारा राज्य को किस प्रकार सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करता है ?

४ राज्य का कार्य 'बाधाओं का निराकरण' है। ग्रीन के इस सिद्धान्त का विवेचन कीजिये और बतलाइये कि क्या यह सिद्धान्त रूढ़िवाद का समर्थक है ?

५ 'राज्य का आधार इच्छा है शक्ति नहीं। ग्रीन की इस उक्ति को समझाइये और उस पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

६ ग्रीन की दण्ड नीति क्या थी ? क्या आप उससे सहमत हैं ?

७ मानव चेतना स्वतन्त्रता की इच्छा करती है, स्वतन्त्रता के लिये अधिकार आवश्यक हैं, अधिकारों की प्राप्ति के लिये राज्य की आवश्यकता है।' (ग्रीन) इस उक्ति को समझाइये।

८ व्यक्तिवाद और आदर्शवाद में राज्य के कार्य विषयक सिद्धान्तों की तुलना कीजिये।

९ क्या राज्य निरंकुश एवं सर्वशक्तिमान है ? इस विषय पर ग्रीन और हेगेल के विचारों पर प्रकाश डालिये।

१० क्या व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार है ? इस प्रश्न पर ग्रीन के विचार बतलाइये।

११ आदर्शवादी सिद्धान्त 'सिद्धान्त की दृष्टि से सही नहीं है तथ्यों के प्रतिकूल है और इसमें वर्तमान राज्यों के परराष्ट्र-नीति के क्षेत्र में किये जानेवाले अविवेकपूर्ण कार्यों का समर्थन करने की प्रवृत्ति है।' (जोड) इस कथन का विवेचन कीजिये।

१२ मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायवाले आदर्शवाद की किस आधार पर आलोचना करते हैं ?

१३ 'वास्तव में आदर्शवादी आदर्श राज्य का निर्माण नहीं करता, वह तो वर्तमान अपूर्ण राज्य को ही आदर्श राज्य बतला कर विद्यमान् वस्तुओं के दैवी अधिकार का प्रतिपादन करता है। इस उक्ति पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

१४ आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति और राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये।

100

अध्याय ६

समाजवाद

हमने पिछले अध्यायो मे व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद तथा आदर्शवाद का विवेचन किया है। आप देख चुके हैं कि उपयोगितावाद व्यक्तिवाद का ही परिष्कृत रूप है। ग्रीन का मर्यादित आदर्शवाद भी मूलत व्यक्तिवाद ही है। समाजवाद व्यक्तिवाद का बिलकुल उल्टा है। इस अध्याय मे तथा अगले अध्यायो मे हम समाजवाद तथा उसके विभिन्न रूपो का अध्ययन करेंगे।

समाजवाद (Socialism) ऐसा शब्द है जिसकी कोई सक्षिप्त और यथार्थ परिभाषा नही की जा सकती। विभिन्न लोगो ने इसकी विभिन्न रूपो मे कल्पना की है। इसके दो विभिन्न प्रयोग स्पष्ट हैं। व्यापक अर्थ मे इसका अभिप्राय कुछ जटिल सिद्धान्तो तथा उनसे सम्बन्धित राजनीतिक आदोलन से है जिनका उद्देश्य वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमे उत्पादन के साधनो का स्वामी समाज होगा। इस अर्थ मे साम्यवादी (Communist), सिण्डिकेलिस्ट गिल्ड समाजवादी, समष्टिवादी (Collectivist) सब समाजवादी हैं, चाहे नवीन समाज के रूप तथा उनका निर्माण करने के ढङ्ग मे उनमे कितना ही मतभेद क्यो न हो। सकीर्ण अर्थ मे, जिसमे विशेषकर उसको व्यक्तिवाद के विपरीत बतलाया जाता है, उसका प्रयोग समष्टिवाद के लिये होता है जो समाजवादियो का एक विशिष्ट समुदाय है। यहाँ हम केवल समष्टिवाद के सम्बन्ध मे विचार करेंगे। परन्तु उस पर विचार करने से पूर्व हम समाजवाद के मूल सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर देना चाहते हैं, जिनमे सभी प्रकार के समाजवादियो का विश्वास है।

समाजवाद का अर्थ—

व्यापक अर्थ मे समाजवाद उस आधुनिक आर्थिक एव सामाजिक सङ्गठन

का विरोधी है जिसका व्यक्तिवाद ने पोषण किया है और जो व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर आधारित है। पूँजीवाद की आलोचना और पूँजीवादी व्यवस्था को हटा कर उसके स्थान पर एक नवीन सहकारी व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य मे, जिसमे न व्यक्तिगत पूँजी और न स्वतन्त्र प्रतियोगिता के लिये ही कोई स्थान होगा, सभी समाजवादी सहमत है। परन्तु पूँजीवाद को हटा कर उसके स्थान पर जो नवीन व्यवस्था स्थापित की जायगी उसके सम्बन्ध म उनमे तीव्र मतभेद है। इस अध्याय म हम समाजवाद के आलोचनात्मक तथा निषेधात्मक पहलू पर विचार करने के बाद समष्टिवाद के रचनात्मक प्रस्तावो पर विचार करेंगे। कम्यूनिज्म, सिण्डीकलिज्म, गिल्ड समाजवाद तथा अराजकतावाद पर अगले अध्यायो मे विचार किया जायगा।

समाजवाद पूँजीवाद पर कई प्रकार से दोषारोपण करता है (१) पूँजीवाद सम्पत्ति के वितरण मे गम्भीर विषमताएँ उत्पन्न कर देता है (२) उसके (पूँजीवाद के) द्वारा व्यय म बर्बादी बहुत होती है और उसम नैपुण्य की कमी है, (३) वह मानवता तथा न्याय के सम्बन्ध म उदासीन रहती है, तथा (४) वह विश्व-शान्ति मे बाधक है। (५) साराश मे, उसमे बहुजन का शोषण होता है।

(१) गभीर विषमताएँ—

पूँजीवाद ने सम्पत्ति के वितरण म वास्तव मे अत्यधिक भेद भाव तथा विषमताएँ उत्पन्न कर दी है। इस विषमता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इङ्गलैण्ड म उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के पूव जनता के $\frac{1}{10}$ भाग के पास कुल राष्ट्रीय आय का आधा था। एक लेखक ने हिसाब लगाकर बतलाया है कि सन १९३१ ई० म ४०% राष्ट्रीय आय जनता के ७६% भाग को मजदूरी के रूप म दे दी गई, २४% राष्ट्रीय आय १४% जनता को वेतन के रूप म दी गई और ३६% आय १०% जनता को भाड तथा मुनाफे के रूप म मिली। फ्रास म सीधी आय प्राप्त करनेवाली १ करोड १० लाख जनता म से केवल ३,४०० व्यक्तियो को प्रतिवष ४,००० पौड से भी अधिक मिलता है और ९५ लाख से भी अधिक जनता को प्रति वष १०० पौड से भी कम मिलते है। प्राय प्रत्यक योरोपीय देश मे कुल राष्ट्रीय आय के आधे भाग का $\frac{1}{10}$ जनता भोग करती है। इस असम वितरण के बडे बुरे सामाजिक परिणाम निकलते है। इससे जनता राजनीति मे कोई प्रभावकारी भाग नही ले सकती क्योकि वतमान् व्यवस्था म राज्य म राजनीतिक सत्ता केवल उन्ही लोगो के हाथ म होती है जिनके पास आर्थिक सत्ता होती है। इस प्रकार इससे प्रजातान्त्रिक आदर्श की

प्राप्ति मे बाधा पडती है। दूसरे, इसका अर्थ है जनता के एक बहुत बडे भाग को अपर्याप्त भोजन मिलना जिससे जनता के स्वास्थ्य की हानि होती है उसकी कार्य-कुशलता कम होती है तथा अन्य कई बुराइयाँ भी उत्पन्न होती हैं। अन्त मे, जैसा अरस्तू ने कहा था, इस प्रकार की विषमता से ही क्रान्तियों का जन्म होता है। यह राज्य की स्थिरता के लिये भी खतरनाक है। समाजवाद इस बुराई को दूर करना चाहता है और सम्पत्ति का अधिक उचित तथा न्याय पूर्ण रूप से वितरण करना चाहता है। यह ठीक ही कहा गया है कि समानता की माग ही समाजवाद का आधार है।

(२) कार्य कुशलता की कमी—

पूँजीवाद के विरुद्ध दूसरा दोषारोपण यह है कि उसमे कार्य-कुशलता कम होती है। यह कार्य कुशलता की कमी कई कारणो से होती है। प्रथम, यह अनियन्त्रित प्रतियोगिता का परिणाम है जो दूषित तथा हानिकारक है। यह हानिकारक तथा वृथा है क्योंकि इससे व्यर्थ मे सेवाओ का दोहराव होता है जिसमे विज्ञापन, प्रचार आदि मे अनाप शनाप खर्च होता है। प्राय प्रतियोगिता का अभिप्राय कारोबार को एक व्यक्ति से हटा कर दूसरे व्यक्ति की ओर ले जाना ही होता है। इससे वस्तुएँ घटिया बनने लगती है और मजदूरी घट जाती है। यह दूषित भी है क्योंकि यह समाज विरोधी रूप धारण कर मनुष्य को भौतिकवादी बना देता है और वह अनुचित साधनो तथा बेईमानी से धन-संग्रह करने लगता है। अतः यह छोटे प्रतियोगियो के लिये ठीक नही है। अन्त मे, इससे बडे-बडे उद्योग मिलकर सङ्घ (Combines) बना लेते हैं और अन्त मे, एकाधिकार (Monopoly) स्थापित कर लेते हैं जिसके लिये उपभोक्ताओ को बडी भारी कीमत देनी पडती है और बडे कष्ट उठाने पडते हैं।

पूँजीवाद मे कार्य-कुशलता के अभाव का दूसरा कारण यह है कि उसमे प्रलगन नियोजन (Planning) का अभाव होना है। उत्पादन अव्यवस्थित और एक सीमा तक अस्त व्यस्त सा हो जाता है। उसमे अत्यधिक उत्पादन होता है और अनावश्यक तथा विलास की सामग्री का उत्पादन होने लगता है। जो आर्थिक मन्दी समय समय पर देखने मे आती है और अत्यधिक उत्पादन को रोकने के लिये सरकार को जो व्यवस्था करनी पडती है इन सबसे पूँजीवाद का अनपुण्य प्रकट होता है। इससे उन वर्गों मे जिनको उत्पादन मे साझेदार होना चाहिये असामञ्जस्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार भी इसकी अपुण्यता सिद्ध होती है।

तीसरे, पूँजीवाद इस कारण भी कार्य-कुशलताहीन है कि इसमे कुशलता का अभाव रहता है। एक वर्ग का [illegible] [illegible] ज्ञान मे [illegible] [illegible] है

सकते हैं और आर्थिक मन्दी के कारण भी लाखो व्यक्ति बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद 'अपन सगठन मे अव्यवस्थित और राजस्व मे केवल अनुमान' रह गया है।

पूँजीवाद के विरुद्ध सबसे बडा दोषारोपण तो यह है कि उसका सामाजिक उद्देश्य से कोई सम्बन्ध नही है। वस्तुओं का उत्पादन इसलिय नही किया जाता कि वे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी है या आवश्यक ह वरन् इसलिय कि पूँजीपति उनस काफी मुनाफा उठा सकत है। पूँजीपति बाजार म हानिकारक औषधियाँ तक भेजन में सकोच नही करेगा, यदि उस यह विश्वास हो जाय कि उसे इससे काफी मुनाफा होगा। उसका ध्यय है व्यक्तिगत लाभ के लिय उत्पादन, सामाजिक प्रयोग के लिये नही।

(३) मानवता तथा न्याय का अभाव—

समाजवाद पूँजीवाद पर यह भी दोषारोपण करता है कि उसम न्याय के लिये कोई स्थान नही है। वह अन्यायपूर्ण है क्योकि उसमे सम्पत्ति का वितरण बडा विषम होता है। विभिन्न श्रेणियो के मजदूरो को जो उत्पादन म भाग लेते हैं जो मजदूरी मिलती है वह उनकी योग्यता एव गुणो के अनुपात म बिलकुल नही होती। पूँजीपति का उत्पादन के साधनो पर पूर्ण स्वाम्य होता है और वह श्रम को खरीद कर कच्चे माल को उपभोग्य माल मे परिवर्तित कर उससे होनेवाले सब लाभ को स्वय हडप जाता है। मजदूर को जितनी मजदूरी का वह वास्तव म अधिकारी है उसस बहुत कम मिलती है। पूँजीवादी प्रणाली की इस न्यायहीनता को ओर कार्ल मार्क्स न अपनी 'केपिटल नामक पुस्तक मे अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके बड प्रभावशाली ढङ्ग से ध्यान आकर्षित किया है। किसी पण्य का जो विक्रय मूल्य होता है, उसम तथा लागत मूल्य (Cost-Price) म जो अन्तर होता है, उसे ही अतिरिक्त मूल्य कहते है। वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत इस सब लाभ को पूँजीपति ही ले लेता है जो साधारण रूप से अनुचित है। उसका समुचित रूप से उन सब व्यक्तियो म वितरण होना चाहिये जिन्होने उन पण्यो के निर्माण म योग दिया है। इस अतिरिक्त मूल्य के अतिरिक्त और भी समाज निर्मित मूल्य ह, जैसे भूमि के मूल्य में अनर्जित वृद्धि, जिनका उपभोग भी पूँजीपति ही करता है। इस मूल्य के निर्माण म पूँजीपति का कुछ भी भाग नही होता, अत यह उसकी निधियो म न जाकर राज्य निधि म जाना चाहिये। इस प्रकार पूँजीवाद का अतिरिक्त

मूल्य को अनुचित रूप से हडप लेना तथा अन्य सामाजिक रीति से उत्पन्न लाभों एव मूल्यों पर अपना अधिकार जमा लेना पूँजीवाद का भारी दोष एव अन्याय है, जिसे समाजवाद समूल नष्ट कर देना चाहता है।

अन्त में, पूँजीवाद मानवता और मानवीय सुख के प्रति बडा निर्दयी है। उसका उद्देश्य पूँजी जमा करना है, जीवन को सुखी और श्रेष्ठ बनाना नहीं। आधुनिक उद्योग की अवस्थाओं के अन्तर्गत जिस व्यक्ति को एक यन्त्र का परिचालन करना पडता है वह स्वय यन्त्रवत् बन जाता है। उसे अपनी कलात्मक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति या अपनी कला में अभिमान रखने का अवसर कहाँ मिलता है ? इस प्रकार वह यन्त्र का एक पुर्जामात्र बन जाता है। सच कहिये तो वह मनुष्य नहीं रह जाता।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि पूँजीवाद मानव प्रकृति के कोमलतम अङ्ग के प्रति उदासीन रहता है। वह यह मानता है कि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच स्वतन्त्र प्रतियोगिता सामाजिक सङ्गठन का सर्वोत्तम आधार है और 'योग्यतम की विजय' का नियम जितना समस्त पशु जगत में काम करता है उतना ही मानव-जगत में भी काम करता है। इन विचारों के अनुसार वह यह मानता है कि सभ्यता का उद्देश्य जीवन-सग्राम की इस प्रकार व्यवस्था करना है कि उसमें बडी से बडी सख्या में योग्यतम ही जीवित रह सकें। दूसरे शब्दों में, इसमें जीवन के 'परिमाण' पर 'गुणों' की अपेक्षा अधिक जोर दिया जाता है। पूँजीवाद व्यक्ति को इस सग्राम का अतिक्रमण करने के कुछ भी योग्य नहीं बनाता, वह उसे केवल जीवित रहने की सुविधा दे सकता है। इसके विपरीत समाजवादी का लक्ष्य व्यक्ति को भौतिक जीवन की चिन्ताओं से मुक्ति देना है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति जीवन के उच्चतम मूल्यों को प्राप्त कर अपनी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की इच्छा की पूर्ति कर सके।

समाजवादी को केवल इसी में सन्तोष नहीं हो जाता कि वह पूँजीवाद के दोषों पर ही प्रकाश डाले, वह उन्हें दूर करने के मार्ग भी बतलाता है। वह उनके मूल कारणों का अर्थात् उत्पादन के समस्त साधनों—भूमि, प्राकृतिक साधनों, कारखानों आदि—पर निजी स्वाम्य का तथा उसके साथ ही निजी लाभ के प्रोत्साहन का अन्त कर देना चाहता है। पूँजीपति का यन्त्रों तथा कच्चे माल पर जिनके बिना श्रमिक कुछ नहीं कर सकता, अधिकार होने के कारण वह श्रमिकों का शोषण कर सकता है और समस्त अतिरिक्त मूल्य को हडप लेता

है, जिसमे मजदूर का भी भाग है। समाजवादी यह चाहता है कि उन सब पर समूचे समाज का अधिकार होना चाहिये (आवश्यक रूप से राज्य या शासन का नही)। उत्पादन के साधनो के समाजीकरण से ये सब बुराइया दूर हो जायँगी। इससे समाज उन समस्त समाजनिर्मित मूल्यो तथा अतिरिक्त मूल्य को प्राप्त कर सकेगा जो आजकल पूँजीपति स्वय अपने लिये रख लेता है। उनका प्रयोग या व्यय समाजोपयोगी कार्यों के लिये होगा। इससे राष्ट्रीय आय का वितरण अधिक समुचित और न्यायपूर्ण ढग से हो सकेगा। विविध श्रेणियो के व्यक्तियो को अपनी योग्यता के अनुपात म इन मूल्यो मे अपना भाग प्राप्त हो सकेगा। उत्पादन किसी सामाजिक उद्देश्य से किया जायगा, पण्यो का उत्पादन प्रयोग या उपभोग के लिय किया जायगा, व्यक्तिगत मुनाफे के लिये नही। स्वतन्त्र प्रतियोगिता के स्थान पर, जो अधिकाश बुराइयो की जड है, सहयोग के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा होगी। समाज का सगठन सयुक्त नियन्त्रण एव सहकारिता के आधार पर होगा। व्यक्तिगत मुनाफे के स्थान पर सामाजिक सेवा के आदर्श की प्रतिष्ठा की जायगी। व्यक्तिगत पूजी तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता का अन्त हो जाने के ये आवश्यक परिणाम हगे।

पूँजी और उद्योगो का समाजीकरण, प्रतियोगिता के सिद्धान्त का अन्त और व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर समाज-सेवा—य मौलिक सिद्धान्त है, जिनके सम्बन्ध म सभी समाजवादी एकमत है। उनका यह दावा है कि जब समाज का सङ्गठन इन सिद्धान्तो के आधार पर होगा तभी समस्त व्यक्तियो के लिय अधिकतम स्वातन्त्र्य एव न्याय प्राप्त किया जा सकेगा। सुयोगो की समानता, पुरस्कार की न्याय्यता तथा उत्पादन म मितव्ययिता प्राप्त हो सकेगी, उस समय सेवा का दोहराव नही होगा और न गलाघोट्ट प्रतियोगिता होगी, अत्यधिक उत्पादन न होगा और न वृथा व्यय, न विज्ञापनो पर व्यथ खर्च होगा और न जनता का जीवन-स्तर ही नीचा रहगा।

एक दूसरी बात और है जिसे सब समाजवादी स्वीकार करत हैं और जिस पर वे सब जोर भी देत हैं अर्थात समाज की सेन्द्रिय एकता (Organic Unity of Society)। वे यह नही कहते कि समाज एक सेन्द्रिय रचना है परन्तु वे मनुष्य की सामाजिक भावना के अस्तित्व को मानते हैं और उसका विकास करना चाहते हैं। समाजवाद का समस्त दर्शन तथा कार्य-क्रम इसी पर आधारित है। अनियन्त्रित प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोगी प्रयत्न हो अथवा व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामाजिक कल्याण हो—प्रत्येक दशा म इन

समस्याओं का समाधान निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तरों पर निर्भर है। क्या मानव में सामाजिक भावना बलवती है ? क्या उसे प्रभावकारी बनाया जा सकता है ? क्या उसे प्रोत्साहित किया जा सकता है ? समाजवाद का समर्थन या खण्डन इन प्रश्नों के स्वीकारात्मक या निषेधात्मक उत्तरों पर निर्भर है।

समाजवाद का दर्शन—

समाज की सेंद्रिय प्रकृति पर जोर देकर समाजवादी विचारक सिद्धान्त में व्यक्ति को समाज के अधीन नहीं बनाता। उसका मन्तव्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हित में समाज का संगठन करना है। वह उसे ऐसे सुयोग देना चाहता है जिससे वह अपने जीवन को पूर्ण और स्वतन्त्र बना सके। यह व्यक्तिवाद का भी ध्येय है। इस प्रकार दोनों का ध्येय एक ही है परन्तु दोनों के साधन भिन्न हैं। व्यक्तिवादी की राय है कि व्यक्तिवादी का सर्वोत्तम विकास उसी समय हो सकता है जब कि उसे विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताएँ उपलब्ध हों। किन्तु समाज के सदस्यों की अन्योन्याश्रितता से समाजवादी यह निष्कर्ष निकालता है कि ऐसा विकास नवीन सामाजिक संगठन का परिणाम हो सकता है, आजकल के पूँजीवाद समाज में उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसमें जनता अपने जीवन संग्राम से ही दबी रहती है। श्रमिक अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें इसके लिये यह आवश्यक है कि पूँजीपतियों द्वारा उसका शोषण असम्भव कर दिया जाय। स्वतन्त्रता केवल इस बात में नहीं है कि केवल बाहरी प्रतिबंधों का अभाव हो, वह तो समुचित कार्य को उसके समुचित होने के कारण ही करने की सत्ता का नाम है। वह जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों,—सत्य, शिव, सुन्दरम्—को प्राप्त करने तथा उनकी अभिवृद्धि करने की क्षमता का नाम है। वह उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि व्यक्ति अपनी भौतिक आवश्यकताओं के दबाव से मुक्त न हो जाय, जब तक उसे कुछ अवकाश या विश्राम न मिले, कुछ शिक्षा प्राप्त न हो और उसके पास कुछ धन न हो। श्रेष्ठ जीवन के लिये ये आवश्यक तत्व सब मनुष्यों को उसी समय प्राप्य हो सकेंगे जब समाज का संगठन सहकारी सिद्धान्त के आधार पर होगा, जब राज्य स्वयं अपनी सत्ता के लिये नहीं वरन् व्यक्तियों को जीवन-संग्राम का अतिक्रमण करने में सहायता देने के लिये होगा। राज्य की सहकारी कल्पना जिसके अनुसार उसका कर्तव्य समाज के समस्त व्यक्तियों के लिये उनको सहयोग के लिये संगठित करके स्वतन्त्र एवं पूर्ण जीवन की व्यवस्था करना है, समष्टिवाद (Collectivism) की विशिष्टता है। अन्य समाजवादी सम्प्रदाय राज्य के प्रति उतना आदर भाव नहीं दिखलाते। उनमें से कुछ तो राज्य-विरोधी

हैं परन्तु सभी सहकारिता के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। उसके अभाव मे समाज सेवा की भावना काय नही कर सकती।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजवाद व्यक्ति का अधिकतम स्वतन्त्रता देना चाहता है। परन्तु यह स्वतन्त्रता को एक पूज्य वस्तु नही मानता। वह यह मानता है कि समानता से प्राप्त होनेवाली सुरक्षा क बिना स्वतन्त्रता का कुछ भी मूल्य नही। नवीन सामाजिक अवस्था मे समता और स्वतन्त्रता दोना ही प्राप्त हो सकेंगी। एक उक्ति है—'व्यक्तिवाद का सार स्वतन्त्रता है और समाजवाद का सार समता"। यदि इसका अभिप्राय यह है कि समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता की उपक्षा करता है ता यह उक्ति भ्रमजनक है। जहाँ तक समाजवाद का आधार समता की माग है वहा तक यह सत्य है। एक लेखक न समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार से की है 'यह आमदनिया म उत्तरोत्तर समता स्थापित करने की दृष्टि से उद्योगा का प्रगतिशील राष्ट्रीयकरण है।'*

---

* समाजवाद मानव-व्यक्तित्व की पवित्रता को किस प्रकार मान्यता दता है और पू जीवादी सिद्धान्त उसके कितना विरुद्ध है यह निम्नलिखित अवतरण मे सवथा स्पष्ट है —

'यह इतना प्रत्यक्ष है कि साम्राज्यवादी पूँजीवाद के सिद्धान्त के आधार है—मानव-जीवन के प्रति घृणा, जबरदस्ती लादा हुआ व्यापार, आयात नियात कर द्वारा सुरक्षित वाणिज्य तथा एक सस्था के रूप म परिवर्तित युद्ध (व्यक्तिगत अथवा सामूहिक) की सर्वोच्चता। उपनिवेश प्रणाली (उपनिवेशा के निवासिया के लिये) एक प्रायश्चित की रीति है, जिसमे (औपनिवेशिक शक्तिया को) बडा लाभ होता है। उपनिवेश स्थापित करनेवाले राष्ट्र दुबल राष्ट्रा का स्वतन्त्रता से वचित कर देत है उनकी भूमि को जब्त कर लेने ह और देशवासियो का या तो अपना शत्रु बना लेते है या घरेलू पशु। उनमे कर अत्यधिक लिये जाते हैं, कठोर श्रम लिया जाता है और उनका नाश कर दिया जाता है। यदि वे अपनी स्वतन्त्रता पुन प्राप्त करना चाहते हैं ता उन्ह प्राण दण्ड दिया जाता है। बेलजियम, कागो, मोरक्को फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका, भारत, हिन्द चीन, जावा आदि पर दृष्टि डालिये परन्तु समाजवादी प्रणाली ही एक ऐसी प्रणाली है जो पूँजीवादी प्रणाली के विपरीत, मानवता के हितो की पूर्ति करती है। मानवता का युक्तिसगत एव समुचित सगठन करके वह मानव समाज की अवस्था को यथाशक्ति सुधारना चाहता है। यह कहा जा सकता है कि यह सबसे अधिक 'मानवीय' प्रणाली है। (Barbusse Stalin, p 87)

सारांश—

यहाँ समाजवादी मत का सारांश देना अनुचित नहीं होगा। समाजवाद आधुनिक समाज में सम्पत्ति के वितरण की विषमताओं का नाश करना चाहता है। ऐसी अवस्थाओं में, जिनमें कुछ व्यक्ति बिना काम किये रहते हैं और दूसरे काम करते हैं परन्तु उन्हें जीविका प्राप्त नहीं होती, इस प्रकार परिवर्तन करना आवश्यक है जिससे समाज में अधिक न्याय उपलब्ध हो सके। इस दृष्टि से उस वर्ग का अन्त कर देना है जो दूसरों के परिश्रम पर अपना जीवन निर्वाह करता है और प्रत्येक प्रकार की अनर्जित आय पर प्रतिबन्ध लगा देना है। यह उद्देश्य भूमि तथा पूँजी के व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कर देने से पूरा हो सकेगा। पूँजीवाद के अन्त में स्वभावतः प्रायः सब को समान रूप से पर्याप्त सुयोग मिलेंगे तथा समुचित आय प्राप्त हो सकेगी। इससे सामाजिक उपयोगिता और न्याय की माँग के अनुसार सम्पत्ति का अधिक न्यायपूर्ण वितरण ही नहीं हो सकेगा, उत्पादन में भी वृद्धि होगी।

यह स्मरण रखना चाहिये कि समाजवाद सभी रूपों में व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरुद्ध नहीं है। वह भूमि एवं पूँजी में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अर्थात् उत्पादन के भौतिक साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व के ही विरुद्ध है। परन्तु वह उपभोग्य वस्तुओं में व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार करता है। समाजवादी राज्य में मजदूरों को अपने मकान और अपनी मोटरकार रखने का अधिकार होगा। वे अपनी पत्नियों के लिये जेवर जवाहिरात भी रख सकते हैं और अपने निजी व्यय के लिये बैंकों में धन भी। परन्तु वे उनका प्रयोग लाभ करने के लिये नहीं कर सकते। इस प्रकार की वस्तुएँ उपभोग करने के लिये हैं, पूँजी के रूप में अनर्जित आय प्राप्त करने के लिये नहीं। समाजवादी राज्य में किसी प्रकार का ब्याज या मुनाफा नहीं होगा। आय वही होगी जो श्रम के पुरस्कारस्वरूप मिलेगी। मजदूरों को जो मजदूरी दी जायगी, उसका निश्चय आवश्यकता, कार्य-कुशलता अथवा बलिदान के आधार पर ही होगा, यद्यपि अधिकांश समाजवादी कार्यकुशलता के सिद्धान्त को ही पसन्द करते हैं।

एक बात का ध्यान रखना चाहिये। समाजवाद सब व्यक्तियों के लिये सर्वथा समान आय प्राप्त करना नहीं चाहता। वह जो कुछ प्राप्त करना चाहता है वह है समस्त व्यक्तियों के लिये पर्याप्त सुयोग (समान नहीं)। पूर्ण समानता अप्राप्य है और शायद वांछनीय भी नहीं है। समाजवादी मस्तिष्क-सम्बन्धी कारणों से व्यक्तियों की योग्यताओं में भेद मानते हैं और समाज की व्यवस्था इस प्रकार से करना चाहते हैं कि इस प्रकार के भेद बाहरी भौतिक

कारणों से मिल कर सम्पत्ति के वितरण म अत्यधिक विषमता उत्पन न कर सक ।

* समष्टिवाद

परिभाषा—

जिस सकुचित अर्थ म समाजवाद राज्य के कार्य सम्बधी सिद्धान्तो के रूप म व्यक्तिवाद का विरोधी है, उसमे हम उसे समष्टिवाद (Collectivism) कह सकते है। यह राज्य-समाजवाद (State Socialism) के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। राज्य को एक बुराई मान कर उसके काय क्षेत्र को सीमित कर देने के स्थान पर समष्टिवाद राज्य को एक निश्चित रूप से अच्छी वस्तु मानता है और उसके काय-क्षेत्र मे व्यक्ति एव समाज दोनो के कल्याण के लिये विस्तार का समथन करता है। यदि राज्य समाजिक कल्याण का सर्वोच्च साधन है, तो व्यक्तिगत स्वतत्रता के नाम पर सरकारी काय का विरोध करना मौलिक भूल होगी। राज्य के कायक्षेत्र का तो अधिकाधिक विस्तार करना ही उचित होगा। उसे तो जनता के सामाय बौद्धिक आर्थिक एव नैतिक हितो की अभिवृद्धि करनी चाहिये और केवल जनता के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा के काय तक ही सीमित न रहना चाहिये। उसे 'पुलिस राज्य' के स्थान पर लोक सग्रही राज्य (Welfare State) बन जाना चाहिये। उसे दण्ड देने तथा अपराधो को रोकने के साथ-साथ जनता के कल्याण की भी अभिवृद्धि करनी चाहिये।

प्रोफेसर ईलाई के अनुसार समष्टिवादी वह व्यक्ति है जो अधिक पूर्ण आर्थिक वितरण तथा मानवता के उत्थान के लिये राज्य के रूप मे सगठित समाज की ओर देखता है।* इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के ११वें सस्करण मे समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है —"यह वह नीति या सिद्धात है जो केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक सत्ता द्वारा आजकल की अपेक्षा श्रेष्ठतम वितरण तथा उसके अधीन श्रेष्ठतम उत्पादन की व्यवस्था करना चाहता

---

* A Socialist is one who looks to society organized in the state for aid in bringing about a more perfect distribution of economic goods and an elevation of humanity (Ely quoted in Garner, Political Science and Government p 435)

है।"† यही समष्टिवादियों का ध्येय है। परन्तु इन दोनों परिभाषाओं में से कोई भी व्यापक अर्थ में समाजवाद की परिभाषा नहीं करती क्योंकि उनमें राज्य के प्रति जो मनोवृत्ति प्रकट की गई है वह समष्टिवादियों को छोड़ कर अन्य समाजवादियों में नहीं है। समष्टिवादी यह मानते हैं कि राज्य ही ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा मजदूर पूँजीपति के शोषण से मुक्ति पाकर अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये समुचित सुयोग पा सकेंगे। अन्य समाजवादी न्यूनाधिक राज्य-विरोधी हैं।

समष्टिवादी उत्पादन के समस्त भौतिक साधनों का नियन्त्रण तथा अधिकार केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक राज्य या शासन को सौंप देना चाहते हैं, समाज के मजदूर वर्ग जैसे किसी एक वर्ग को नहीं। आजकल की भाँति उद्योगों का सचालन एवं प्रबन्ध व्यक्तिगत पूँजीपतियों द्वारा नहीं होगा और न मजदूरों द्वारा ही, जैसा कि सिण्डिकेलिस्ट और गिल्ड साश्यलिस्ट चाहते हैं वरन् समस्त जनता की प्रतिनिधि के रूप में और उसकी ओर से सरकार द्वारा होगा। इसी कारण समष्टिवाद को राज्य समाजवाद (State Socialism) भी कहते हैं। अतः उसका पहला सूत्र इस प्रकार है "राज्य को उद्योगों का स्वामित्व तथा प्रबंध व्यक्तिगत पूँजीपतियों के हाथों में से अपने हाथों में ले लेना चाहिये।"

परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है पूँजीपतियों के हाथों में से उद्योगों का स्वामित्व एवं नियन्त्रण किस प्रकार लेकर शासन को सौंपा जाय ? इस प्रश्न का जो उत्तर समष्टिवादी देते हैं, उससे भी उनमें तथा अन्य समाजवादियों में भिन्नता प्रकट हो जाती है और उसी से उनका दूसरा सूत्र मिल जाता है। समष्टिवादी या राज्य-समाजवादी यह मानता है कि यह परिवर्तन राज्य के द्वारा और केवल शैक्षणिक तथा वैधानिक अथवा राजनीतिक साधनों के द्वारा ही किया जाना

† Socialism is that policy or theory which aims at securing by the action of the central democratic authority a better distribution and in due subordination there to a better production of wealth than now prevails (Enclyclopaedia Britannica, eleventh edition)

सामाजिक विज्ञानों के विश्वकोष ने समष्टिवाद की इस प्रकार परिभाषा की है। 'It is broadly a term for a trend in social development a program of economic reform a theory of general welfare and a utopian order for mankind technically a general label for comprehensive schemes of authoritative control such as socialism communism syndicalism and Bolshevism and specifically a name for the trend away from the extreme laissez faire of the nineteenth century' (Encyclopaedia of Social Sciences)

चाहिये। समष्टिवादी लोग देश म ऐसे राजनीतिक दल का सगठन करेंगे जो समष्टिवादी काय क्रम को पूरा करने के लिये वचनबद्ध होगा, वह मतदाताओ तथा नागरिको मे उसका प्रचार कर उनसे मत प्राप्त कर ससद मे बहुमत प्राप्त करेगा और अपने मन्त्रि मण्डल का निर्माण करेगा। इस प्रकार शासन पर अधिकार हो जाने पर बहुमत की अनुमति से वह ऐसे कानून बनाने मे सफल होगा, जिनमे इच्छित परिवतन हो जायगा। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था की स्थापना पालमिण्ट (ससद) के कानून द्वारा की जायगी। पुरानी तथा नई आर्थिक व्यवस्था के बीच सङ्घष पालमेण्ट की समितियो म होगा, कारखानो तथा सावजनिक स्थानो म नही किया जायगा। यह परिवतन शात, क्रमानुसार एव धीरे धीरे होगा, सहसा क्रातिकारी ढग से नही। समष्टिवादियो का मूलतत्र है "शनै शनै । नवीन प्रवत्तियो के निमाण के लिए वतमान सस्थाओ का ही प्रयोग किया जायगा। यह इस सामाजिक सिद्धात के सवथा अनुकूल है कि समाज एक सामाजिक शरीर है। अतीत के साथ कोई सम्बन्ध विच्छेद नही होगा। प्रत्येक अवस्था मे या प्रत्येक कदम पर परिवतन उस सामाजिक व्यवस्था की प्रकृति के अनुसार होगा जो उससे पूव थी। इस प्रकार समष्टिवाद विकासवादी है। 'वह उन सब समुदायो को जिनका आर्थिक नीति मे सम्बन्ध है जसे ट्रेड यूनियन, राजनीतिक दल, सरकारी कमचारी, कारखाना के विशेषज्ञ मैनेजर, उनके समझदार स्वामी आदि को अपने विचारो मे धीरे धीरे दीक्षित कर देना चाहता है।' * यह ढग साम्यवादी ढग के विपरीत है। राजनीतिक होने के कारण यह ढग क्रातिकारी या सीधा नही हो सकता। सब काय बहुत धीरे धीरे तथा शातिपूवक होना चाहिये। अपने प्रभाव तथा सफलता के लिये वह लोकमत मे परिवतन पर निभर रहता है जो जोरदार प्रचार तथा चुनाव द्वारा ही किया जा सकता है। सिण्डिकेलिज्म आर्थिक क्षेत्र मे सीधी कायवाही (Direct action) मे विश्वास करता है और साम्यवाद रक्तपातपूण क्रान्ति को अनिवाय मानता है। अत ये दोनो समष्टिवादी साधनो को जो वैधानिक एव शान्तिपूण हैं, पसन्द नही करते।

यहाँ एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है जिसे दूर करना आवश्यक है। जब समष्टिवादी यह कहता है कि राज्य उद्योगो का स्वामी होगा और उनका

* 'The method is one of gradual permeation of these groups directly concerned with economic policy trade unions political parties, govenrment officials, technicians, managers, even enlightened employers (Wasserman Modern Political Philosophies p 49)

प्रबन्ध करेगा तो उसका आशय पूर्णतः केन्द्रीय सरकार से नहीं होता। वह स्थानीय तथा नागरिक शासनों को भी उसमें सम्मिलित करता है। आरम्भ में ही फेबियन लोग (Fabians), जिन्हें इङ्गलैण्ड में समष्टिवाद के आदर्शों का प्रचार करने का श्रेय प्राप्त है, स्थानीय शासन के कार्यों को विस्तार करने की आवश्यकता पर जोर देते रहे है। वेब युगल (The Webbs) ने बड़े जोरदार शब्दों में स्थानीय शासनों को सत्ता प्रदान करने (Devolution) की आवश्यकता पर जोर दिया है। वे अतिशय केन्द्रीयकरण के खतरों को खूब जानते है। केन्द्रीय सरकार को राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों का ही सञ्चालन करना है जैसे रेलवे, जलयान, व्यापार, खान उद्योग, डाक एवं तार। गैस और जल की व्यवस्था, सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, मकानात, चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता, स्थानीय यातायात तथा आमोद प्रमोद जैसे स्थानीय उद्योगों का सञ्चालन स्थानीय संस्थाओं के हाथों में होना चाहिये जिनका सगठन पूर्णतया प्रजातान्त्रिक होना चाहिये। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सरकार को समाज के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के नियन्त्रण तथा नियमन का कार्य सौंप देने से पूर्व शासन को पूर्णरूपेण प्रजातान्त्रिक और कार्यकुशल बना देना आवश्यक है। समष्टिवादी समस्त प्रौढ स्त्री पुरुषों को निर्वाचन के लिये मताधिकार देने के पक्ष में है और बहु मतदान (Plural voting), कुलीनवर्गीय द्वितीय सदन आदि प्रजातन्त्र विरोधी पद्धतियों के विरुद्ध है। समष्टिवादियों के लक्ष्य तथा कार्य क्रम का पूरा विवरण ब्रिटिश लेबर पार्टी द्वारा सन् १९१९ ई० में प्रकाशित Labour and the New Social Order नामक पुस्तिका में मिलता है।

समष्टिवाद के समर्थन में तर्क--

समष्टिवादी लोग उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व तथा उद्योगों के नियन्त्रण के समर्थन में प्राय निम्न तर्क देते हैं —

१—वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत औद्योगिक जगत में जो अराजकता व्याप्त है, उसका खात्मा करने का एक मात्र उपाय उद्योगों का समाजीकरण ही है। प्रतियोगिता के आधार पर चलनेवाले उद्योगों में जो अपव्यय होता है उसका समष्टिवादी व्यवस्था द्वारा अन्त हो जायगा। इस सम्बन्ध में एक ओर डाक-विभाग द्वारा पत्रों, पासल, मनीआर्डर आदि के व्यवस्थित ढङ्ग से पहुँचाने तथा वितरण की सुव्यवस्था तथा दूसरी ओर दुग्ध व्यवस्था मे अति-व्यय तथा दोहरी व्यवस्था की तुलना बड़ी शिक्षाप्रद

सिद्ध होगी। भाड़े, लगान तथा मुनाफे एवं अन्य समाज द्वारा निर्मित मूल्यों से जो आय होगी और जो पूँजीवादी व्यवस्था में सब की सब पूँजीपतियों के पास ही रहती है वह समष्टिवादी व्यवस्था में राज्य की निधि में पहुँचेगी। उन उद्योगों में जिनमें एकाधिकार स्वभावगत है और स्थायी प्रतियोगिता असम्भव है राज्य नियन्त्रण उपभोक्ता जनता के हितों की रक्षा के लिये परम आवश्यक है।

२—प्रकृति की देन, जैसे भूमि और उसके भीतर की खनिज सम्पत्ति, समाज की है। उन पर थोड़े से लोगों का केवल इसलिये अधिकार नहीं होना चाहिये कि उनके पास पूँजी है और वे उसको खरीद सकते हैं। इसके अतिरिक्त देश के प्राकृतिक साधनों का व्यक्तिगत पूँजीपतियों द्वारा उपयोग होने में राष्ट्र के हितों का ध्यान नहीं रहता। उससे उनकी रक्षा नहीं होती और यदि उसे रोका नहीं जाय तो उनका वृथा विनाश होता है।

३—राज्य द्वारा उद्योगों के प्रबन्ध से समाज को ऐसी वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त हो सकती है जिनकी आवश्यकता तो होती है, परन्तु जिनके लिये पर्याप्त माग नहीं होती। व्यक्तिगत उद्योगपति स्कूल, पुस्तकालय एवं अनुसंधान शालाएँ तभी खोलेगा जब उनसे आर्थिक लाभ हो परन्तु ऐसी संस्थाओं से लाभ प्रायः नहीं होता। यदि ऐसी संस्थाएँ वह खोले भी तो उनसे लाभ उस साधारण जनता को बहुत कम होगा जिसे उसकी आवश्यकता है। राज्य नियन्त्रण उत्पादक शक्तियों को ठीक दिशा में लगायगा और गलत दिशा में जाने से रोकेगा।

४—परन्तु राज्य के हाथों में उद्योगों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध पहुँचने से जो सबसे बड़ा लाभ होगा वह यह है कि इससे क्रमशः समाज में नैतिक और आध्यात्मिक सुधार होगा। अपने स्वार्थों की पूर्ति करने तथा अपने पड़ोसियों की अपेक्षा अपनी दशा अच्छी करने में लगे रहने के कारण लोग समाज के महान् सामान्य लक्ष्यों को भूल जाते हैं और उनका नैतिक तथा आध्यात्मिक पतन हो जाता है। यदि प्रतियोगिता को दूर कर व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर समाज सेवा के आदर्श की स्थापना कर दी जाय तो स्थिति में परिवर्तन हो जायगा। समष्टिवादी समाज में अनुचित साधनों के प्रयोग के लिये कोई प्रलोभन नहीं रहेगा। उसमें मानव की सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्तियों को प्रेरणा मिलेगी और उसके सर्वोत्कृष्ट गुण प्रकट होंगे।

समष्टिवाद के विरुद्ध तर्क—

समष्टिवाद पर दो विभिन्न दृष्टिकोणों से आक्षेप किये जाते हैं। आलोचकों का एक वर्ग तो समाजवाद का विरोधी है। वह जिस प्रकार समाजवाद का विरोधी है उसी प्रकार समष्टिवाद का भी विरोधी है। समष्टिवाद का दूसरा आलोचक वर्ग समाजवाद का तो समर्थक है परन्तु वह उसके समष्टिवादी रूप में विश्वास नहीं करता। वह राज्य विरोधी है। उसका यह विचार है कि उत्पादनों के साधनों का स्वाम्य राज्य को नहीं वरन् उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों को प्राप्त होना चाहिये। उसका यह भी विश्वास है कि नवीन आर्थिक व्यवस्था की स्थापना वैधानिक साधनों द्वारा नहीं की जा सकती। वे प्रत्यक्ष तथा क्रांतिकारी साधनों के प्रयोग का समर्थन करते हैं। पहले हम प्रथम वर्ग के आक्षेपों पर विचार करेंगे।

१—समष्टिवाद ही नहीं वरन् समाजवाद के सभी रूपों के विरुद्ध जो साधारण आक्षेप किया जाता है वह यह है कि व्यक्तिवादी उद्योग के स्थान पर सामूहिक स्वामित्व की स्थापना से उद्योग के लिये मूल प्रेरक शक्ति का नाश हो जायगा। मानव उद्योग की सबसे महान् प्रेरक शक्ति व्यक्तिगत लाभ की आशा से ही प्राप्त होती है। वर्तमान् समय में उद्योगों में जो महान् सफलता देख पड़ती है, वह व्यक्तिगत लाभ के कारण ही हुई है। भारी लाभ की आशा और उसका मनमाना उपयोग करने की स्वतन्त्रता प्रतिभाशाली व्यक्तियों को उद्योग की ओर आकर्षित करती है। सामूहिक स्वाम्य-व्यवस्था के अन्तर्गत मानव-उद्योगों का यह मूल स्रोत सूख जायगा और फलतः उत्पादन में इससे कमी पड़ेगी। उत्पादन के तरीकों में सुधार के प्रयत्न भी शिथिल हो जायेंगे। इस प्रकार व्यक्तिगत उद्योग के लिये कोई क्षेत्र ही नहीं रह जायगा। अतीत में जो औद्योगिक प्रगति हुई है, वह इसी कारण सम्भव हुई कि बड़े साहसी और योग्य पूंजीपति इसमें अग्रसर हुए। पूँजीवाद के अन्तर्गत उद्योग के नेताओं के चुनाव तथा उन्हें समुचित पद पर आसीन करने की समस्या उत्पन्न नहीं होती। स्वतन्त्र प्रतियोगिता में व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा के कारण योग्य व्यक्ति समुचित पद पर स्वयं आ जाते हैं। समाजवाद में प्राकृतिक चुनाव के लिये कोई गुञ्जायश नहीं है और उद्योगों के नेताओं की खोज करना एक समस्या बन जाती है जिसका हल कठिन है। कुछ व्यक्ति एक पग आगे बढ़ जाते हैं और यह मानते हैं कि समाजवादी व्यवस्था में मजदूर समुचित रीति से काम नहीं करेंगे। उद्योगों

मे सुधार की तथा पूँजी लगाने की भी समस्याए हैं। सक्षेप मे, इन आलोचको के अनुसार समाजवाद उद्योगो के सम्बध म जितनी समस्याओ का समाधान नही करता उतनी पदा कर देता है। इस प्रकार आर्थिक दृष्टिकोण से समाजवाद का सिद्धात निबल तथा अव्यवहार्य है। समाजवाद के विरोधी यह मानते है कि समाज के आर्थिक सगठन के लिये 'व्यक्तिगत पूँजी' और 'व्यक्तिगत लाभ' ही सर्वोत्तम है।

यह आक्षेप आधारभूत है, वह समाजवाद की जड पर ही कुठाराघात करता है। यदि लोग किसी काय को करने के लिये उससे मिलनेवाले वित्तीय लाभ की आशा से ही प्रोत्साहित हो सकते है, यदि सामाजिक कल्याण तथा सामाजिक आवश्यकता के विचारो का उन पर कोई प्रभाव नही पडता, तो समाजवाद के सभी रूप अव्यावहारिक हो जायेंगे। तब यह मानना सत्य होगा कि समाजवाद मनुष्य से सामाय कल्याण के लिय जितना मानव प्रकृति के लिय सम्भव है उससे भी अधिक आदर चाहता है और इस प्रकार समाजवाद के प्रति केवल सनकी व्यक्ति ही आकर्षित हो सकते है। इस मनोवज्ञानिक प्रश्न पर विचार करने के लिये यहा यथेष्ठ स्थान नही है। हम समाजवादी उत्तर की रूपरेखा का ही यहा विवेचन कर सकते हैं।

सबसे प्रथम, यह ध्यान मे रखना चाहिये कि मनुष्य इतना स्वार्थी नही है जितना कि इस आपेक्ष मे समझा गया है। उसकी प्रकृति म परोपकारिता भी होती है। वह दूसरे मनुष्यो के प्रति परोपकार भी कर सकता है और करता भी है। प्रो० जोड का कथन है कि "समस्त छोटे समुदायो म समाज की सेवा, उसके लिय काय करने की इच्छा और उसका समथन प्राप्त करने की इच्छा सदैव काम करती है और मनुष्यो के जीवन मे सबसे शक्तिशाली तथ्यो मे से एक होती है।* [illegible] चीज की आवश्यकता है, वह है इस इच्छा को समुचित रूप मे [illegible] और उसे जागृत रखना। यह इच्छा एक ऐसे वातावरण मे [illegible] करती है जो उसके विकास के लिय अधिक अनुकूल नहीं है [illegible] की सात्विक प्रकृति का अकाट्य प्रमाण है। मनुष्य [illegible] प्रकृति समाजवादी विचार की एक मूल मान्यता है। [illegible] वाञ्छनीय है कि समाज का सगठन ऐसे ढङ्ग से [illegible]

* 'In all small communities the desire to [illegible] work [illegible] and to stand well with the commun[illegible] tive and is one of the most powerf[illegible] men's [illegible] (Joad Modern Political Theory)

प्रवृत्ति को उत्तेजना मिले। हम वर्तमान सामाजिक सङ्गठन को जो उस इच्छा को कुण्ठित कर देता है और उसकी विरोधी स्वार्थपरता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है नैतिक रूप से उचित नहीं मान सकते।

दूसरे, इस तर्क की यह धारणा कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से काम करना पसन्द नहीं करते और वे स्वार्थ भावना से ही काम करते हैं, मिथ्या है। मनुष्य काम को उस समय तक नापसन्द नहीं करते जब तक कि वह सुखद तथा साधारण होता है, वे उसे उसी समय नापसन्द करते हैं जब कि वह बहुत ज्यादा या नीरस होता है। काम तो शारीरिक आवश्यकता है, इससे हमारी शक्तियों को विकास का मार्ग मिलता है, काम के बिना जीवन भार हो जायगा। लोग अनिवार्य विश्राम से बचने के लिये धन तक व्यय करते हैं। डॉ० न नक की जो 'सनातन अवकाश' कहकर परिभाषा की है उससे मनुष्य के लिये काम करने की कितनी आवश्यकता है इसका अच्छा सकेत मिलता है।

यदि कार्य मात्रा में हलका हो और गुण में विविधितामय, तो यह आशा की जा सकती है कि लोग उसे समाज के लिये बिना किसी व्यक्तिगत लाभ के करेंगे। यह उस समय और भी आसान होगा जब व्यक्ति यह अनुभव करेंगे कि वे दूसरों के लिये नहीं वरन् उस समाज के कल्याण के लिये काम कर रहे हैं जिसमें उनका कल्याण भी सम्मिलित है।

इन विचारों से यह स्पष्ट है कि यह दोषारोपण कि समाजवाद मनुष्य से सामाजिक कल्याण के लिये जितना उसकी प्रकृति में सम्भव है उससे भी अधिक आदर की माँग करता है निराधार है। समाजवाद मानव प्रकृति के विरुद्ध नहीं है। परन्तु यह भी स्वीकार कर लेना होगा कि यदि समाजवाद को सफलता प्राप्त करनी है तो मनुष्यों को अपनी भावनाओं में नवीन रस का सचार करना पड़ेगा और उन्हें आज की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं पवित्र बनना होगा।

२—समाजवाद विरोधी समाजवादियों पर यह आक्षेप भी करते हैं कि वे सरकार द्वारा उद्योगों के प्रबन्ध के सम्बन्ध में अतिशय आशावादी हैं राज्य द्वारा उद्योगों के सचालन के सम्बन्ध में उनके विचार अतिशयोक्ति पूर्ण हैं। परन्तु सरकार प्रत्येक प्रकार के उद्योग के सचालन के योग्य नहीं है। ऐसे भी उद्योग हैं जैसे कृषि, मत्स्य पालन, मोजे बनियान आदि बनाने का उद्योग, सिलाई तथा बुनाई जिनका सचालन व्यक्तिगत प्रबन्ध में अधिक

सुचारु रूप से होता है। इन उद्योगो का प्रबन्ध राज्य को सौपने से उस पर भार अधिक हो जायगा और उसकी कार्यकुशलता मे कमी हो जायगी। जहाँ प्रतियोगिता के लिये क्षेत्र नही है वहाँ उद्योगो मे राज्य प्रबन्ध के अनुभव से कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना खतरे से खाली नही है। जिन क्षेत्रो मे प्रतियोगिता की गुञ्जायश है वहा भी राज्य-प्रबन्ध के अनुभव उत्साहप्रद नही हुए है। व्यक्तिवादियो का यह कथन भी सत्य है कि राज्य अपनी प्रकृति के कारण अधिकाश मामलो मे व्यवसायो एव उद्योगो के सचालन की अपेक्षा एकाधिकार के दोषो को रोकने के तथा समाज के हित मे उनका नियमन करने के अधिक योग्य है।

३—समाजवाद के मिल तथा स्पेन्सर जैसे विरोधियो का मत है कि समाजवाद से व्यक्ति की स्वतत्रता मे कमी होती है और व राज्य के निर्देश से परिचालित यन्त्र मात्र बन जाते है। जब समस्त उद्योगो के सचालन के लिए एक विशाल नौकरशाही की आवश्यकता पडेगी तब यह उसका स्वाभाविकपरिणाम होगा। मेक्केक्नी का कथन है कि समाजवाद का व्यवहार मे लानवाला राज्य विकृत हो जायगा। उसमे शासन निरकुश होगा और वह बडी कठोरता से मानव जीवन की प्रत्येक बात मे हस्तक्षेप करेगा।* एक स्वस्थ राज्य की इससे अधिक शोचनीय विकृति नही हो सकती। मैलॉक का विचार है कि स्वार्थ के अभाव मे मनुष्यो को काम करने के लिये मजबूर करना पडेगा जिसका अर्थ होगा व्यक्तिगत चरित्र का ह्रास। सर एर्स्किन मे का भी मत है कि समाजवादी सिद्धान्त का स्वाभाविक प्रभाव 'मानव जाति की शक्तियो का दमन' हुआ है, समाजवाद का स्पष्ट ध्येय था "व्यक्तियो की समस्त शक्तियो तथा श्रेष्ठ ध्येयो का बहिष्कार।" ‡

समष्टिवाद के विरुद्ध ये सब आक्षेप नही किये जा सकते। हम ऊपर

* 'No travesty of a healthy state is more deplorable than a practical socialism in the form of an alsolute government directing with inquisitorial and irresistible sway every detail of human life (Mckechnie The State and the Individual p 177, quoted in Garner Political Science and Goverment, p 442)

‡ The natural effect of such theories would be to repress the energies of mankind and it is their avowed object to proscribe all the more elevated aims and faculties of individuals (Sir Erskine May Democray in Europe Int, p LXV)

बतला चुके हैं कि उसका उद्देश्य मानव-व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये व्यक्ति के लिये अधिकतम स्वतन्त्रता उपलब्ध करना है। महत्वपूर्ण सेवाओं के स्थानीय शासन के नियन्त्रण में आ जाने से शासन के 'लाल फीते' आदि से जो बुराइयाँ होती है वे बहुत कुछ कम हो जायेंगी। यदि केन्द्रीय शासन ही सब समाजीकृत उद्योगों का नियन्त्रण करे तो इस आक्षेप में बहुत कुछ बल हो सकता है। किन्तु समष्टिवादी इस बात पर जोर देता है कि महत्वपूर्ण सेवाओं पर स्थानीय स्वशासन का अधिकार होना चाहिये।

सिण्डिकेलिस्ट, गिल्ड-समाजवादी और साम्यवादी इनसे भिन्न आधारों पर समष्टिवाद पर आक्षेप करते है। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश या प्रतियोगिता के निवारण के प्रयत्न का विरोध नही करते। वे समष्टिवादी के साथ इस बात मे सहमत हैं कि एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाय। परन्तु समष्टिवादी जिस माध्यम द्वारा इसकी स्थापना करना चाहता है, उसे वे उपयुक्त नही मानते। वे राज्य के उतने ही विरोधी है जितने कि समष्टिवादी राज्य के पक्ष मे हैं। उनका मुख्य विचार यह है कि राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका निर्माण पूँजीपतियों ने मजदूरों का शोषण करने के लिये किया है और इस कारण उसका (राज्य का) प्रयोग पूँजीवाद का नाश करने के लिये नहीं किया जा सकता। जब तक राज्य के स्थान पर कोई दूसरा सामाजिक सङ्गठन स्थापित न किया जाता, तब तक पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों के आर्थिक शोषण का अन्त नही हो सकता। इससे यह परिणाम निकलता है कि राजनीतिक उपाय द्वारा नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना नही की जा सकती। वे किसी न किसी रूप मे सीधी कार्यवाही के लिये सिफारिश करते है। इसके विषय मे हम विस्तारपूर्वक आगे लिखेंगे।

इन आक्षेपों के अतिरिक्त उद्योगों के पूर्ण समाजीकरण के समष्टिवादी आदर्श की प्राप्ति मे अन्य अनेकों कठिनाइयाँ है। चूँकि समस्त उद्योग इस योग्य नही है कि उनका समाजीकरण किया जा सके, अतः यह समस्या खड़ी हो जाती है कि कौन से उद्योगों का पहले समाजीकरण किया जाय और ऐसे उद्योगों का क्या हो जिनका समाजीकरण सम्भव नहीं है, जैसे कृषि तथा फुटकर व्यापार। जिस ढङ्ग से राज्य उद्योगों पर स्वाम्य प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करेगा उसके कारण भी एक दूसरी कठिन समस्या पैदा हो जाती है। क्या राज्य उन्हें खरीद लेगा या उन्हें जब्त कर लेगा? इन दोनों विकल्पों में कठिनाइयाँ हैं। राज्य के प्रबन्ध में उद्योगों के उत्पादन की वस्तुओं की कीमतों का प्रश्न भी कुछ कम कठिन नही है।

आधुनिक राज्यो मे समष्टिवादी प्रवृत्तियाँ—

यद्यपि आज के युग मे रूस तथा इङ्गलैड के अतिरिक्त अन्य किसी भी राज्य ने समाजवाद या समष्टिवाद को अपना राजकीय आदर्श स्वीकार नही किया है* तथापि उसके सिद्धान्तो का अनेक देशो पर प्रभाव पडा है और प्रत्येक राज्य के व्यवस्थापन एव नीतियो पर उसका गहरा प्रभाव पडा है। इसका यह अर्थ नही है कि उन्होने उत्पादन के साधनो के सामान्य या सामाजिक स्वाम्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है अथवा उन्होने समस्त मजदूरो को सरकारी कर्मचारी बना दिया है। उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत स्वाम्य है और प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता है कि वह अपने प्रयत्न से जिस प्रकार चाहे अपनी जीविका प्राप्त करे। अनेक सभ्य देशो मे इस सीमा तक व्यक्तिवाद सरकारी कार्यो का अब भी आधार बना हुआ है। परन्तु परिस्थितियो के दबाव के कारण प्रत्येक राज्य कुछ ऐसे कार्यो का सम्पादन कर रहा है जो अपनी प्रकृति मे समाजवादी है। आर्थिक व्यक्तिवाद का सिद्धान्त पूर्ण रूप से खडित हो चुका है।

उद्योगो मे राज्य का हस्तक्षेप अब सर्वत्र बढता जा रहा है। अधिकाश राज्यो ने उन उद्योगो पर जिनका राष्ट्र के लिये राजनीतिक, आर्थिक या सैनिक महत्व है, नियन्त्रण स्थापित कर लिया है। तार तथा डाक, रेलवे, जङ्गल, बैक, शस्त्रो का निर्माण, खानो आदि पर अनेक देशो मे राज्य का निरीक्षण एव प्रबन्ध है और सरकारें उनकी व्यवस्था कर रही है। कुछ राज्य तो इससे भी एक पग बढ गये हैं, वे साहित्य और कला को प्रोत्साहन देते है, बीमारी तथा आकस्मिक दुर्घटनाओ के लिये बीमे की व्यवस्था करते हैं और वृद्धावस्था के लिये पेन्शन देते हैं। कई राज्य रक्षणात्मक निर्यात आयात-करो (Protective Tariffs) तथा स्वदेशी धन्धो की उनकी विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करने के लिये आर्थिक सहायता देने की भी व्यवस्था करते है। वे समय-समय पर निर्यात तथा आयात की कुछ वस्तुओ पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं। व्यापार तथा उद्योगो पर सरकार की ओर से

---

* रूस का समाजवाद समष्टिवाद नही है, वह साम्यवाद (Communism) कहलाता है जो ऊपर दिये हुए सिद्धान्तो से कई बातो मे भिन्न है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद चेकोस्लोवाकिया, पोलैड, यूगोस्लाविया, फिनलैण्ड आदि पूर्वी योरोप के देशो तथा अभी हाल ही मे चीन की नवीन सरकार ने भी समाजवाद को अपना आदर्श स्वीकार कर लिया है।

जो नियन्त्रण लग रहे हैं, उनके अधिक उदाहरण देना व्यर्थ है, बात सर्वथा स्पष्ट है।

हम उदारवादी विचारकों की इस कल्पना से कि समाज प्रतियोगियों का एक मण्डल है और राज्य एक निर्णायक के रूप में है दूर होते जा रहे हैं और समष्टिवादियों द्वारा अनुमोदित समाज-सेवी राज्य (Social Service State) की दिशा में अग्रसर होते जा रहे हैं। इसका एक दूसरा प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि प्रायः प्रत्येक राज्य में शिक्षा, गरीबों की सहायता, बेकारी का बीमा और दूसरे कार्यों पर जिनसे गरीबों का उद्धार होता है पर्याप्त धन व्यय किया जाता है। सामाजिक सेवाओं पर इङ्गलैण्ड में सन् १६०० में १६ शिलिंग २ पाई प्रति व्यक्ति व्यय होता था परन्तु सन् १६३४ में यह व्यय ८ पौंड १६ शिलिंग प्रति व्यक्ति था।

प्रत्येक देश में राज्य ऐसे रचनात्मक कार्यों का सचालन कर रहा है, जो केवल वर्तमान सन्तति के लिये ही लाभदायक नहीं है वरन् भावी सन्तति को भी लाभ पहुँचायेंगे। कृषि, वृक्ष तथा पशुओं की नस्ल सुधारने, पौधों तथा पशुओं की रक्षा के लिये हानिकारक कीटाणुओं के सम्बन्ध में खोज एवं रोगों के निवारण के सम्बन्ध में सफलतापूर्वक परीक्षण तथा प्रयोग किये जा रहे हैं। अनेक राज्यों में आर्थिक दृढ़ता प्राप्त करने तथा स्वाश्रयी बनने के लिये राष्ट्रीय नियोजन का विचार अपनाया जा रहा है। उन समस्त राज्यों में, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (International Labour Organization of the United Nations) के सदस्य हैं, मजदूरों की अवस्था में अनेक प्रकार के सुधार के लिये कई कानून बनाये गये हैं। अनेक देशों में अनेक प्रकार के सामाजिक कानून भी बनाये गये हैं जैसे कारखाना-कानून, स्वास्थ्य-सम्बन्धी कानून, मजदूरों की चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता तथा उनके आवास की व्यवस्था-सम्बन्धी कानून, मजदूरों की क्षतिपूर्ति के कानून, मजदूरों की हानि के लिये मालिक की जिम्मेदारी तथा बेकारों की सहायता सम्बन्धी कानून। ये सब इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि उद्योगों के समाजीकरण तथा आय-सम्बन्धी समता के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना ही राज्य अपने को समाजवादी सांचे में ढालता जा रहा है।

भारतवर्ष ने भी समाजवादी समाज अपना ध्येय बना लिया है। राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) ने

सम्बोधित करते हुए प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था कि मेरे सामने भविष्य के भारत का जो चित्र है वह निश्चय रूप से समाजवादी चित्र है। हमारा आशय निजी उद्योग का विनाश करना नहीं है परन्तु हम यह मानते हैं कि संग्रहपरक प्रवृत्ति अब केवल पुरानी ही नहीं पड गई है अनैतिक भी है। उस पर अंकुश लगाना होगा। हमारा नया समाज अवसर की समानता के सिद्धान्त पर आधारित होगा। हमारे संविधान मे हमने अपना लक्ष्य कल्याणकारी राज्य स्थिर किया है जिसमे व्यक्ति समाज के लिये और समाज व्यक्ति के लिये जीवित रहेगा। समाजवाद के, जैसा हम देख चुके हैं अनेक अर्थ और अनेक रूप हैं परन्तु श्री नेहरू के अनुसार समाजवादी समाज वह है जिसमे व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है, जीविका के लिये काम करने का अधिकार है और व्यक्ति जो कमाता है उसे प्राप्त करने का अधिकार है। पंचवर्षीय योजनाओं का ध्येय ऐसे ही समाज का निर्माण करना है।

प्रश्न

१ समाजवाद से आप क्या समझते हैं? कहा जाता है कि समाजवाद की कोई संक्षिप्त और यथार्थ परिभाषा नहीं की जा सकती। ऐसा क्यों है।

२ समाजवाद पूंजीवाद का विरोधी क्यों है?

३ समाजवाद के पक्ष और विपक्ष में दिये जानेवाले तर्कों की समीक्षा कीजिये।

४ 'व्यक्तिवाद का लक्ष्य स्वतन्त्रता है और समाजवाद का समानता।' इस उक्ति पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

५ 'अन्ततोगत्वा समाजवादी और व्यक्तिवादी के लक्ष्यो मे कोई अन्तर नहीं है। दोनों व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहते हैं।' (जोड) इस कथन को स्पष्ट कीजिये।

६ समष्टिवाद से आप क्या समझते हैं? उसका समाजवाद के अन्य रूपों से क्या भेद है?

७ समष्टिवाद के विरुद्ध दिये जानेवाले तर्कों का वर्णन कीजिये और बतलाइये कि वे कहां तक ठीक हैं।

८ 'व्यक्तिवाद व्यक्तिगत हितो पर केंद्रित है परन्तु समाजवाद का आधार समाज और सामाजिक हित है।' इस उक्ति की व्याख्या कीजिये।

९ समाजवाद को राष्ट्रीय नीति के लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर लेने का राज्य के कार्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

अध्याय ६

फ़ैसिज्म

पिछले अध्यायो मे आपने व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का वर्णन पढ़ा है। आप देख चुके है कि राज्य तथा समाज के आर्थिक तथा औद्योगिक जीवन के सम्बन्धो के विषय मे न तो व्यक्तिवाद और न समाजवाद ही पूर्णत सन्तोषजनक है। शासन के लिये यह असम्भव है कि वह सर्वथा पृथक रहे और आर्थिक शक्तियो को उत्पादन एव वितरण और मालिकों तथा मजदूरो के सम्बन्धो का निर्णय करने दे। हस्तक्षेप न करने की नीति के भयकर परिणामो ने राज्य को बाध्य कर दिया है कि वह समाज की आर्थिक प्रक्रियाओ का अधिकाधिक नियन्त्रण एव नियमन करे। कुछ व्यक्तियो की राय मे यह भी असम्भव प्रतीत होता है कि राज्य समस्त उद्योगो का स्वामी बन कर उनका प्रबन्ध करे। रूस को छोड कर अन्य किसी भी देश मे समस्त उद्योगो का समाजीकरण नही हुआ है और उस देश में भी किसी किसी बात मे मौलिक सिद्धान्तो का त्याग कर दिया गया है। इसके साथ ही जो बात रूस मे सम्भव हो सकी वह दूसरे देशो मे भी सम्भव हो सकेगी यह विश्वास के साथ नही कहा जा सकता। इस कारण समाजवाद तथा व्यक्तिवाद के बीच का मार्ग ढूँढना आवश्यक है। ऐसा एक मध्यम मार्ग फैसिज्म है जिसका उदय, जैसा आप प्रथम भाग म पढ़ चुके है प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इटली मे हुआ। इसकी मोटी रूपरेखा का अध्ययन आप कर चुके हैं और देख चुके है कि फैसिज्म अधिनायकतन्त्र तथा सर्वसत्तावादी राज्य का समर्थक है।

फैसिज्म—

फैसिज्म का सक्षेप में वर्णन करना कठिन है। कठिनाई कुछ

तो इसलिये पैदा होती है कि वह एक राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणाली होने के साथ ही साथ जीवन को एक मनोवृत्ति, एक पद्धति है और एल्फेंडो राको के शब्दो मे "नागरिक जीवन की एक नूतन कल्पना" भी है। वह एक नवीन सस्कृति का आरम्भ है। इस कारण उसका थोडे से शब्दा मे वर्णन करना सम्भव नही है। एक जीवन की पद्धति के रूप में वह राष्ट्र की आत्मा को प्रकट करता है। फैसिज्म वास्तव म एक अत्यन्त तीव्र राष्ट्रीयतावादी मत है। चूँकि जर्मन आत्मा, इटालियन आत्मा से भिन्न है, जर्मन फैसिज्म अर्थात् नात्सीवाद इटालियन फैसिज्म का जर्मन सस्करण नही माना जा सकता। इन दोना म कई बातो म भिन्नता अनिवाय है। अत एसा कोई विवेचन करना कठिन है जा फैसिज्म के सभी रूपा के सम्बन्ध में समान रूप से लागू हो। दूसरी बाधा यह है कि विविध देशा म जो महान् राजनीतिक विकास हुए हैं, उनका वर्णन करने म इसी एक शब्द का अनेक अर्थों म प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार सन् १६३८ ई० मे ऑस्ट्रिया मे डॉलफस के तथा स्पेन म रिवीयरा के अधिनायकतन्त्र को भी फैसिस्ट कहा जाता था। कुछ अविवेकी आलोचक भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के उच्च नेतावर्ग पर फैसिस्ट होने का अभियोग लगाते है। यह उचित होगा कि फैसिज्म के अर्थ को इतना व्यापक न करके जो आन्दोलन इटली म इस नाम म चला उसके तथा उससे मिलते जुलते आन्दोलनो के वर्णन म ही हम इस शब्द का प्रयोग करें।

फैसिज्म के सिद्धान्त—

अपने आरम्भ मे फैसिज्म एक सिद्धान्त की अपेक्षा एक राजनीतिक कार्य क्रम अधिक था। उसका सस्थापक मुसोलिनी अपने अनुयायियो स कार्य चाहता था कोरी बातें नही। उसकी यह उक्ति प्रसिद्ध थी—"किसी मत की कोई आवश्यकता नही है, अनुशासन ही पर्याप्त है।'* एल्फेंडो रोको ने भी इसी प्रकार से घोषणा की कि फैसिज्म भावना तथा वार्ता से बढ कर है और एसा ही उसे भविष्य म भी रहना चाहिये। इसस अनेक आलोचको का यह विचार है कि फैसिज्म केवल व्यावहारिक है। यह सत्य है कि फैसिज्म के सस्थापको ने उसे कोई सैद्धान्तिक आधार प्रदान नही किया जसा मार्क्स ने समाजवाद तथा लेनिन ने वोल्शेविज्म को किया था।

---

* 'There is no need for dogma discipline suffices (Mussolini)

यद्यपि फँसिस्टा के कोई ऐसे निश्चित घोषणा पत्र प्रकाशित नहीं किये गये जिनमें नागरिक तथा राजनीतिक जीवन की इस नवीन कल्पना के उद्देश्यों एवं नीतियों आदि के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया हो तथापि राज्य की प्रकृति, उसके लक्ष्यों तथा उसके व्यक्ति और समुदाय के साथ सम्बन्ध के विषय मे फँसिज्म की अनेक मान्यताएँ है, जो मार्क्स के समाजवाद, बहुवाद अथवा प्रजातन्त्रवाद से भिन्न है। इस प्रकार एक तरह का फँसिस्ट राजनीतिक दर्शन बन गया है। सबाइन के अनुसार फँसिज्म अस्पष्ट है क्योंकि "यह उन विचारों का सकलनमात्र है, जो विविध स्त्रोतों से प्राप्त किये गये है और परिस्थिति की आवश्यकता के अनुकूल होने के कारण एकत्रित कर लिये गये है।" उसने यह भी उल्लेख किया है कि यह सिद्धान्त विचार द्वारा परिष्कृत नहीं है और प्राय भावुकतापूर्ण भी है। यह नीत्शे के 'सत्ता की इच्छा' के सिद्धान्त (Will to Power), हेगल के राष्ट्रवाद और बर्गसन के बुद्धि विरोधवाद को एक मे शामिल करने का प्रयत्न है। इसका राज्य का सिद्धान्त अधिकांश मे आदर्शवादी है। इसकी शासन की कल्पना, जिसमे साधारण जनता से भिन्न कुछ देशभक्त, सुयोग्य और कर्तव्य भावना से युक्त योग्य पुरुषों के कुलीनतन्त्र को ही स्थान दिया गया है, अफलातून की याद दिलाती है। इस प्रकार विविध प्रकार के विचारों को लेकर, जिनमे प्राय एक दूसरे से असङ्गति है, फँसिज्म का सिद्धान्त बनाया गया है। फँसिस्ट दर्शन, वह जैसा भी है उन तथ्यों तथा घटनाओं का, जो बन चुकी है, व्याख्या है और उनका समर्थन है। इसके सिद्धान्त उन घटनाओं का औचित्य सिद्ध करते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्त—

प्रमुख फँसिस्ट अपने राजनीतिक दर्शन में अपने समक्ष राज्य की 'कल्पना (Myth) रखते है और उसके प्रति भक्ति के महत्व पर अधिक जोर देते हैं। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे उनका विचार व्यक्तिवादियों, उदारवादियों और प्रजातन्त्रवादियों के विचारों से सर्वथा भिन्न है। समाज या राज्य की अणुवादी (Atomistic) अथवा यान्त्रिक (Mechan

* What has passed as fascist philsophy is vague, oft n studiously so it is a body of ideas taken from various source and put together to fit the exigencies of circumstances (Sabine A History of Political Theory p 747)

istic) कल्पना की जगह, जिसमे व्यक्ति केवल पारस्परिक लाभ की दृष्टि से ही एकत्रित हुए माने जाते हैं फ़ैसिज्म राज्य की सेंद्रिय कल्पना स्वीकार करता है। वह राज्य की एक आध्यात्मिक एकता मानता है जिसके कारण तथा जिसके लिये उनके सदस्यो का जीवन है, जिसका व्यक्तित्व तथा जिसकी इच्छा है, जो सदस्यो (नागरिको) की इच्छा तथा उनके व्यक्तित्व को प्रगति करते है और उनसे ऊपर है। वह राज्य की एकता मे विश्वास करता है और ऐसा नही मानता कि उसका विभाजन हो सकता है। उसका जीवन अधिक सतत, स्थायी तथा सदस्यो के जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है।

राज्य की इस कल्पना का कि वह एक आध्यात्मिक इकाई है, जो उसके नागरिको के योग से भी अधिक है व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धो की समस्या पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। राज्य की यान्त्रिक कल्पना के अनुसार जिसका खण्डन कर फ़ैसिज्म स्वय अपनी प्रतिष्ठा करना चाहता है राज्य का ध्येय उन व्यक्तियो के ध्येय से भिन्न नही हो सकता जिनसे मिलकर वह बना है राज्य का सर्वोत्तम हित जनता के सुख तथा कल्याण मे है राज्य जनता के सुख के लिये है। व्यक्तिवाद और उदार प्रजातन्त्र व्यक्ति को ध्येय मानता है और राज्य को केवल साधन मात्र जिसके द्वारा व्यक्ति अपने ध्येय को प्राप्त करता है। फ़ैसिज्म इस सम्बन्ध को उल्टा कर देता है। राज्य एक पूर्ण है और वह सदस्यो के योग से अधिक है इस प्रकार वह उनके सुख का साधन मात्र नही हो सकता। इच्छा तथा व्यक्तित्व से युक्त एक आध्यात्मिक इकाई होने के कारण उसका अपना लक्ष्य या प्रयोजन भी है, जिसको उसे पूरा करना है। उसके सदस्यो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उस उस ध्येय की पूर्ति करने मे सहायक हो।

राज्य अपने जीवित नागरिको के योग से केवल उस अर्थ मे ही अधिक नही है जिसमे एक पूर्ण उसके विधायक भागो से अधिक होता है वह इस अर्थ मे भी अधिक है कि उसमे वर्तमान नागरिको के अतिरिक्त वे नागरिक भी सम्मिलित है जो इस समय नही है तथा जो भविष्य मे जन्म लेनेवाले है। राष्ट्र या समाज केवल उन व्यक्तियो से ही नही बनता, जो एक निश्चित प्रदेश मे किसी समय रहते हैं उसके अन्तर्गत असंख्य सन्ततियो का समावेश होता है। इस प्रकार राज्य केवल जीवित सदस्यो का ही नही होता वह तो, उन्हे एक उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का जीवन उसके सदस्यो के जीवन की अपेक्षा किस प्रकार अधिक सतत, स्थायी और महत्वपूर्ण होता है।

जब इस प्रकार के हितो तथा व्यक्ति या समस्त व्यक्तियो के हितों म परस्पर विरोध होता है, तब राज्य के हितो को मान्यता मिलनी चाहिये। राज्य का सच्चा ध्येय तो राष्ट्र को शक्तिशाली और महान् बनाना है, व्यक्तियो के कल्याण के लिये प्रयत्न करना नही। राष्ट्र म पृथक व्यक्ति का कोई भी व्यक्तित्व नही है। वह अपने व्यक्तित्व का विकास राज्य के विरोध म नही वरन् उसके प्रति अपने उचित कर्तव्य-पालन द्वारा करता है। राष्ट्रीय ध्येय की सिद्धि के लिये जो उसके ध्येय से कही बडा है अपने साथियो के सहयोग से प्रयत्न करके वह अपनी प्रकृति का विकास करता है और जो कुछ वह बन सकता है बनता है। राष्ट्र की सेवा से विमुख वह अपनी प्रकृति का विकास नही कर सकता। राज्य की सेवा उसे उनसे भी उच्च स्तर पर ले जाती है जिस पर वह अपने व्यक्तिगत ध्येय की प्राप्ति म लगा रहने पर पहुँच सकता है। सच्चा व्यक्तित्व इसी मे है कि व्यक्ति अपने को राज्य जैसे अधिक विशाल व्यक्तित्व म मिला दे, केवल अपने व्यक्तिगत हितो की रक्षा म ही लगा रहने म नही। मानव का समस्त मूल्य तथा उसकी समस्त आध्यात्मिक वास्तविकता उसे राज्य मे ही प्राप्त होती है। इस प्रकार राज्य स्वय अपना साध्य हो जाता है। "यही अतिम ध्येय है जिसको व्यक्ति के विरुद्ध, जिसका सर्वोच्च कर्तव्य राज्य का सदस्य बनना है सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते है।" रोको ने लिखा है कि "समाज लक्ष्य है, व्यक्ति साधन है और राज्य का सम्पूर्ण जीवन व्यक्तियो को अपने ध्येय की सिद्धि के लिये साधन के रूप म प्रयोग करने मे है।"* इस प्रकार फासिज्म राज्य के नाम पर व्यक्ति का निषेध करता है।

राष्ट्रीय तथा सामाजिक ध्येयो को प्राथमिकता देने मे फासिज्म स्पष्ट रूप मे उदारवाद (Liberalism) के विरुद्ध है, जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को शासन का मुख्य लक्ष्य मानता है, वह उपयोगितावाद (Utilitarianism) के भी विरुद्ध है जो अधिक से अधिक व्यक्तियो का अधिक से अधिक कल्याण चाहता है, वह सब प्रकार के समाजवाद के भी विरुद्ध है जो किसी एक वर्ग के आर्थिक हितो पर ध्यान देता है। इनमे से किसी ने सम्पूर्ण राष्ट्र का विचार नही किया और न किसी ने वर्तमान के

---

*The Society is the end individual the means and its whole life consists in using individual as instrument for its end (Rocco)

सिवाय भावी पीढ़ियों के प्रति वर्तमान् पीढ़ी के कर्तव्य का ही विचार किया।

प्रजातन्त्र की इस मान्यता के निषेध के साथ कि राज्य का लक्ष्य व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहायता देना है फ़ैसिज़्म व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार का भी निषेध करता है। विचार, भाषण तथा सभा की स्वतन्त्रता तथा अन्य स्वतन्त्रताओं का आधार यह है कि वे मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिये अनिवार्य हैं। यदि यह राज्य का लक्ष्य नहीं है तो इन स्वतन्त्रताओं की मान्यता की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। फ़ैसिस्ट मत में स्वतन्त्रता प्रकृति की स्वाभाविक देन नहीं है वह तो राज्य द्वारा प्रदत्त वस्तु है। वह व्यक्ति को उतनी ही स्वतन्त्रता दे देता है जितनी उसकी (राज्य की) सुविधा में बाधा नहीं डालती। राज्य का ही यह निर्णय करने का पूर्ण अधिकार है कि व्यक्तियों को किस सीमा तक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। वह उन्हें शान्ति काल में एक प्रकार की स्वतन्त्रता देगा और युद्ध काल में दूसरी प्रकार की, समृद्धि के समय वह उन्हें एक प्रकार की स्वतन्त्रता देगा तथा अभाव के समय दूसरी तरह की। कुछ फ़ैसिस्ट तो यहां तक कहते हैं कि जनता को स्वतन्त्रता की नहीं वरन कानून और व्यवस्था की आवश्यकता है। कुछ भी हो, फ़ैसिज़्म में व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये कोई स्थान नहीं है।

व्यक्ति के निषेध का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि इससे उसकी स्वतन्त्रता का निषेध होता है, इसमें मानवीय समता का भी निषेध है जिसे प्रजातन्त्र अपने सिद्धान्त का आधारभूत अंग मानता है। फ़ैसिज़्म मानवीय समता के आदर्श को दुर्बल बनानेवाला मानता है और वह उसके स्थान पर मानवीय विषमता (असमता) में विश्वास करता है जिसका कोई इलाज नहीं है और जो लाभप्रद भी है। यह विषमता किसी सार्वलौकिक प्रौढ़ मताधिकार जैसी यान्त्रिक विधि से दूर नहीं की जा सकती। जनता सदैव कुछ प्रमुख व्यक्तियों के अधीन रहेगी। वह उन महान् व्यक्तियों के समक्ष झुकने के लिये सदैव प्रस्तुत रहती है जिनमें वह अपने विचारों तथा आदर्शों का साक्षात्कार करती है, जनता को नेतृत्व की आवश्यकता है और नेतृत्व के गुण कतिपय व्यक्तियों में ही मिल सकते हैं। राज्य में सत्ता तथा उत्तरदायित्व के पद ऐसे ही व्यक्तियों को मिलने चाहिये। जनता को जिसमें शासन तथा राष्ट्र के पथ-दर्शन की योग्यता नहीं होती इससे पृथक् ही रखना चाहिये। राज्य में उसका

एकमात्र कार्य है राज्य के अधिकारियों से आदेश प्राप्त करना और जो कार्य उसे सौंपा गया है, उसका सम्पादन करना। इस प्रकार फ़ासिस्ट राज्य असमान इकाइयों का एक सीढ़ीनुमा संगठन है। स्वतन्त्रता, समता और बंधुत्व के प्रजातन्त्रीय नारे के स्थान पर फ़ासिज्म का नारा है—उत्तरदायित्व, अनुशासन तथा उच्च अधिकारियों का शासन। फ़ैसिज्म की राज्य तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध की इस कल्पना के साथ लोक-प्रभुत्व की कल्पना का भी निषेध है जो प्रजातन्त्र का आधार स्तम्भ है। यदि राज्य ध्येय है और व्यक्ति उसकी महानता तथा गौरव प्राप्त करने के साधन मात्र हैं, यदि राज्य का जीवन इन व्यक्तियों का अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये एक साधन के रूप में प्रयोग करना है, यदि जनता में राष्ट्र के शासन तथा पथ दर्शन की कोई योग्यता नहीं है, यदि वह शासन की उन जटिल समस्याओं को नहीं समझ सकती जो उसके समक्ष हैं और यदि जनता का केवल यही कार्य है कि उसके नेता जैसा भी उसे आदेश दें, वह मौन होकर उनका पालन करती जाय तब यह सुस्पष्ट है कि जनता में प्रभुत्व नहीं रह सकता, वह तो राष्ट्र में ही रह सकता है।

सामान्य इच्छा का जो विश्लेषण फ़ैसिज्म के अनुसार किया जाता है, वह भी लोक प्रभुत्व का खण्डन करता है। उदार प्रजातन्त्रवादी मानते हैं कि राज्य सामान्य इच्छा का साकार रूप होता है और शासन को उसकी अभिव्यक्ति तथा सिद्धि करनी चाहिये। वह इस बात में भी विश्वास करता है शासन को सामान्य इच्छा के निकटतम लाने का सर्वोत्तम मार्ग है उसे सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार पर आधारित करना। जब यह प्रकट हो गया कि सार्वलौकिक मताधिकार से आशाजनक परिणाम नहीं निकला, तब जनता की शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा। जनता की शिक्षा से भी कोई सुधार नहीं हुआ और उसके परिणाम असन्तोषप्रद बने रहे। फ़ासिस्ट कहते हैं कि ऐसा इसलिये है कि सामान्य इच्छा प्रयोजन का प्रश्न है प्रयोजन से पृथक केवल व्यक्तियों की गणना का नहीं। चूँकि प्रयोजन जाने नहीं जा सकते, इस कारण मतदान से हम सामान्य इच्छा का पता नहीं चला सकते, विशेषकर तब तक जब तक कि अधिकांश लोग स्वार्थी रहते हैं। इसका केवल एक ही मार्ग है और वह है उन व्यक्तियों के निर्णय पर आश्रित रहना जिनके व्यवहार पर साधारणतया उनकी सामाजिक भावना, देशभक्ति तथा उच्च नैतिक

लक्ष्य का प्राधान्य रहता है तथा जिन्हें सामाजिक नियमों का ज्ञान एवं अनुभव है ।*

इन आधारभूत विचारों का स्वाभाविक परिणाम यह है कि फैसिज्म प्रजातन्त्रीय जन-शासन के विरुद्ध बुद्धिमान् मनुष्यों के कुलीनतन्त्राय शासन के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और उसी को उसने अपना लक्ष्य बनाया है। इसका यह अर्थ हुआ कि राज्य की जनता को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—स्वाभाविक शासकों का वर्ग तथा स्वाभाविक शासितों का वर्ग। पहले वर्ग में ऐसे व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जो देशभक्त, कर्तव्यपरायण तथा नैतिक होते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों का यह कार्य है कि वे कानून बनावें जिनका शेष समाज को पालन करना पड़ता है और ऐसे व्यक्ति सदैव अल्पसंख्यक होते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है फैसिज्म जनता में राष्ट्र के शासन तथा पथ-दर्शन की योग्यता नहीं मानता। वह सदैव कुछ थोड़े से प्रधान व्यक्तियों के नेतृत्व में कार्य करती है। इस प्रकार जन-शासन का प्रजातांत्रिक आदर्श, अव्यावहारिक तथा काल्पनिक माना जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि लोक-प्रभुत्व के विचार को अस्वीकार करके फैसिज्म जनता को राज्य के शासन-कार्य में भाग लेने से सर्वथा वंचित नहीं रखता। जिस व्यक्ति में आवश्यक नैतिक तथा सामाजिक भावना तथा अन्य आवश्यक गुणों का विकास हो जाता है उसे प्रभुत्व-सत्ता में भाग लेने का अधिकार मिल जाता है। फैसिज्म योग्यता के अनुसार उत्तरदायित्व प्रदान करता है परन्तु इसका निश्चय कौन करेगा कि अमुक व्यक्ति में आवश्यक गुण विकसित हो गये हैं या नहीं, इस सम्बन्ध में फैसिज्म मौन है, उसके पास इस प्रश्न का कोई युक्तिसंगत उत्तर नहीं है। व्यवहार में शासक स्वयं नियुक्त हैं, वे शासन करते हैं क्योंकि उन्हें शासन करना चाहिये।

---

* The only way to get at it is to rely on the judgment of those persons whose egoisms are habitually overriden by their social sense by a well informed patriotism by a high moral purpose Barnes Fascism (Home University Library Series) p 109

निगमात्मक राज्य (Corporative State)—

राज्य के फॅसिस्ट सिद्धान्त के एक दूसरे पहलू पर भी विचार करना आवश्यक है। यह है उसका निगम (Corporative) राज्य का सिद्धान्त जो राज्य की प्रकृति की पुरानी अणुवादी (Atomistic) कल्पना का खण्डन करता है। फॅसिज्म यह मानता है कि अन्त में, राज्य असम्बद्ध व्यक्तियों से मिल कर नहीं बना है वरन् ऐसे व्यक्तियों से बना है जो समाज में विविध कार्य करनेवाले समुदायों के रूप में सङ्गठित हैं, वह व्यावसायिक समुदायों का सङ्गठन है। इस प्रकार के व्यावसायिक समुदाय स्वाभाविक तथा आवश्यक होते हैं। प्रत्येक ऐसा समुदाय राज्य के सङ्गठित जीवन में कुछ आवश्यक कार्य का सम्पादन करता है जिसके लिये वह राज्य के प्रति उत्तरदायी है। इस प्रकार का प्रत्येक समुदाय निगम (Corporation) कहलाता है। इस निगम के द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति राज्य के गतिशील जीवन में अपने कर्तव्य का सम्पादन करता है। उसी में और उसी के द्वारा वह दूसरों के साथ शामिल होता है जो समाज की वही सेवा करते हैं।

सामाजिक जीवन में इन व्यावसायिक समुदायों के महत्व पर फॅसिज्म में जो जोर दिया गया है उसके कारण उसमें तथा गिल्ड समाजवाद और सिण्डिकेलिज्म में सादृश्य है। परन्तु चूँकि फॅसिज्म की यह मान्यता है कि व्यावसायिक समुदाय राष्ट्रीय सहयोग के लिये हैं वर्गीय प्रतियोगिता के लिये नहीं, इस कारण वह उनमें मौलिक रूप में भिन्न है। प्रत्येक समुदाय का इस प्रकार से सगठन होना चाहिये कि वह राज्य की सेवा में दूसरे समुदायों के साथ आसानी के साथ सहयोग कर सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निगमों का सगठन ट्रेड यूनियनों के सगठनों से भिन्न रीति से किया जाता है। निगम एक स्वतन्त्र संस्था नहीं है उसका ऊपर से राज्य द्वारा नियन्त्रण होता है। उसके अधिकारी राज्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं उसके सदस्यों द्वारा उनका चुनाव नहीं होता। उसका सदस्य भी हरेक नहीं बन सकता, उसे यह अधिकार है कि वह किसी को सदस्य बनने से रोक दे। इस प्रकार निगम राज्यरूपी पूर्ण के अधीन अंग हैं विशिष्ट प्रणालियाँ हैं जिनमें होकर राज्य की सत्ता का विशिष्ट प्रयोजनों के लिये प्रवाह तथा प्रसार होता है।* स्वयं मुसोलिनी ने राज्य के इस सिद्धान्त को संक्षेप में इस

* Corporations thus become subordinate parts of the whole which is the State specialized channels through which the state's spirit is canalized and diffused for special purposes (Joad Guide to Philosophy of Morals and Politics, p 653)

प्रकार कहा है "फ सिस्ट राज्य ने अपने अन्तगत राष्ट्र की आर्थिक क्रियाओ को भी शामिल कर लिया है और जिन सामाजिक तथा आर्थिक निगम सस्थाओ को उसन जन्म दिया है उनके द्वारा वह अपना प्रभाव राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक भाग पर डालता है और राष्ट्र की समस्त आर्थिक, राजनीतिक एव आध्यात्मिक शक्तियो को जो अपने सगठनो म सगठित है अपन म सम्मिलित करता है। † इस अवतरण स यह सवथा स्पष्ट ह कि फ सिज्म इन निगमो क द्वारा समाज के समस्त औद्योगिक एव आर्थिक जीवन पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है और इस प्रकार इन क्षेत्रो म भी स्वराज्य का अधिकार जनता को नही देता । मजदूर तथा मालिक दोनो ही अपनी स्वतन्त्र सस्थाओ स हाथ धो बठते है और निगमो म समान प्रतिनिधित्व प्राप्त करत हैं। निगमात्मक राज्य का यह सिद्धान्त किसी बडी सीमा तक इटली म स्थापित नहीं हो सका, यद्यपि फ सिस्ट लेखको ने अपन लेखो मे इसे बडा प्राधान्य दिया है । सन् १९३४ ई० तक इटली म एक भी निगम की स्थापना नही हुई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के कुछ वष पूव तक केवल २२ निगमो की स्थापना हुई थी। मजदूर तथा मालिक दोनो को समान रूप म उनम प्रतिनिधित्व प्राप्त था। उपभोक्ता समाज क प्रतिनिधित्व के लिये भी कुछ बाहरी व्यक्तियो को उनमे स्थान दिया गया था।

फ सिज्म का दूसरा मौलिक सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से सच्चा ध्येय सत्ता है सम्पत्ति या सुख नही । इस सिद्धान्त के कारण भी फ सिज्म अनक बातो का समथन और अनेक बातो का निषेध करता है। सबसे पहले वह इस बात का निषध करता है कि व्यक्तियो की भौतिक समृद्धि, उसका कल्याण एव सुख राज्य क कार्यों का लक्ष्य हैं। फ सिज्म राजनीति मे हर प्रकार के उपयोगितावाद का निषध करता है। राज्य सत्ता है और उसे अपनी सत्ता मे वृद्धि करनी चाहिय । दूसरे, इस दृष्टिकोण का परिणाम है इच्छा और युद्ध का गौरव गान। वह सैनिक गुणो को

---

† The fascist state has drawn into itself even the economic activities of the nation and through the corporative social and economic institutions created by it, its influence reaches every aspect of the national life and includes framed in their respective organizations all the political economic and spiritual forces of the nation (Quoted by Joad Ibid p 653)

प्रोत्साहन देता है और शिक्षा को सैनिक शिक्षण के अधीन कर देता है। मुसोलिनी के अनुसार "फैसिज्म न तो स्थायी शान्ति की सम्भाव्यता में विश्वास करता है और न उसकी उपयोगिता में ही", "युद्ध ही समस्त मानवीय शक्ति को उच्चतम शिखर तक पहुँचाता है और जो युद्ध का सामना करने का साहस रखते है, उन व्यक्तियों पर श्रेष्ठता की मुहर लगाकर देता है।'* इसी प्रकार हिटलर ने भी अपना विचार प्रकट किया है 'सनातन युद्ध से ही मानव,जाति महान् हो सकी है और सनातन शान्ति में उसका विनाश हो जायगा। † इस प्रकार युद्ध के गौरव गान का अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह तो स्पष्ट है। फैसिज्म शान्तिवाद को भीरुता मानता है।‡

समाज का शासक तथा शासित इन दो वर्गों में विभाजन जिसका पिछले पृष्ठों में विचार किया गया है, अपने महत्व के कारण फैसिज्म का तीसरा मुख्य सिद्धान्त है। 'इच्छा का बल' श्रेष्ठ वर्ग का एक लक्षण है, जिसके कारण वह आम जनता से भिन्न होता है। जनता स्वाभाविक रूप से उन लोगों का अनुसरण करती है।

स्वयं मुसोलिनी ने राज्य के फैसिस्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार किया है 'फैसिज्म के लिये राज्य निरपेक्ष है और व्यक्ति तथा समुदाय सापेक्ष है। फैसिस्ट राज्य रात का चौकीदार नहीं है जो जनता की व्यक्तिगत रक्षा के लिये ही लालायित हो और न राज्य का सङ्गठन इसलिये हुआ है कि वह नागरिकों के भौतिक कल्याण तथा शान्तिमय जीवन की व्यवस्था के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करे। इतना सा कार्य तो निर्देशकों का बोर्ड भी कर सकता है। न राज्य पूर्णतया राजनीतिक ही है, जिसका वास्तविक स्थितियों से कोई सम्बन्ध

* War alone brings up to its highest tension all human energy and puts the stamp of nobility upon the people who have the courage to meet it

† In eternal warfare mankind has become great and in eternal peace it would be ruined

‡'Fascism is according to the view of the soldier cowardice on principle Cowardice is no philosophy but a defect in character (Roehm quoted in Roehm Asirvatham op cit. p 552)

न हो अथवा जो राष्ट्र तथा नागरिको के विविध कार्यो से पृथक हो। फैसिज्म की कल्पना के अनुसार राज्य राष्ट्र के राजनीतिक, आर्थिक तथा आर्थिक सङ्गठन की प्राप्ति के लिये एक आध्यात्मिक सत्ता है। वह ऐसा सङ्गठन है जो अपनी उत्पत्ति तथा विकास मे आत्मा की अभिव्यक्ति है। राज्य देश की आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा की गारन्टी देता है, किन्तु वह जनता की आत्मा की भी रक्षा करता है जो युग युग मे उसकी भाषा, उसके लोकाचार और उसके धर्म द्वारा विकसित होती रही है। राज्य केवल वर्तमान ही नही है वह अतीत है और भविष्य भी है। व्यक्ति के अल्प जीवन का अतिक्रमण करके राज्य राष्ट्र के अन्तःकरण का प्रतिनिधित्व करता है। जिन रूपो में उसकी अभिव्यक्ति होती है वे परिवर्तित होते रहते हैं परन्तु राज्य के लिये आवश्यकता बनी रहती है। राज्य नागरिको को नागरिकता की शिक्षा देता है वह उन्हे उनका उद्देश्य बतलाता है, उन्हे एकता के लिये प्रेरित करता है उसका न्याय उनके विविध हितो मे एकता स्थापित करता है वह भावी सन्तान को कला, विज्ञान कानून तथा मानव-संगठन के क्षेत्रो मे जो मस्तिष्क ने सफलताएँ प्राप्त की है उन्हे विरासत के रूप मे देता है वह उन्हे एक कबीले के जीवन से मानव शक्ति के उच्चतम रूप, साम्राज्य शासन को पहुँचाता है। उसमे मानव के नैतिक तथा बौद्धिक जीवन की समस्त अभिव्यक्तियो का योग है। अतः राज्य का कार्य केवल इतना ही नही हो सकता कि वह नागरिको मे सुरक्षा तथा शान्ति कायम रखे। वह व्यक्ति के उस क्षेत्र का निर्देश करने के लिये जिसमे वह अपने कल्पित अधिकारो का प्रयोग कर सके, कोई यान्त्रिक विधि नही हैं। फैसिस्ट राज्य व्यवहार तथा अनुशासन का अन्तरात्मा द्वारा स्वीकृत किया हुआ आदेश है, सम्पूर्ण शरीर का अनुशासन है। उसका इच्छा तथा बुद्धि दोनो मे प्रवेश है। फैसिज्म एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जो सभ्य समाज के सदस्य के रूप मे मनुष्य का, उसके व्यक्तित्व मे गहरा समा कर, केन्द्रीय उद्देश्य बन जाता है। यह कर्मयोगी तथा विचारक के हृदय मे तथा कलाकार और वैज्ञानिक की आत्मा में निवास करता है वह उसकी आत्मा की भी आत्मा है।' (फैसिज्म का सिद्धान्त)। ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आलोक मे यह कहा जा सकता है कि 'प्रत्येक चीज राज्य के लिये है, राज्य के विरुद्ध कोई भी चीज नही है, राज्य के बाहर भी कुछ नही है।'*

* Everything for the state nothing against the state nothing outside the state

फैसिज्म के आर्थिक सिद्धान्त—

फैसिज्म के आर्थिक सिद्धात उसके राजनीतिक सिद्धात के ही अनुरूप है। वे आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तिवाद का उसी प्रकार खण्डन करते हैं जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र मे व्यक्तिवाद का उसके राजनीतिक सिद्धान्त खण्डन करते है। फैसिज्म व्यक्तिवाद के उतना ही विरुद्ध है जितना कि समाजवाद के। वह पूँजीवाद की समाजवादी आलोचना को स्वीकार करता है, परन्तु समाजवाद उनका जो समाधान बतलाता है, उसे स्वीकार नहीं करता। वह पूँजीवाद द्वारा मजदूरो के निदय शोषण, उनके अल्प वेतन लम्बे घण्टो तक काम, पूँजीपतियो के अत्यधिक मुनाफे आदि पूजीवादी प्रणाली के परिणामो की निन्दा करता है। वह समाजवाद की इस उक्ति को भी मानता है कि पूँजीवाद के गर्भ म उसके नाश के बीज हैं और यदि उसका नियन्त्रण नही किया गया तो उससे मानव जाति तथा सभ्यता का नाश हो जायगा। परन्तु वह समाजवाद के इस समाधान को स्वीकार नहीं करता कि पूँजीवादी वग का नाश कर दिया जाय। वह यह मानता है कि देश मे उत्पादन के चरमोत्कर्ष के लिये इस वग की आवश्यकता है। वह पूँजी के राष्ट्रीयकरण तथा स्थानीयकरण को केवल सद्धान्तिक मानता है जिसका व्यवहार मे प्रयोग सम्भव नही है। उसके विचार मे यह मानव शक्ति के बाहर की बात है। फैसिज्म वर्गहीन समाज की समाजवादी योजना को नही मानता। उसकी दृष्टि मे सामाजिक अभिवृद्धि के लिये मजदूर-वग तथा पूँजीपति वग दोनो की आवश्यकता है। वह दोनो वर्गों की रक्षा करना और समाज के लक्ष्यो की पूर्ति म उनका सामञ्जस्यपूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिये उनके कार्यों का नियमन करना चाहता है। इस प्रकार वह मजदूर-वग तथा उद्योगपति-वग दोनो के अधिकारो की रक्षा के लिये उत्सुक है। जहा एक ओर वह मजदूरो को भूखा मरते नहीं देख सकता और न पूँजीपतियो द्वारा निदयतापूर्वक उनका आर्थिक शोषण ही होने देना चाहता है वहाँ दूसरी ओर वह मजदूरो द्वारा पूँजीपतियो का खात्मा कर देने तथा उद्योगो के मजदूरो के हित मे सचालन करने की नीति का भी विरोधी है। इस प्रकार फैसिज्म न तो उद्योगपतियो को अपने हित मे उद्योगो पर आधिपत्य तथा नियन्त्रण करने देता है और न उद्योगो को मजदूर-सङ्घो (Trade Unions) के हाथो म ही जाने देता है। वह मजदूरो तथा मालिको दोनो को राज्य के नियन्त्रण एव नियमन मे रखता है। फैसिज्म ' राज्य को समाज के सामाजिक जीवन तथा आर्थिक

जीवन के नियन्त्रण का अंतिम अधिकार मानते हुए आर्थिक मामलों को, जहाँ तक सम्भव है व्यक्तिगत उद्योगपतियों के हाथों में ही रहने देना चाहता है।"*

राष्ट्र में उत्पादन शक्ति को उच्चतम स्तर पर बनाये रखने तथा आर्थिक स्वतन्त्रता की एक आवश्यक शर्त के रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में फैसिज्म व्यक्तिवाद (Individualism) से सहमत है परन्तु वह इस अधिकार को बिलकुल निर्विवाद नहीं मानता। फैसिज्म व्यक्तिवाद से इस बात में भिन्न है कि वह सब प्रकार की सम्पत्ति को एक प्रकार से सार्वजनिक निक्षेप (Trust) मानता है जो सदा राष्ट्रीय हितों की अधीनता में व्यक्ति के पास रहती है। इस प्रकार फैसिज्म बड़े उद्योग-व्यवसायों पर नियन्त्रण करता है और समाजवाद के समीप आ जाता है। यह फैसिज्म का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फैसिज्म धनोपार्जन को मानवीय उद्योग का सच्चा लक्ष्य नहीं मानता। वह अधिकतम राष्ट्रीय सम्पत्ति की अभिवृद्धि को एक स्वस्थ सामाजिक प्रणाली की अभिवृद्धि की जिस पर लोक कल्याण निर्भर है अधीनता में रखता है।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि इटली में उद्योगों का नियन्त्रण निगमों द्वारा होता था। कानून द्वारा हड़तालों तथा मिलबन्दी (Lock outs) का निषेध था।

फैसिज्म का बुद्धिवाद विरोध—

यहाँ यह उचित होगा कि फैसिज्म के बुद्धिवाद विरोध अथवा अबौद्धिकवाद (Anti Intellectualism or Irrationalism) के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डाला जाय जो फैसिज्म का एक मुख्य लक्षण है और उसके राज्य के सिद्धान्त की आदर्शवादी प्रवृत्ति से असंगत है। इस अबौद्धिकवाद की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है। सबसे प्रथम, इसका यह अर्थ है कि फैसिज्म का किसी निरपेक्ष सत्य या कुछ निरपेक्ष सत्यों में विश्वास नहीं है

---

* 'It combines an insistence on the ultimate right of the state to control every aspect of the economic and social life of the community with a preference for leaving economic matters as far as possible in the hands of the private entrepreneur (Cole Review of Europe Today p 633)

जिनकी तर्क द्वारा खोज की जा सके और जो दूसरो को बतलाय जा सकें। फॅसिज्म के निश्चित सिद्धान्तो के अभाव का एक कारण शायद बुद्धि म अविश्वास भी है। उसके विचार मे जिसको राज्य मन्य कहे वही सत्य है। दूसरे, इस बुद्धिवाद विरोध मे यह प्रकट होता है कि कम से कम राजनीति म मनुष्य के विचारात्मक तथा विवेकात्मक पक्ष की अपेक्षा उसकी सहज प्रवति तथा उसका अविवेकी पक्ष ही अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिये राजनीतिक सत्ता सस्थागत होने की अपेक्षा व्यक्तिगत होनी चाहिये। समस्त राजनीतिक प्रक्रिया बुद्धि की अपेक्षा भावना तथा इच्छा के क्षेत्र म होनी चाहिये। इस प्रकार फॅसिज्म इस प्रजातन्त्रीय विचार का खण्डन करता है कि शासन-सम्बन्धी समस्याओ का विवेकपूर्ण समाधान विचार विमर्श तथा बहस के द्वारा सम्भव है। इस आधार पर वह शासन के ससदीय रूप पर आक्षेप करता है। यह पार्लमिण्ट का काम नही है कि वह सभा-भवन मे विचार, बहस तथा मतदान द्वारा साधारण इच्छा का निर्धारण तथा उसकी अभिव्यक्ति करे और उस इच्छा का कार्यपालक विभाग पर लादे। वास्तव मे पार्लमिण्ट का काम तो राष्ट्रीय विचार के व्यक्तियो क भावो एव विचारो को शासन के इस अङ्ग के सामने अभिव्यक्त करना है। राष्ट्र की इच्छा को प्रकट करने के माध्यम के रूप मे पार्लमिण्ट व्यर्थ है। तीसरे यदि राजनीतिक प्रक्रिया मनोभाव के क्षेत्र मे ही होती है, तो नेता को चाहिये कि वह बुद्धिपरक तर्कों द्वारा नही वरन् जनता के मनोभावो को स्पर्श करनेवाले साधनो से काम ले। जहाँ तक जनता से सम्बन्ध है, राजनीतिक आन्दोलन के पीछे जो शक्ति होती है, वह उसकी बुद्धि से नही वरन् उसके जोश से प्राप्त होती है। इस कारण फॅसिस्ट नेता को लोगो के सामने सुझाव रखने, उन पर मोहन-यन्त्र का प्रयोग करने तथा प्रचार करने की कलाओ मे पारंगत होना चाहिये। उसे विद्वान् तथा सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा एक व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक तथा एक अच्छा सङ्गठनकर्ता होना चाहिये।

फॅसिस्ट रीतियाँ—

फॅसिज्म अपने बुद्धिवाद विरोध और राज्य की एक सत्ता के रूप में कल्पना के कारण दमन तथा दबाव को राजकीय कार्य की सर्वोत्तम रीति समझता है। चूँकि उसके विचार म जनता म बुद्धि बहुत कम होती है, इसलिये वह यह सम्भव नही समझता कि बुद्धिवाद तथा नैतिक साधनो द्वारा कार्य हो सकेगा। फॅसिज्म बल प्रयोग के द्वारा शासन करता है और इसके लिये वह आवश्यकतानुसार जासूसी तथा इसी प्रकार की

अन्य रीतियों का प्रयोग करने में कभी नहीं हिचकता। यदि जनता शासन से प्रेम नहीं करती तो उसमें शासन के प्रति भय पैदा करना चाहिये। राजनीतिक नेता का सर्वोच्च कर्तव्य अपने पक्ष में लोक समर्थन प्राप्त करना नहीं वरन् अपने प्रति सम्मान का भाव तथा जनता में आज्ञापालन की भावना का प्रादुर्भाव करना है और इसके लिये वह सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग कर सकता है।

यह समझना वास्तव में एक महान् भूल होगी कि फैसिस्ट लोग अपने ध्येय की पूर्ति के लिये विशुद्ध आतंकवाद और दमन का प्रयोग करते हैं। शक्ति और दमन उनके अन्तिम अस्त्र नहीं हैं और उनका प्रयोग तभी किया जाता है जब कि उनके दूसरे साधन विफल हो जाते हैं। साधारणतया वे एक बड़ी सीमा तक प्रचार (Propaganda) पर निर्भर रहते हैं, जिसे उन्होंने एक ललित कला का रूप दे दिया है। समस्त फैसिस्ट देशों में एक प्रचार-सचिवालय होता है जिसका मन्त्री बहुत ही कार्यपटु व्यक्ति होता है। यही नहीं, वे बाल्यकाल से ही बालकों के मन पर फैसिज्म का प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। फैसिस्ट शासन की सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली का नियोजन इस प्रकार से किया जाता है कि बाल्यावस्था से ही उनमें फैसिस्ट विचारों के संस्कार पड़ जायें और उनमें राष्ट्रीय राज्य के आदर्श एवं सिद्धान्तों के लिये उत्कट भावना उत्पन्न हो जाय। उसका ध्येय बुद्धि का विकास करना नहीं वरन् सबल शरीर तथा चरित्र का निर्माण करना है। यह बात उनके किसी वस्तुगत तथा नित्य सत्य के निषेध के अनुकूल ही है।

फैसिज्म के कुछ अन्य लक्षण

(१) फैसिस्ट राष्ट्रीयता—

फैसिज्म अपनी प्रकृति में तीव्र रूप से राष्ट्रीय है। वह राष्ट्रीय राज्य को सर्वोच्च राजनीतिक सङ्गठन और प्रभुत्वसम्पन्न मानता है। वह राज्य के प्रति भक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की भक्ति को स्वीकार नहीं करता, चाहे वह अपनी अन्तरात्मा के प्रति हो या कम्युनिस्ट इण्टर-नेशनल जैसी किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के प्रति। जर्मन या इटालियन चाहे जिस देश में वह रहे वह प्रथम और अन्तिम रूप से जर्मन राइक का या इटालियन साम्राज्य का सदस्य है और उसके प्रति भक्ति रखता है। इस प्रकार की राष्ट्रीयता संकुचित है और वह अन्तर्राष्ट्रीयता की शत्रु बन जाती है।

(२) फ॑सिस्ट पार्लमिण्ट—

फ॑सिस्ट शासन म प्रजात त्रीय शासन की भाति राष्ट्रीय पार्लमिण्ट को शासन पर नियन्त्रण तथा नियमन का कोई अधिकार नही होता। उसक काय तो (१) शासन द्वारा जो निणय उससे परामश किय विना ही किय गय है उन्ह स्वीकार कर लना तथा (२) समय-समय पर राजनीतिक नेता के वक्तव्या तथा घोषणाओ के लिय मच प्रदान करना है। पार्लामेण्ट की काइ वास्तविक सत्ता नही है और वह फ॑सिस्ट मशीन के एक साधारण से अधीन अङ्ग मात्र स अधिक कुछ नहीं है। वह ऐसी सभा नही है जहा राष्ट्रीय नीतियो पर विचार किया जाता हो तथा निणय किय जाते हो। वह राष्ट्र की आकाक्षा का निमाण तथा उसकी अभियक्ति का माध्यम नही है। उसक निमाण के प्रश्न पर विचार करना हमार लिय आवश्यक नही है परन्तु इतना तो कहा जा सकता है उसमे ऐसा काइ व्यक्ति नहीं हो सकता जो फ सिस्ट पार्टी को स्वीकार न हो।

(३) फ॑सिस्ट पार्टी—

फ॑सिज्म ऐसे किसी भी राजनीतिक दल या दलो के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता जिसके सिद्धान्त तथा काय क्रम उसके विरुद्ध हो। इटली म राज सत्ता प्राप्त करने के बाद जो पहला काय मुसोलिनी न किया वह था समस्त विरोध का अन्त। इस प्रकार वहा फ॑सिस्ट पार्टी ही अकेली राजनीतिक पार्टी रह गई जिसन समस्त राष्ट्रीय जीवन पर ऐसा आधिपत्य स्थापित किया जिसका प्रजातन्त्रीय राज्य मे कोई उदाहरण नही मिलता। यह फ सिस्ट राज्य की केन्द्रीय संस्था होती है, एक प्रकार स शासन तथा फ॑सिस्ट पार्टी एक ही वस्तु होती है। पार्टी के सगठन तथा काय क्रम के सम्बन्ध मे हम विस्तार के साथ विचार करना अभिप्रेत नही है।

(४) फ सिज्म मजदूरो द्वारा हडताल करने के अधिकार को नही मानता और न यह उद्योगपतियो द्वारा मिलबन्दी को ही स्वीकार करता है। राष्ट्रीय उत्पादन को अधिकतम करने के लिये वह इन दोनो म सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इस ध्येय की प्राप्ति का प्रयत्न निगमो द्वारा किया जाता है। उद्योगपतियो तथा मजदूरो के बीच जो विवाद होते है व पचायती निणय के लिये एक न्यायालय को सौप दिये जाते है।

(५) फ॑सिस्ट अधिनायकतन्त्र—

यद्यपि फ सिज्म व फ सिस्ट अधिनायकतन्त्र एक ही वस्तु नही है तो

भी व्यवहार म फ़ैसिस्ट शासन अधिनायकीय होता है। इटली म मुसोलिनी की इच्छा सर्वोपरि थी और उसकी सत्ता पर कोई सन्देह नही कर सकता था। जर्मनी मे राज्य की समस्त सत्ता हिटलर के हाथो म केन्द्रित थी। फ़ैसिस्ट राज्य सर्वसत्तावादी होता है और एक सर्वसत्तावादी राज्य अधिनायकीय होता है। फ़ैसिज़्म तथा नात्सीवाद को इटली तथा जर्मनी म जो सफलता मिली थी वह अधिनायकीय शासन का ही परिणाम था।

फ़ैसिज़्म की सफलता और उसका भविष्य—

फ़ैसिज़्म ने इटली के लिये तथा नात्सीवाद ने जर्मनी के लिय बहुत कुछ किया। उसने इटली को वह चीज दी जिसकी उस बडी आवश्यकता थी—निपुण शासन प्रबन्ध, आन्तरिक शान्ति एव सुरक्षा, राष्ट्रीय राजस्व म सुधार अधिकतम औद्योगिक उत्पादन तथा देश के प्राकृतिक साधनो का सर्वोत्तम उपयोग, मजदूरो एव मालिको के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध, यातायात के अच्छे साधन, अच्छे राजपथ पुल तथा नालियाँ, विदेशो मे सम्मान एव गौरव 'संक्षेप म, इटालियन राष्ट्र के भाग्य मे गौरव की अनुभूति'। उसने मरणासन्न राष्ट्र को जीवन दान दिया था। उसने जनता म एक नवीन उत्साह तथा एक नवीन एकता को जागृत किया था। इन कारणो से फ़ैसिज़्म का एक ऐसे अधिनायक के शासन के रूप मे गौरव गान किया जाता था जिसमे कार्य-सम्पादन कराने की क्षमता थी। फ़ैसिज़्म ने अपनी कार्य करने की शक्ति म निस्सन्देह संसदीय प्रजातन्त्र की अपेक्षा श्रेष्ठता स्थापित कर ली थी। इटली मे मुसोलिनी और जर्मनी म हिटलर को जो सफलता मिली थी उसके लिये उन्ह अवश्य श्रेय देना चाहिये। उनके जैसे उदाहरण इतिहास म नहीं मिलते।

किन्तु इस चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। फ़ैसिज़्म के आलोचक समाज म बल तथा दमन की प्रतिष्ठा के लोपा की ओर सकेत करते है। यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक क्षेत्र मे फ़ैसिज़्म बल को सबसे बडा साधन मानता है किन्तु केवल बल प्रयोग म अच्छे स्थायी परिणाम प्राप्त नही होते। एक इटालियन विद्वान् की उक्ति है कि बल ने जिसका निर्माण किया है, उसका उसने नाश भी किया है। यह सत्य है। मुसोलिनी और हिटलर ने बल के आधार पर जो ढाँचा तैयार किया था वह उनके बाद नहीं रहा। कुछ विद्वानो की राय है कि फ़ैसिस्ट राज्य एक इञ्जन के समान था जिसका निर्माण तेज गति तथा आक्रमण के लिये किया गया था स्थायित्व के लिये नहीं। बल तथा भय के आधार पर समाज

अधिक समय तक सगठित नही रह सकता, केवल न्याय और सदाचार ही राज्य के स्थायी आधार है। बल राज्य का स्थायी आधार तभी बन सकता है जब कि मनुष्य जाति के विचारो तथा भावनाओ मे ऐसा स्थायी परिवर्तन हो जाय कि वे स्वशासन के स्थान पर निरकुश राज्य को पसद करने लगे। किन्तु यह मानने का हमारे पास कोई प्रमाण नही है कि इस प्रकार का परिवर्तन जनता की मनोवृत्ति मे हो गया है या हो रहा है।

बल तथा उससे उत्पन्न भय उस वातावरण को नष्ट कर देते हैं जिसमें कला और विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति की अभिवृद्धि होती है। कोकर ने कहा है कि 'अधिनायकतन्त्र एक सगठित दण्ड गृह के समान है जिसमे प्रत्येक निवासी को एक कार्य सौंप दिया जाता है और उसकी गतिविधि पर बडी सतर्कता से दृष्टि रखी जाती है। यह व्यवस्था समाज के अपराधी तथा पापी व्यक्तियो के लिये तो ठीक है परन्तु सामान्य व्यक्तियो के लिये, विशेषकर उच्च व्यक्तियो के लिये, वह ठीक नही है। राष्ट्र के सार्वजनिक एव सांस्कृतिक जीवन का केन्द्रीभूत तथा दमनकारी निर्देशन ज्ञान विज्ञान, साहित्य एव कला के विकास की सम्भावना के लिये घातक है।'*

यह भी दावा किया जा सकता है कि जिन लोगो ने स्वतन्त्रता के फल का स्वाद लिया है वे इस प्रकार की राजनीतिक दासता मे रहना पसद नही करेंगे। यह स्मरण रखना चाहिये कि अधिनायकतन्त्र ऐसी जनता मे ही पनप सका है जिसमे ससदीय शासन-पद्धति ने जड नही पकडी थी। ऐसा विश्वास करना कि अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र के मुकाबले मे जीवित रह सकेगा इस बात से इन्कार करना है कि हम सभ्यता मे उन्नति कर रहे है, जिस उन्नति का स्पष्ट अर्थ है भौतिक बल के स्थान पर तर्क बुद्धि एव अनुनय विनय का प्रयोग। अधिनायकतन्त्र मे कुछ ऐसे दोष भी हैं जो उसे

* A dictatorship is run as an elaborately organized house of correction, in which each inmate is assigned his task and vigilantly inspected as to the manner in which he discharges it This is well enough for the delinquent and defective members of society but not for men of normal character and mentality and particularly not for superior men A highly centralized coercive direction of the public and cultural life of nation destroys the possibility of great learning literature and art. (Coker Recent Political Thought p 490)

अधिक दिन जीवित नही रहने देंगे। एक दोष तो इस तथ्य से पैदा होता है कि निरकुश सत्ता उसका प्रयोग करनेवाले व्यक्ति को बिगाड देती है और कर्त्तव्यभ्रष्ट कर देती है। अधिनायक इस सिद्धात के अपवाद नही हैं, समय की गति के साथ उनका भी पतन हो जायगा। एक दूसरी समस्या जिसका इस प्रणाली को सामना करना पडता है यह है कि एक अधिनायक की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी कौन होगा। इटली मे दूसरा कोई मुसोलिनी नही हो सकता और न जर्मनी मे दूसरा हिटलर। अधिनायक एक निर्मूल वृक्ष है। उसकी सापेक्ष शक्ति के सम्बन्ध मे निर्णय देने से पूर्व हम उस स्थिति की कल्पना करनी चाहिये जो उसकी मृत्यु के बाद उपस्थित होगी। अन्त मे, यह प्रणाली स्वतन्त्रता का विनाश कर देती है। इस प्रकार की स्थिति सब प्रकार की प्रगति के प्रतिकूल है। जनता उसके अत्याचारी शासन को उसी समय तक सहन करेगी जब तक कि उसका समर्थन करनेवाला मनोभाव कायम रहेगा। यह कहना कठिन है कि उस मनोभाव के नष्ट हो जाने पर क्या स्थिति होगी। अधिनायक द्वारा अपने देश के नागरिकों को एक नमूने मे ढालने का प्रयत्न भी सफल नही हो सकता। ऐसा करने का अर्थ होगा व्यक्तियों को पशु बना देना।

अत हम कह सकते है कि कही कही कुछ परिस्थितियो मे फ़ासिज़्म उपयोगी सिद्ध हो सकता है परन्तु इस बात मे सन्देह है कि वह अधिक समय तक सभी लोगो के लिये एक सामान्य शासन प्रणाली बन सकता है। इसका कारण यह है कि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, आत्म अनुशासन तथा मानवीय एकता के आदर्श को, जिसका प्रजातन्त्रीय देश आदर करते है, बहुत कम मूल्य समझता है। इस प्रकार फ़ासिज़्म सकट काल के लिये एक अच्छी अस्थायी व्यवस्था भले ही हो परन्तु सामान्य लोगो के लिये यह सामान्य राजनीतिक व्यवस्था नही बन सकता।

फ़ासिज़्म के विनाश के बाद जो कुछ इटली मे हुआ है उससे इस मत की पुष्टि होती है कि अधिनायकीय शासन वैयक्तिक विकास के अनुकूल नही होता। मुसोलिनी के शासन के पतन के बाद इटली मे जनता की रचनात्मक शक्ति आश्चर्यजनक रीति से फूट निकली है। इटली के शिल्पियो, चित्रकारो, लेखको आदि ने युद्ध के बाद योरोप को अपनी कलाओ के चमत्कार दिखाये हैं। सिनेमा के एक निर्देशक ने कहा था, 'यह कोई आकस्मिक बात नही है कि हम सुन्दर चलचित्र बनाते हैं। फ़ासिज़्म के अधीन रहना तो शून्य मे रहने के समान था। अब हम मुक्त हो गये है और हमारे लोग प्रगति कर रहे है।"

प्रश्न

१ फॅसिज्म मे आप क्या समझते हैं। उसके मुख्य मन्तव्य का वर्णन कीजिये ।

२ 'कार्य, नेतृत्व और टीम की भावना के आदर्शो का खेलकूद के क्षेत्र से राजनीति के क्षेत्र मे प्रतिष्ठित करना ही फसिज्म है।' व्याख्या कीजिये ।

३ 'फसिज्म को प्राय सामान्य मनुष्य के हित मे किये जानेवाले समाजवादी अथवा उदारवादी सुधारो के विरुद्ध पूंजीपति प्रतिरोध का आंदोलन कहा जाता है। कोकर की इस उक्ति पर अपने विचार प्रकट कीजिये ।

४ फसिज्म के अनुसार व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन कीजिये ।

५ क्या फसिज्म लोकतन्त्र की दुर्बलताओ के निराकरण का संतोषप्रद साधन हो सकता है ?

६ फसिज्म के गुण दोषो पर प्रकाश डालिये ।

७ 'राज्य के बाहर कुछ नहीं राज्य के विरुद्ध कुछ नही, सब कुछ राज्य के लिये।' फसिज्म का यही सार है। इस विषय पर अपना मत प्रकट कीजिये ।

८ 'फसिज्म व्यक्तिवाद के उतना ही विरुद्ध है जितना समाजवाद के।' व्याख्या कीजिये ।

अध्याय १०

साम्यवाद

पिछले अध्याय मे हमने फैसिज्म का वर्णन किया है जो अधिनायकतन्त्र का समर्थक है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद योरोप म इटली के फसिस्ट अधिनायकतन्त्र के अतिरिक्त रूस मे भी एक अधिनायकतन्त्र की स्थापना हुई जिसका आधार साम्यवाद है। साम्यवाद समाजवाद का ही एक रूप है। समाजवाद की रूपरेखा का वर्णन करते समय हमने बतलाया था कि समाजवादी कई प्रकार के है और पूँजीवाद की आलोचना तथा पूँजीवादी व्यवस्था को हटा कर उसके स्थान पर एक नवीन सहकारी व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य मे, जिसम न व्यक्तिगत पूँजी और न स्वतन्त्र प्रतियोगिता के लिये ही कोई स्थान होगा सभी समाजवादी सहमत हैं, किन्तु नवीन व्यवस्था को स्थापित करने के ढङ्ग तथा नवीन व्यवस्था के रूप के विषय म उनमे तीव्र मतभेद है। आप देख चुके है कि समष्टिवादी समाजवादी ससदीय प्रणाली के पक्षपाती है परन्तु अन्य समाजवादी इसके विरोधी है। इस अध्याय मे हम साम्यवाद का वर्णन करेगे। समाजवाद के एक रूप की दृष्टि से तो इसका अध्ययन आवश्यक है ही इसने जो विशिष्ट सर्वसत्तावादी रूप रूस मे धारण किया है उसके कारण इसका अध्ययन और भी महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है। इससे रूसी सर्वसत्तावाद तथा इटली के सर्वसत्तावाद का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो सकेगा। यहा एक बात ध्यान देने योग्य है। रूसी सर्वसत्तावाद का साम्यवाद कहने की अपेक्षा 'सोवियतवाद' (Sovietism) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

साम्यवाद फैसिज्म के समान प्राथमिक रूप मे सामाजिक एव राजनीतिक सगठन का रूप नही है, वह एक प्रकार का सामाजिक दर्शन है, जो सोवियतवाद का आधार है और जिससे उसे एक कार्यक्रम प्राप्त

होता है। कार्ल मार्क्स ने अपने समाजवादी दर्शन तथा सामाजिक क्रांति के कार्यक्रम के लिये साम्यवाद नाम रखा था। रूस में नये राज्य का संगठन करते समय लेनिन ने इस नाम को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार साम्यवाद सोवियतवाद के पीछे काम करनेवाली सामाजिक तथा राजनीतिक विचार धारा है। साधारण वार्तालाप में हम जिस प्रकार फैसिस्ट इटली या प्रजातन्त्रीय इङ्गलैण्ड की बात करते हैं, उसी प्रकार साम्यवादी रूस की भी बात करते है। यदि सोवियतवाद तथा साम्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध का ध्यान रखा जाय तो ऐसा कहने में कोई हानि नही होगी।

रूसी साम्यवाद का सैद्धान्तिक आधार लेनिन के ग्रंथो तथा साम्यवादी पार्टी के अन्य नेताओं की पुस्तकों में है जो कॉर्ल मार्क्स को अपना आचार्य मानते है और 'साम्यवादी घोषणा' (Communist Manifesto) तथा 'पूँजी (Capital) नामक ग्रंथो को पवित्र ग्रन्थ मानते हैं। वे यह मानते हैं कि जिस रूसी राज्य क्रान्ति ने रूस में जारशाही का अन्त और उसके स्थान पर साम्यवादियो द्वारा शासन की प्रतिष्ठा की वह उक्त घोषणापत्र में उल्लिखित आदर्श की सिद्धि करने का प्रयत्न है। अतः यह आवश्यक है कि यहाँ मार्क्स के सामाजिक दर्शन का सूक्ष्म विवेचन किया जाय।

कार्ल मार्क्स का सामाजिक दर्शन

इतिहास की आर्थिक व्याख्या—

कार्ल मार्क्स जर्मनी के महान् दार्शनिक हेगेल का शिष्य था परन्तु उसने उसके दर्शन को जैसे का तैसा स्वीकार नही किया। आदर्शवाद के अध्याय में हमने हेगेल के दर्शन की ओर उसके द्वन्द्वात्मक विकास की चर्चा की है। हेगेल आत्मवादी था और, जैसा हम देख चुके है, उसने इस दृश्य जगत को विश्वात्मा का विकास माना है। उसके अनुसार यह विकास आन्तरिक अर्थात् विचार-जगत में और बाह्य अर्थात् दृश्य जगत दोनों में होता रहता है। प्रथम विश्वात्मा अपने स्वगत रूप में प्रकट होता है और फिर बाह्य जगत में व्यक्त होता है। यह विकास द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया द्वारा होता है। मार्क्स ने हेगेल की द्वन्द्वात्मक विकास की प्रक्रिया को तो स्वीकार किया परन्तु विश्वात्मा के सिद्धान्त को काल्पनिक कह कर उसे नहीं माना और उसके स्थान पर भौतिक तत्व (Matter) को मूल माना। उसका कथन था कि यह विश्व अपनी प्रकृति से ही भौतिक है। हेगेल ने तो दृश्य जगत को विश्वात्मा अथवा विश्व मन की अभिव्यक्ति माना था परन्तु मार्क्स उसे भौतिक तत्व का विकास मानता है। उसके अनुसार भौतिक तत्व मन के बाहर और उससे पूर्णतया

स्वतन्त्र है। मन या विचार भौतिक जगत से उत्पन्न होता है। इस प्रकार मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्वात्मक अध्यात्मवाद (Dialectical Idealism) को अस्वीकार करके उसके स्थान में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) को अपने दर्शन का आधार बनाया। इस प्रकार मार्क्स का दर्शन हेगेल के दर्शन का बिलकुल उल्टा है। मार्क्स ने लिखा है कि हेगल का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त सिर के बल उल्टा खड़ा था मैंने उसे सीधा करके पैरों पर खड़ा कर दिया।*

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—

मार्क्स का कथन था कि भौतिक जगत की वस्तुएँ एवं घटनाएं एक दूसरे से अलग और असम्बद्ध नहीं होती। वे परस्पर सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित होती है। इसके साथ ही भौतिक जगत में स्थिरता भी नहीं है। वह गतिशील है उसमें निरन्तर परिवर्तन और विकास होता रहता है। यह विकास मूल रूप में भौतिक पदार्थ (matter) का होता है जो अपने आन्तरिक स्वभाव से विकसित होकर नाना प्रकार के नाम एवं रूप धारण करता है। यह विकास द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया द्वारा होता है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक पदार्थ में आन्तरिक विरोध (Inner contradiction) निहित होते हैं जिनमें निरन्तर संघर्ष होता रहता है जिसके फलस्वरूप उसका विकास होता है। इस विकास में तीन अवस्थाएँ होती है—वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti thesis) और संवाद (Synthesis)। यह विकास चक्कर के रूप में होता है परन्तु एक ही धरातल पर नहीं होता अर्थात् हम घूम कर फिर वहीं नहीं पहुँच जाते। जैसे एक स्प्रिंग का तार गोल घूमता हुआ ऊपर उठता जाता है इसी प्रकार वाद और प्रतिवाद की अवस्थाओं में से होती हुई जब कोई वस्तु संवाद की अवस्था में पहुँचती है तो वह कुछ ऊपर उठ जाती है। ऐंगल्स (Engels) ने इस प्रक्रिया को समझाने के लिये कई दृष्टान्त दिये हैं। जैसे यदि हम भूमि में एक जौ का दाना (वाद) बोएँ तो वह दाना नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर एक पौदा उग आता है। यह पौदा प्रतिवाद अर्थात् दाने का निषेध है। फिर इस पौधे में बालियाँ लगती है और पकने पर पौदा तथा बालियाँ सूख जाती हैं और उनमें से बहुत से दाने निकल आते हैं। ये जौ के दाने पौदे के निषेध अर्थात् निषेध

* 'I found the Hegelian Dialectic standing on its head, I put it down on its feet'

के निपध (सवाद) हैं। अब एक दाने के स्थान पर हमे सैकडा दाने प्राप्त हो गये हैं। यही विकास क्रम सवत्र चलता रहता है।

इस विकास क्रम मे एक बात और होती ह। मार्क्स का कथन था कि इस परिवतन की प्रक्रिया मे एक ऐसी अवस्था आती है जबकि मात्रा अथवा परिमाण मे परिवर्तन होत होते गुण मे परिवतन होजाता है और वस्तु का रूप ही बदल जाता है। उदाहरणाथ यदि हम पानी का तापक्रम बढात जायें तो १०० सेटीग्रेड तक पहुँचने तक तो पानी पानी ही बना रहेगा परन्तु १०० पर पहुँचने पर वह भाप बन जायगा अर्थात् उसका रूप ही बदल जायगा। इसी प्रकार यदि हम उसका तापक्रम घराते चले जायें तो शू य अश पर वह तरल पानी नही रहता, जम कर ठोस बरफ बन जाता है।

मार्क्स के सिद्धा त को समझने क लिये इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को समझ लेना बडा आवश्यक है क्योकि इसके द्वारा उसके सिद्धा त का क्राति कारी स्वरूप समझ मे आ जाता है। जसा हम देख चुके हैं, उसके विचार के अनुसार इस भौतिक जगत मे स्थिरता नही है, यह गतिशील है और प्रत्यक वस्तु म परिवतन और विकास होता रहता ह। यह विकास आतरिक विरोध या सघष के द्वारा होता है और वाद तथा प्रतिवाद की अवस्था मे से होते हुए जब वस्तु सवाद की अवस्था मे पहुँचती हैं तो वह वाद की अवस्था से उच्चतर अवस्था में पहुँच जाती है। मार्क्स का कथन था कि जब प्रत्येक वस्तु गतिमान है और एक दूसरे से सम्बद्ध है तो हमे किसी भी वस्तु का अध्ययन उसके गतिमान रूप म और अय वस्तुओ के सम्बन्ध म ही करना चाहिये। इसके अतिरिक्त जब कोई भी परिवतन सघप द्वारा ही होता है तो सघप स्वाभाविक है वह टाला नही जा सकता। इस सिद्धा त को जब हम सामाजिक विकास क सम्बन्ध मे लागू करेंगे तो इसका अथ यह होगा कि समाज की एक अवस्था से दूसरी अवस्था म परिवतन सघप द्वारा अर्थात् हिंसात्मक क्राति क द्वारा ही हो सकता है समझा-बुझा कर शान्तिपूर्ण उपायो से नही। इसके साथ ही सवाद वाद की स्थिति से ऊँचा उठा हुआ होता है। सामाजिक विकास के सम्बन्ध मे इसका अथ होगा कि क्रान्ति के उपरात समाज की जो अवस्था होती है वह उसके पूव की अवस्था से श्रेष्ठ होती है। जैसे, सामाजिक विकास के क्रम में कभी सामन्तशाही का युग था जिसका मध्यवग के लोगो ने अ त कर प्रजातन्त्र स्थापित किया। प्रजात त्र सामन्तशाही

से श्रेष्ठ है । जब सर्वहारा वर्ग इस पूँजीवादी प्रजातन्त्र का अन्त हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा करके अपना तन्त्र स्थापित करेगा तो वह सर्वहारा तन्त्र प्रजातन्त्र से श्रेष्ठ होगा ।

ऐतिहासिक भौतिकवाद (इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या)—

मार्क्स ने अपने इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रयोग इतिहास की व्याख्या में किया । उसने हेगल के इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि 'इतिहास राजनीतिक निश्चल वस्तुविज्ञान (Political Statics) का अंश नहीं, राजनीतिक गति विज्ञान (Political Dynamics) का अंश है जिसमें संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा साम्यावस्था (Equilibrium) की स्थापना होती है ।'*

वह हेगेल के इस विचार से सहमत था कि इतिहास एक तार्किक एवं क्रमबद्ध विकास है परन्तु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं वह इस बात को स्वीकार नहीं करता था कि इतिहास का यह द्वन्द्वात्मक विकास किसी आध्यात्मिक सिद्धान्त के कारण होता है, वह उसे जीवन की भौतिक अवस्थाओं का परिणाम मानता था ।

इस प्रकार मार्क्स ने अपने *विख्यात 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या'* के सिद्धान्त का निरूपण किया । इस सिद्धान्त के अनुसार 'हमारे कानूनी सम्बन्धों तथा राज्य के रूपों को हम स्वयं उन्हें ही देख कर नहीं समझ सकते और न उनकी यह कह कर ही व्याख्या कर सकते हैं कि वे मनुष्य के मन के विकास, उसकी उन्नति के परिणाम हैं । उनका कारण जीवन की भौतिक अवस्थाओं में विद्यमान रहता है । भौतिक जीवन में उत्पादन के ढंग से जीवन की सामाजिक, राजनीतिक एवं व्यावहारिक प्रक्रियाओं का सामान्य स्वरूप निर्धारित होता है । मनुष्यों का अस्तित्व अर्थात् उनके जीवन की अवस्थाएँ उनकी चेतना अर्थात् मन द्वारा निर्धारित नहीं होती वरन् उसके विपरीत उनकी सामाजिक अवस्थाएँ उनकी चेतना अर्थात् उनके विचारों आदि का

---

* History is not a piece of political statics but of political dynamics in which equilibrium is reached through a process of conflict (Hegel)

निर्धारण करती हैं।'* 'सम्पत्ति के विविध रूपों के आधार पर, जीवन की सामाजिक अवस्थाओं के आधार पर नाना प्रकार के भावों, भ्रमों, विचार की आदतों और जीवन की धारणाओं का भवन खड़ा किया जाता है। इनका निर्माण एक सम्पूर्ण वर्ग अपने भौतिक आधार तथा तदनुरूप सामाजिक अवस्थाओं से करता है।'† संक्षेप में, मार्क्स के विचार के अनुसार हमारी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक संस्थाएँ, हमारे विचार आदर्श, विश्वास कानून, दर्शन, धर्म तथा समय-समय पर इनमें होनेवाले परिवर्तन जीवन की भौतिक अवस्थाओं अर्थात् उत्पादन के तरीकों में परिवर्तनों के परिणाम होते हैं, सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों अथवा भगवान् की इच्छा से उत्पन्न नहीं होते। उनके कारण उनके युग की आर्थिक व्यवस्था में पाये जाते हैं उसके दर्शन में नहीं। इन सब का सम्बन्ध किसी युग में प्रचलित उत्पादन की प्रणाली से होता है। जब इस प्रणाली में परिवर्तन हो जाता है तो उसके साथ ही सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संस्थाओं में भी परिवर्तन हो जाते हैं। सामन्ती समाज की समस्त संस्थाएँ उसकी विशिष्ट लौकिक (Secular) एवं आर्थिक अवस्थाओं के अनुकूल बनाई गई थी। जब सामन्तवाद का पतन हो गया और उसके स्थान पर राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हुई जिससे वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला तो नवीन आर्थिक सिद्धान्तों, सदाचार

---

* Legal relations as well as forms of state could not be understood by themselves nor explained by the so called general progress of the human mind but that they are rooted in the material conditions of life The mode of production in material life determines the general character of the social political and spiritual processes of life It is not the consciousness of men that determines their existence but on the contrary their social existence determines their consciousness (Marx)

† 'Upon the several forms of property upon the social conditions of existence a whole superstructure is reared of various and peculiarly shaped feelings illusions habits of thought and conceptions of life The whole class produces and shapes these out of its material foundation and out of the corresponding social conditions (Marx)

के नये आदर्शों, तथा नये कानूनों का निर्माण हुआ। राष्ट्रीय राज्य की नवीन भावना में भी आगे चल कर परिवर्तन हो गया क्योंकि अब उद्योग की अपेक्षा राजस्व पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। क्रॉसमेन ने इस सिद्धान्त का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है—'धरा, हल, मुद्रा, कारखाना पद्धति आदि में से प्रत्येक ने अपने आविष्कार द्वारा दीर्घ काल से प्रतिष्ठित लोकाचारों, नैतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक पद्धतियों को अस्त व्यस्त कर दिया। युद्ध विज्ञान, यातायात तथा सन्देश-वाहन, कृषि उद्योग और राजस्व के विकास ने भी हमारी जीवन प्रणाली तथा विचार-प्रणाली में परिवर्तन कर दिया है। उत्पादन तथा वितरण की रीतियों में जो परिवर्तन हुए हैं वे इतिहास के द्वन्द्व में प्रधान घटक हैं। व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों के सिद्धान्त तथा नरेशों की तरंगें भी इन परिवर्तनों को गति दे सकती थीं या शिथिल कर सकती थीं परन्तु इस प्रक्रिया का नियंत्रण करनेवाली उग्र आर्थिक शक्तियों के सामने गौण थीं।*

संक्षेप में, मार्क्स का मत है कि मानव समाज के इतिहास में हम जो बड़े बड़े परिवर्तन देखते हैं वे सब उत्पादन प्रणाली के परिवर्तनों के फलस्वरूप ही हुए हैं। समाज के संगठन और उसके विभिन्न वर्गों की रूप रेखा का निर्धारण उत्पादन प्रणाली ही करती है। सामाजिक संस्थाओं एवं वर्गों का ही नहीं, लोगों के धार्मिक विश्वास नैतिक आदर्श कानून, कला, साहित्य आदि भी उसी के द्वारा निर्धारित होते हैं और उसमें होनेवाले परिवर्तनों के साथ बदलते रहते हैं। प्रत्येक युग की सभ्यता एवं संस्कृति उस युग के प्रभावशाली आर्थिक वर्ग के हितों एवं विचारों का प्रतिबिम्ब ही होती है।

इतिहास का विश्लेषण कर मार्क्स ने आरंभ से अब तक के इतिहास को चार युगों में विभाजित किया है—आदिम साम्यवादी युग (Primitive Communism), दासत्व-युग (Age of Slavery) सामन्तवादी युग (Feudal age) तथा पूँजीवादी युग (Capitalistic age)।

आदिम साम्यवादी युग—मानव इतिहास के आरंभ में मनुष्य अपना निर्वाह जंगली कन्द मूल फल तथा आखेट द्वारा करता था उसे पशुपालन तथा खेती का ज्ञान नहीं था। फल फूल एकत्र करना और शिकार करना ही एक मात्र उत्पादन प्रणाली थी जिसमें एक व्यक्ति दिन भर के परिश्रम के

* Crossman Government and Governed p 212

निर्धारण करती हैं।'* 'सम्पत्ति के विविध रूपों के आधार पर, जीवन की सामाजिक अवस्थाओं के आधार पर नाना प्रकार के भावों, भ्रमों, विचार की आदतों और जीवन की धारणाओं का भवन खड़ा किया जाता है। इनका निर्माण एक सम्पूर्ण वर्ग अपने भौतिक आधार तथा तदनुरूप सामाजिक अवस्थाओं से करता है।† संक्षेप में, मार्क्स के विचार के अनुसार हमारी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक संस्थाएँ, हमारे विचार, आदर्श, विश्वास कानून, दर्शन, धर्म तथा समय-समय पर इनमें होनेवाले परिवर्तन जीवन की भौतिक अवस्थाओं अर्थात् उत्पादन के तरीकों में परिवर्तनों के परिणाम होते है, सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों अथवा भगवान् की इच्छा से उत्पन्न नही होते। उनके कारण उनके युग की आर्थिक व्यवस्था में पाये जाते हैं, उसके दर्शन में नहीं। इन सब का सम्बन्ध किसी युग में प्रचलित उत्पादन की प्रणाली से होता है। जब इस प्रणाली में परिवर्तन हो जाता है तो उसके साथ ही सामाजिक राजनीतिक तथा धार्मिक संस्थाओं में भी परिवर्तन हो जाते हैं। सामन्ती समाज की समस्त संस्थाएँ उसकी विशिष्ट लौकिक (Secular) एवं आर्थिक अवस्थाओं के अनुकूल बनाई गई थीं। जब सामन्तवाद का पतन हो गया और उसके स्थान पर राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हुई जिससे वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला तो नवीन आर्थिक सिद्धान्तों, सदाचार

---

* Legal relations as well as forms of state could not be understood by themselves nor explained by the so called general progress of the human mind but that they are rooted in the material conditions of life The mode of production in material life determines the general character of the social political and spiritual processes of life It is not the consciousness of men that determines their existence but on the contrary their social existence determines their consciousness (Marx)

† Upon the several forms of property upon the social conditions of existence a whole superstructure is reared of various and peculiarly shaped feelings illusions habits of thought and conceptions of life The whole class produces and shapes these out of its material foundation and out of the corresponding social conditions (Marx)

के नये आदर्शों, तथा नये कानूनों का निर्माण हुआ। राष्ट्रीय राज्य की नवीन भावना में भी आगे चल कर परिवर्तन हो गया क्योंकि अब उद्योग की अपेक्षा राजस्व पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। क्रॉसमेन ने इस सिद्धान्त का सक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है—'चर्खा, हल, मुद्रा, कारखाना पद्धति आदि में से प्रत्येक ने अपने आविष्कार द्वारा दीर्घ काल से प्रतिष्ठित लोकाचारों, नैतिक धार्मिक तथा राजनीतिक पद्धतियों को अस्त व्यस्त कर दिया। युद्ध विज्ञान, यातायात तथा सन्देश-वाहन, कृषि-उद्योग और राजस्व के विकास ने भी हमारी जीवन प्रणाली तथा विचार-प्रणाली में परिवर्तन कर दिया है। उत्पादन तथा वितरण की रीतियों में जो परिवर्तन हुए हैं वे इतिहास के द्वंद्व में प्रधान घटक हैं। व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों के सिद्धान्त तथा नरेशों की तरंग भी इन परिवर्तनों की गति दे सकती थी या शिथिल कर सकती थी परन्तु इस प्रक्रिया का नियन्त्रण करनेवाली उग्र आर्थिक शक्तियों के सामने गौण थी।*

सक्षेप में, मार्क्स का मत है कि मानव समाज के इतिहास में हम जो बड़े-बड़े परिवर्तन देखते हैं वे सब उत्पादन प्रणाली के परिवर्तनों के फल स्वरूप ही हुए हैं। समाज के सगठन और उसके विभिन्न वर्गों की रूप रेखा का निर्धारण उत्पादन प्रणाली ही करती है। सामाजिक संस्थाओं एवं वर्गों का ही नहीं, लोगों के धार्मिक विश्वास, नैतिक आदर्श, कानून, कला साहित्य आदि भी उसी के द्वारा निर्धारित होते हैं और उसमें होनेवाले परिवर्तनों के साथ बदलते रहते हैं। प्रत्येक युग की सभ्यता एवं संस्कृति उस युग के प्रभावशाली आर्थिक वर्ग के हितों एवं विचारों का प्रतिबिम्ब ही होती है।

इतिहास का विश्लेषण कर मार्क्स ने आरंभ से अब तक के इतिहास को चार युगों में विभाजित किया है—आदिम साम्यवादी युग (Primitive Communism), दासत्व युग (Age of Slavery), सामन्तवादी युग (Feudal age) तथा पूँजीवादी युग (Capitalistic age)।

आदिम साम्यवादी युग—मानव इतिहास के आरंभ में मनुष्य अपना निर्वाह जंगली कन्द मूल फल तथा आखेट द्वारा करता था उसे पशुपालन तथा खेती का ज्ञान नहीं था। फल फूल एकत्र करना और शिकार करना ही एक मात्र उत्पादन प्रणाली थी जिसमें एक व्यक्ति दिन भर के परिश्रम के

---

* Crossman Government and Governed, p 212

बाद केवल अपने निर्वाह योग्य आहार मात्र से अधिक एकत्र नहीं कर पाता था। किसी के पास कोई ऐसा साधन नहीं था जिसके द्वारा वह दूसरों पर अपना आधिपत्य जमा सकता या उनका शोषण कर सकता। लोग मिल जुल कर रहते, फल फूल एकत्र करते, शिकार करते और जो कुछ मिलता उसे आपस में बांट कर खा लेते। इस प्रकार यह आदिम व्यवस्था साम्यवादी थी। इसमें निजी सम्पत्ति नहीं थी और प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पर सबका समान अधिकार था।

दासत्व युग—बहुत सा समय बीत जाने के बाद मनुष्य की बुद्धि के विकास के साथ पशुपालन एवं कृषि का आविष्कार हुआ और उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन हुआ। इस प्रणाली में एक मनुष्य परिश्रम करके कई मनुष्यों का पेट पाल सकता है। जब लोगों को इस सम्भावना का ज्ञान हुआ तो प्रबल लोग निर्बलों को जबरदस्ती दास बना कर उनसे कृषि करवाने लगे और स्वयं आनन्द से रह कर अपना समय विद्योपार्जन, कलोपासना, राजनीति आदि में बिताने लगे। इस प्रकार आदिम साम्यवादी समाज का बदल कर नया रूप हो गया वह स्वतंत्र नागरिकों और दासों के दो वर्गों में बँट गया। ऐसी व्यवस्था प्राचीन यूनान और रोम के नगर राज्यों में थी।

सामान्तवादी युग—धीरे धीरे कृषि उत्पादन का मुख्य साधन बन गई, भूमि का महत्व बहुत बढ गया और सामन्तवादी युग का उदय हुआ। इस युग में समस्त भूमि राजा तथा उसके सामन्तों की होती थी। उत्पादन का कार्य कृषक करते थे जिनका भूमि पर कोई स्वत्व नहीं था, वे दास नहीं थे, पर पूर्ण रूप से स्वतंत्र भी नहीं थे। उनकी संज्ञा अर्ध दास (Serf) थी। इन लोगों को खेती के अतिरिक्त अपने स्वामियों की बेगार तथा नाना प्रकार की अन्य सेवाएँ भी करनी पड़ती थी। वे अपनी भूमि को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जा सकते थे और न कोई दूसरा कार्य ही कर सकते थे। यदि भूमि का स्वामी बदलता था तो उसके साथ इन लोगों का स्वामी भी बदल जाता था।

पूँजीवादी युग—सामन्ती युग के बाद चौथा वर्तमान पूँजीवादी युग आया जिसका वास्तविक आरम्भ औद्योगिक क्रांति के साथ हुआ। सामन्ती युग में अनेक प्रकार के हस्त शिल्पों का आविष्कार हो चुका था जिनके द्वारा नाना प्रकार की उपयोगी वस्तुओं का निर्माण होने लगा था। उत्पादन में वृद्धि होने के फलस्वरूप व्यापार आरम्भ हुआ और समाज में एक मध्य वर्ग का निर्माण हो गया जिसके पास सम्पत्ति थी और जो उस सम्पत्ति

का प्रयोग उपभोग की नाना प्रकार की वस्तुओं के निमाण तथा उनके क्रय विक्रय म करता था। इसके द्वारा उसकी सम्पत्ति मे वृद्धि होती थी जो पूँजी का रूप धारण करने लगी। धीरे धीरे मशीनो का आविष्कार हो गया जिससे उत्पादन की प्रणाली बिलकुल ही बदल गई। तब तक उद्योग छोट-छोट कुटीर उद्योग थे। परन्तु अब उनका स्थान बडे-बडे कारखानो ने ले लिया जिनमे बडे पमान पर उत्पादन होने लगा। बडे बडे कारखानो के लिय बड धन की आवश्यकता होती ह और पूँजीपति ही उन्हे स्थापित कर सकते ह। इन कारखानो ने छोट उद्योगो को समाप्त कर दिया और उनमे काम करनवाले स्वतत्र कारीगर इन कारखानो म मजदूरी करके पेट पालने के लिय विवश हो गये। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप समाज पूँजीपति तथा पूँजीहीन श्रमिको के दो वर्गो म विभक्त हो गया। इसका प्रभाव राजनीति पर भी पडा। सामन्तीयुग म तो सत्ता भूमिपतियो के हाथो म थी परन्तु अब पूँजीपतिवग अधिक प्रभावशाली हो गया और उसने प्रजातन्त्रीय सुधारो द्वारा सत्ता अपने हस्तगत करली।

मार्क्स का कथन था कि इन दानो वर्गों के हितो म विरोध होने के कारण वग सघष होगा जिसम श्रमजीवी वग विजयी होगा और राज्य की सत्ता अपने हाथ म लेकर उसके द्वारा वग भेद को मिटा कर एव वग विहीन एव राज्य विहीन समाज की स्थापना करके पुन साम्यवाद की प्रतिष्ठा करेगा।

(२) वग युद्ध—अपने इस सिद्धान्त के साथ कि सामाजिक विकास आर्थिक परिस्थितियो के कारण होता है मार्क्स ने वग-सघष (Class Struggle) का सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया। सामाजिक दर्शन म इसका महत्व कितना है यह इसी से जाना जा सकता ह कि उसकी राय मे वग-सघष का इतिहास ही मानव-जाति का इतिहास है।* मार्क्स की दृष्टि मे सामाजिक परिवतन की समस्त प्रक्रिया इसी सघष म होती है। समाज की एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर प्रगति उत्पादन प्रणाली के आधार पर सगठित समाज के दो मुख्य वर्गों के बीच सत्ता के लिय सघष द्वारा हुई है। इनम से एक वग थोडे से विशेषाधिकारयुक्त व्यक्तियो का वग रहा है जिसके हाथ मे उत्पादन के साधनो का स्वाम्य रहा है।

* The history of all hitherto existing society is the history of class struggles (Marx)

दूसरा वर्ग उन बहुसंख्यक श्रमजीवियों का रहा है जो अपने श्रम से कच्चे माल को (जो प्रथम वर्ग की सम्पत्ति होती है) तयार माल में परिणत करते हैं। इन दोनों वर्गों के हित सदैव एक दूसरे के विरोधी रहे हैं। पहला वर्ग—पूँजीपति वर्ग—अपने लाभ के लिये दूसरे वर्ग—मजदूरों—का शोषण करता है। मजदूर उस सम्पत्ति के बड़े अंश से वंचित कर दिये जाते हैं जिसका उत्पादन करने में वे सहायता करते हैं और उन्हें बाध्य होकर केवल जीवित रहने योग्य मजदूरी पर ही रहना पड़ता है। उत्पादन के साधनों के स्वामी समाज के केवल आर्थिक जीवन का ही नियन्त्रण नहीं करते वरन् सामाजिक, कानूनी और धार्मिक संस्थाओं को भी अपने स्वार्थों की पूर्ति के उपयुक्त बना लेते हैं। वे जिस व्यवस्था को जीवित रखते हैं उससे वे ही सर्वाधिक लाभ उठाते हैं। श्रमजीवियों के वर्ग पर उस सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ता है और वह उस बदलने का प्रयत्न करता है। इन दोनों वर्गों के बीच में सत्ता के लिये जो संघर्ष होता है उसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन होता है। भूमि के स्वामी सामन्ती सरदारों तथा मध्यम वर्ग में, जिसका सामन्ती समाज में ही पोषण हुआ था, होनेवाले संघर्ष ने ही सामन्तवाद का अन्त कर दिया। पूँजीपति वर्ग और क्रान्ति भावना से अनुप्रेरित सर्वहारा वर्ग (Proletariat) के बीच होनेवाला संघर्ष जिसका अस्तित्व वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था द्वारा हुआ है, पूँजीवाद के ढांचे को निश्चल करके अन्त में नष्ट कर देगा। "साम्यवादी घोषणा पत्र' में मार्क्स और एंगेल्स ने इस वर्गयुद्ध के सिद्धान्त का वर्तमान् समाज के समस्त नियमों को समझने की कुञ्जी के रूप में प्रयोग किया है। इस घोषणा पत्र में पूँजीपति वर्ग (Bourgeoisie) तथा सर्वहारा वर्ग (Proletariat) के बीच १९वीं सदी के संघर्ष का सर्वोत्तम वर्णन है। उसमें केवल इस संघर्ष का ही वर्णन नहीं है वरन् क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के लिये एक कार्य क्रम की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई है और उन्हें पूँजीवादी वर्ग पर अन्तिम विजय का भी आश्वासन दिया गया है। इस संघर्ष की मोटी रूप रेखा का, जिसका इस घोषणा पत्र में वर्णन है, यहाँ उल्लेख किया जायगा।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त—

इसके पहले हम पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के संघर्ष के मूल कारण पर विचार करना चाहिये। मार्क्स के अनुसार इस युग में संघर्ष का कारण अतिरिक्त मूल्य है जिसे पूँजीपति हड़प लेता है और जिसके द्वारा श्रमिक

का शोषण करता है। उस युग के अन्य अर्थशास्त्रियों की भांति मार्क्स का भी मत था कि मूल्य श्रम से उत्पन्न होता है। किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन के लिये आवश्यक सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम शक्ति पर निभर है। जिस वस्तु के उत्पादन म जितना अधिक सामाजिक दृष्टि से उपयोगी श्रम लगगा उतना ही अधिक उसका मूल्य होगा। किन्तु मूल्य की उत्पत्ति अकेले श्रम से ही नहीं हो सकती। उसके लिये कच्चा माल औजार आदि भी आवश्यक होते हैं। समष्टि रूप से इन सब वस्तुओं को पूँजी कहते है। मार्क्स का कथन है कि पूँजी श्रम से भिन्न नहीं है, वह केवल एकत्रित श्रम है। श्रम द्वारा उत्पन्न मूल्य में से जितना भाग बचा कर उत्पादन म लगा दिया जाता है वही पूँजी है। श्रम तो श्रमिक करता है परन्तु पूँजीपति श्रमिक को उसके श्रम का पूरा पुरस्कार न देकर उसके श्रम के बहुत से भाग द्वारा उत्पन्न मूल्य को स्वयं हड़प लेता है। इसी से पूँजी बनती है। यह सिद्धान्त मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) कहलाता है। इसके आधार पर उसने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) का निरूपण किया। पूँजीपति श्रमिक को उतना ही पारिश्रमिक देता है जितना उसकी जीविका मात्र के लिये पर्याप्त होता है अर्थात् जितने से श्रमिक जीवित मात्र रह सकता है (Subsistence Wage Theory)। परन्तु वह श्रमिक से उसके पारिश्रमिक के बदले उचित रूप म जितने समय तक काम लेना चाहिये उससे बहुत अधिक समय काम कराता है और उसके लिये श्रमिक को कुछ नहीं मिलता। इस अतिरिक्त समय म किये हुए श्रम से जो मूल्य उत्पन्न होता है वह अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) है जिसका अधिकारी तो श्रमिक है परन्तु जिसे पूँजीपति हड़प लेता है। इस प्रकार पूँजीपति श्रमिकों का शोषण करते हैं। इस शोषण के कारण श्रमिकों में असन्तोष होता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था का आन्तरिक विरोध (Inner contradiction) है जिसके द्वारा द्वन्द्वात्मक विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती है।

इस व्यवस्था म एक दूसरा आन्तरिक विरोध उत्पादन तथा वितरण की प्रणालियों म असंगति से उत्पन्न होता है। वास्तव मे उत्पादन की प्रक्रिया तो सामूहिक है जिसमें श्रमिक तथा समाज सभी भाग लेते हैं परन्तु वितरण की प्रक्रिया व्यक्तिवादी है, उत्पादन से उत्पन्न लाभ थोड़े से पूँजीपति ही प्राप्त करते हैं और सर्वसाधारण वर्ग का जीवन निर्वाह मात्र का या उसमें भी

कम मिलता है। इन आन्तरिक विरोधो के कारण समाज मे पूँजीपति और सवहारा वग के मध्य सघष होता है।

मावस ने साम्यवादी घोषणापत्र म बतलाया है कि वतमान युग म वग विरोध बहुत ही सरल हो गया है। हमारा समाज दो विशाल विरोधी वर्गों म विभक्त होता जा रहा है—पूँजीवादी वग तथा सवहारा वग। दोनो वग विकास की विविध अवस्थाओ म से गुजरते है। पूँजीपति वग उत्पादन के साधनो का विकास तथा बाजारो का विस्तार किये बिना जीवित नही रह सकता। पूँजीपतियो के उत्पादन के ढङ्ग का एक दूसरा लक्षण उसकी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति है। ज्यो ज्यो व्यवसाय अधिकाधिक बढता जाता है, त्यो-त्यो ऐसे व्यक्तियो की सख्या कम होती जाती है जो कारोबार मे काफी पूँजी लगा सके। इस प्रकार बडे पूँजीपति छोट पूँजीपतियो को नष्ट कर देते ह। इसका परिणाम यह होता है कि पूँजी थोडे स बडे पूजीपतियो के हाथो म एकत्रित हो जाती है। पूँजीपतियो का वग छोटा हो जाता है और छोट पूँजीपति सवसाधारण की कोटि म पहुँच जात हैं।

पूँजीवादी उत्पादन स्वय ऐसी *स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिनमे उसके* विनाश के बीज विद्यमान् होते हैं।* पूँजीवाद के गभ म उसके विनाश के बीज रहते है। उत्पादन के ढङ्ग म जो परिवतन होते है उनके कारण आगे चल कर उत्पादन मे लगे हुए विविध वर्गों के सम्बन्धो म परिवतन आवश्यक हो जाता है। उससे कभी-कभी अत्यधिक उत्पादन भी होता है, जो आधुनिक समाज का एक विशिष्ट लक्षण है। अत्यधिक उत्पादन की बुराइयाँ जनता की उपभोग शक्ति के उत्तरोत्तर क्षीण होते जाने से, जो पूँजीपतियो द्वारा श्रमिको के शोषण का अनिवाय परिणाम होता है, बढती जाती हैं। पूँजीवादी वग के लिये सबसे गम्भीर सकट सवहारा वग की ओर से पैदा होता है जिसका जन्म पूँजीवाद के विकास से होता है और जिसका विकास भी उसके साथ साथ होता चलता है। सर्वहारा वग समाज में अपनी निम्न और अधीन स्थिति से सन्तुष्ट नही रह सकता और वह लड कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। सवप्रथम सघष व्यक्तिगत

---

* Capitalist production begets with the inexorability of a law of nature its own negation (Marx)

पूँजीपतियों तथा व्यक्तिगत मजदूरों के बीच होता है। परन्तु शीघ्र ही यह संघर्ष दोनों वर्गों के संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। मजदूर अपना संगठन समुदायों के रूप में करने लगते हैं, जिन्हें मजदूर संघ (Trade Unions) कहते हैं और जिनका उद्देश्य मजदूरों के हितों की रक्षा तथा मजदूरों की अवस्थाओं में सुधार करने के लिये उद्योगपतियों को मजबूर करना होता है।

मजदूरों को अपने संगठन के कार्य में यातायात और संचार के साधनों से जिनकी वे अपने ही हित के लिये उत्तरोत्तर उन्नति करते रहते हैं, बड़ी सहायता मिलती है। इनके द्वारा देश के विभिन्न भागों में काम करनेवाले मजदूरों का सम्पर्क सरल हो जाता है। उनमें वर्गीय चेतना का विकास होता है और धीरे धीरे वे अपने एक राष्ट्रीय संगठन का निर्माण कर लेते हैं। इस प्रकार उनकी शक्ति निरन्तर बढ़ती रहती है।

क्रान्ति—पूँजीवाद का अनिवार्य विनाश—

सर्वहारा वर्ग की शक्ति में वृद्धि होने के कारण तथा पूँजीपतियों द्वारा उनके शोषण से निरन्तर बढ़ती जानेवाली उनकी गरीबी और दुर्दशा के कारण संघर्ष कटुतर होता जाता है और अन्त में क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है जो पहले राष्ट्रीय होती है और बाद में अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है। सर्वहारा वर्ग उठ खड़ा होता है, बलपूर्वक पूँजीपतियों का विनाश कर देता है और उत्पादन के समस्त साधनों पर अपना अधिकार कर लेता है।

सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र—

किन्तु पूँजीपति वर्ग बिना घोर विरोध के अपनी सत्ता का त्याग नहीं कर सकता। उसकी सहायता करने के लिये राज्य की समस्त शक्ति होती है और उसके दमन यन्त्र की सहायता से वह श्रमिकों को नष्ट करने का प्रयत्न करेगा। इसलिये पूँजीपतियों का दमन करने के लिये और क्रान्ति के परिणामों को स्थायी बनाने के लिये सर्वहारा वर्ग राज्य पर अर्थात् समस्त शासन तन्त्र पर अधिकार करके अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित कर लेगा।*

---

* In any and every serious revolution a long obstinate desperate resistance of the exploiters who for many years will yet enjoy great advantages of superior education discipline and military talent over the exploited, constitutes the rule Never will the exploiters submit to the decisions of the majority without making use of their advantages in a last desperate battle or in a series of battles (Lenin)

निजी पूँजी जब्त करली जायगी और उत्पादन के साधनो का राष्ट्रीयकरण कर लिया जायगा जिनका सचालन लाभ के लिये नही वरन् उपभोग की वस्तुएँ उत्पन्न करने के लिये किया जायगा। प्रत्येक व्यक्ति के लिये श्रम करना आवश्यक होगा और उसको श्रम के अनुसार पारिश्रमिक मिलेगा। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र धीरे धीरे एक ऐसे समाज का निर्माण कर देगा जिसमे सभी श्रम करनेवाले होगे और कोई भी बिना श्रम के भोजन प्राप्त नही कर सकेगा, अर्थात् एक वर्ग विहीन (Classless) समाज का निर्माण हो जायगा।

राज्य का शनैं शनैं लोप—

आरंभ मे और बाद मे भी दीर्घ काल तक सर्वहारा वर्ग के शासन को दमन का आश्रय लेना पडेगा क्योकि पूँजीपतियो की प्रतिक्रान्ति का डर बहुत समय तक बना रहेगा और सब लोगो को काम करने के लिये विवश करना पडेगा।* वर्ग विहीन समाज का निर्माण धीरे धीरे ही हो सकेगा परन्तु जब ऐसे समाज का निर्माण हो जायगा, सब लोग प्रसन्नतापूर्वक काम करने लगेगे और आवश्यकता की समस्त वस्तुऐं पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न होने लगेगी और किसी को किसी वस्तु की कमी नही रहेगी तब दमन की आवश्यकता नही रहेगी, राज्य, जो अपने स्वभाव से एक दमनकारी सस्था है, धीरे धीरे लुप्त हो जायगा और समाज वर्ग विहीन (classless) एव राज्य विहीन (Stateless) बन जायगा जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य भर काम करेगा और अपनी आवश्यकताओ के अनुसार प्राप्त करेगा।' और जिसमे सब के स्वतत्र विकास का आधार प्रत्येक का स्वतत्र विकास होगा।

समाजवाद तथा साम्यवाद—

क्रांति के उपरान्त, जैसा हम देख चुके है, सर्वहारा वर्ग अपना अधिनायक तन्त्र स्थापित करेगा और राज्य की समस्त शक्ति का प्रयोग करेगा। उसके अधिकाश काम राज्य की सत्ता द्वारा होगे। इसमे प्रत्येक व्यक्ति को सामर्थ्य भर काम करना पडेगा और उसके श्रम के अनुरूप उसे पारिश्रमिक मिलेगा। यह अवस्था जिसमे राज्य बना रहेगा समाजवाद की अवस्था

* The party which has triumphed in the revolution is necessarily compelled to maintain its rule by means of that fear with which its arms inspire the reactionaries (Engles)

होगी परन्तु जब राज्य की आवश्यकता नही रहेगी, सभी काम स्वेच्छापूर्ण सहयोग से होने लगेंगे और 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य भर काम करेगा और अपनी आवश्यकताओ के अनुसार पारिश्रमिक प्राप्त करेगा'* तो वह अवस्था साम्यवाद की होगी ।

साम्यवादी सिद्धान्त—

ऊपर हमने कार्ल मार्क्स के सामाजिक दर्शन तथा मार्क्स और उसके मित्र एव सहयोगी ऐंगेल्स द्वारा रचित 'साम्यवादी घोषणापत्र' की रूप-रेखा का चित्रण किया है। साम्यवाद इन्ही पर आधारित है। इनमे निहित मार्क्स की राज्य सम्बन्धी एक धारणा है जिसके अनुसार राज्य एक वर्गीय एव अस्थायी सस्था है तथा आवश्यक रूप से हिंसात्मक सस्था है। यह सिद्धान्त राज्य के उस परम्परागत सिद्धान्त के विपरीत है जिसका समर्थन प्रजातन्त्रवादी तथा आदर्शवादी करते है। परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक सहत समुदाय (Corporate group) है जिसमे विविध वर्ग सामान्य हित के लिये परस्पर सहयोग करते हैं। उसका अस्तित्व प्रत्येक नागरिक को ऐसे सुयोग प्रदान करने के लिये है जिससे उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास हो सके। यह एक ऐसा स्तर प्रदान करता है जिस पर मनुष्य बिना किसी भेदभाव के नागरिको के रूप मे मिल सकें और सर्वोच्च कल्याण की प्राप्ति करने मे एक दूसरे की सहायता कर सकें।

राज्य—एक वर्गीय सगठन—

साम्यवाद इस सिद्धान्त को बिल्कुल अस्वीकार कर देता है। उसके अनुसार राज्य कभी सहत समाज नही रहा, जिसका कार्य सामान्य हित की वृद्धि हो। राज्य तो सदैव से ऐसी सस्था रहा है और रहेगा जिसमें एक आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्गों पर आधिपत्य रखता है और उनका शोषण करता है। शासको का मुख्य और जान बूझ कर [illegible] लक्ष्य समाज का कल्याण कभी नही रहा। उन्होने राज्य-[illegible] अपने तथा अपने समर्थको के हितो की अभिवृद्धि के लिये [illegible] राज्य की समस्त सस्थाएँ इसी उद्देश्य से स्थापित [illegible] शासक अपनी सत्ताओ को कायम रख तथा [illegible]

* From each according to capacity, to each according to needs'

और शोषित एवं अत्याचार पीड़ित जनता के लिये उन्हें सत्ताविहीन करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाय। वर्तमान पूँजीवादी राज्य इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। उनकी समस्त संस्थाएँ एक ही उद्देश्य से संचालित हैं—उन विचारों तथा सिद्धान्तों का रक्षण जिनके आधार पर वर्तमान पूँजीवादी समाज खड़ा हुआ है अर्थात् व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता। पूँजीपति का अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर अधिकार कायम रहना चाहिये और उसका स्वतन्त्रता के साथ भोग कर सकने की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। कानून, पुलिस, मजिस्ट्रेट तथा देश का सशस्त्र बल भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये हैं। 'साधारणतया दण्ड विधान सम्पत्ति सम्बन्धी अपराधों के सम्बन्ध में व्यक्ति-सम्बन्धी अपराधों की अपेक्षा अधिक कठोर रहा है क्योंकि पूँजीवाद मानवों के हितों की अपेक्षा सम्पत्ति के हितों की रक्षा के लिये अधिक व्यग्र है।* जिस ढङ्ग से विदेशी शासन अपने विजित देशों में आधिपत्य कायम रखते हैं उससे भी यह सत्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है। इस प्रकार साम्यवादी यह मानते हैं कि राज्य एक वर्गीय संगठन है, वह एक विशुद्ध बल की संस्था है, वह समस्त समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करती और न सामान्य जन कल्याण के सम्पादन की चेष्टा ही करती है।

साम्यवाद उत्पादन एवं वितरण की वर्तमान् पद्धति में आमूल परिवर्तन करना चाहता है। वह उत्पादन के समस्त साधनों को मजदूरों के नियन्त्रण में लाना चाहता है जो अपने श्रम द्वारा कच्चे माल को उपभोग्य वस्तुओं में परिणत करते हैं और इस प्रकार सम्पत्ति के एकमात्र स्रोत हैं। मजदूरों के कल्याण का एक ही मार्ग है और वह यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश कर भूमि, पूँजी तथा उद्योगों का समाजीकरण कर दिया जाय। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक मजदूरों की दशा में सुधार नहीं हो सकेगा और वे जीवन संग्राम का अतिक्रमण नहीं कर सकेंगे। सर्वहारा लोग पूँजीवादी राज्य के शासन यन्त्र पर अधिकार जमा कर पार्लमेण्ट के बहुमत द्वारा समाजवाद के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकते। यह

---

* The Criminal law has been in general more severe upon offences against property than upon offences against the person because capitalism is more tender to the interests of property than to those of human life (Laski Communism p 127)

यन्त्र तो पूँजीवाद के पोषण के लिये ही ठीक है उससे विपरीत उद्देश्य के लिये उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। समाजवादी समाज की स्थापना के लिये वह व्यर्थ है। क्रान्तिकारी उद्देश्यों के लिये उसका प्रयोग नहीं हो सकता।

सर्वहारा वर्ग को पूँजीवादी राज्य का खात्मा करके उसके स्थान पर नये ढंग का सामाजिक संगठन स्थापित करना चाहिये जो समाजवाद की आवश्यकताओं के अनुकूल हो। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक वर्गीय चेतना-युक्त क्रान्तिवादी सर्वहारा वर्ग को दमनकारी राज्य के यन्त्र का प्रयोग करना होगा जिससे वह पूँजीपतियों को उनके उच्च स्थान से गिरा सके और उन्हें सम्पत्तिहीन कर सकें। संक्रमण काल में राज्य एक वर्गीय संगठन तथा सशस्त्र हिंसा की संस्था बना रहेगा जैसा वह अब तक रहा है। पूँजीवादी राज्य तथा इस संक्रमणकालीन राज्य में जो सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र होगा केवल इतना ही अन्तर होगा कि वह केवल सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करेगा, पूँजीपतियों का नहीं। राज्य का प्रयोग श्रमिकों के हितों की अभिवृद्धि के लिये किया जायगा, उसके विरोधियों के हितों के लिये नहीं। वह समस्त समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करता और न सामान्य जन-कल्याण की अभिवृद्धि के लिये ही प्रयत्न करता है। साम्यवादियों के लिये मजदूरों तथा पूँजीपतियों के सामान्य हितों जैसी कोई वस्तु नहीं है।

सर्वहारा राज्य का उद्देश्य पूँजीवादी राज्य के उद्देश्य से भिन्न है, अतः उसकी संस्थाएँ भी भिन्न होनी चाहिये। प्रत्यक्षतः उसमें ऐसी संस्थाओं के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता जो व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचारों पर आधारित हैं। उसकी शासन-समितियाँ मजदूरों का मजदूरों के रूप में उनके हितों के अनुसार संगठित समुदायों के रूप में प्रतिनिधित्व करती हैं सामान्य निवास के आधार पर संगठित व्यक्तिगत नागरिकों के रूप में नहीं। दूसरे शब्दों में, जहाँ उदार प्रजातन्त्र अपनी संस्थाओं का निर्माण व्यक्तियों के अधिकारों के आधार पर करता है, वहाँ साम्यवाद उनका आधार मजदूर वर्गों के सामूहिक अधिकारों पर रखता है। इस सिद्धान्त के आधार पर रूस में अनेक 'सोवियतों' का निर्माण किया गया। 'सोवियत' रूसी राज्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। साम्यवादी अधिनायकतन्त्र का एक दूसरा महत्वपूर्ण अङ्ग रूस की साम्यवादी पार्टी है। "वह एक सुसंगठित राजनीतिक संस्था है जिसमें ऐसे कर्मठ सदस्य हैं जिनको उनकी योग्यता तथा निष्ठा के कारण श्रमिकों द्वारा निर्वाचित सरकारी संस्थाओं के सामने प्रस्तुत

करन के लिय प्रस्ताव, योजनाएँ तथा नीतिया बनाने का भार निश्चि तता पूवक सौंपा जा सक्ता है।"*

राज्य—एक हिंसात्मक सस्था—

चूँकि सवहारा वग इस नय राज्य का पूँजीवादी वग के दमन तथा उसे सम्पत्तिहीन बनाने के लिये प्रयोग करेंगे अत यह स्पष्ट है कि वह दमनकारी तथा स्वेच्छाचारी होगा। जसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, उस अपनी सत्ता का प्रयोग पूँजीपतियो के दमन के लिये करना होगा जिसमे वे उस मजदूर वग के द्वारा किय गय निर्णयो को स्वीकार करें जिसका वे शताब्दियो से शोषण करत रह है। यह शासन न इस अथ मे प्रजातान्त्रिक हो सकता है कि वह समाज क सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है और न इस अथ मे स्वतन्त्र ही हा सक्ता है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिय कायम है। एंगल्स के निम्नलिखित कथन स यह सवथा स्पष्ट हा जायगा "चूँकि राज्य केवल अस्थायी सस्था है जिसका प्रयाग क्रान्ति मे विरोधियो के बलपूवक दमन के लिय किया जाता है, इसलिये स्वतन्त्र तथा लोकप्रिय राज्य की बात करना सवथा हास्यप्रद होगी। जब तक सवहारा वग को राज्य की आवश्यक्ता है, उसे उसकी आवश्यकता स्वतन्त्रता के हितो के लिये नही वरन् विरोधियो का दमन करन के लिय है, और जब स्वतन्त्रता की बात करना सम्भव हो जाता है, तब राज्य का अस्तित्व ही नही रह जाता। †

राज्य एक अस्थायी सस्था है—

उक्त अवतरण म एंगेल्स ने राज्य को 'अस्थायी' सस्था कहा है। उसने

---

*A compact political body composed of those who by virtue of their superior competence and devotion can be easily entrusted with the task of framing and discussing proposals for submission to the official bodies chosen by the rank and file wokers (Coker Recent Political Thought p 169)

† Since the state is only a temporary institution which is to be made ue of in the revolution in order forcibly to suppress the opponents it is perfectly absurd to talk about a free popu lar state so that as the proletariat needs the state it needs it not in the interess of freedom but in order to suppress its oppo- nents and when it becomes possible to speak of freedom the state as such ceases to exist (Engels)

उस समय की ओर भी संकेत किया है कि राज्य का अन्त हो जायगा। इस भाषा का प्रयोग राज्य के सम्बन्ध में साम्यवादी सिद्धान्त की एक दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। वह राज्य को एक स्थायी सामाजिक संगठन का रूप नहीं मानता और न उसे सर्वोच्च तथा सब प्रकार से पूर्ण सामाजिक संगठन ही मानता है जैसा आदर्शवादी मानते हैं। साम्यवादी एक ऐसे समय की कल्पना करते हैं जब समाज राज्य-विहीन (Stateless) हो जायगा और वे हर प्रकार से ऐसे समाज की स्थापना के लिये प्रयत्न करते हैं। उनके दृष्टिकोण का समझना सरल है। उनके अनुसार राज्य सारतः एक ऐसा संगठन है जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे वर्ग का अपने स्वार्थ के लिये शोषण करता है। पूँजीपतियों पर सर्वहारा वर्ग की विजय हो जाने के उपरान्त उसके (राज्य के) अस्तित्व के लिये कोई आधार ही नहीं रह जाता, उस समय राज्य का क्षय हो जायगा। साम्यवादियों का आदर्श एक वर्गविहीन समाज है। उसमें वर्गों का स्थान स्वेच्छापूर्वक निर्मित समुदाय ले लेंगे। ऐसे समाज में राज्य की दमनकारी सत्ता के लिये कोई स्थान नहीं होगा उसमें पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। राज्यविहीन तथा वर्गविहीन समाज के सम्बन्ध में "अराजकतावाद" पर विचार करते समय विशेष रूप में विचार किया जायगा। जैसा हम आगे देखेंगे यह आदर्श फैसिज़म के आदर्श से सर्वथा भिन्न है। राज्य का साम्यवादी सिद्धान्त फैसिस्ट सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि साम्यवादी रूस में राज्य के क्षय होने के कोई लक्षण नहीं देख पड़ते। शायद क्षय होने की प्रक्रिया बड़ी लम्बी होती है, उसके लिये कोई अवधि नियत नहीं की जा सकती। राज्य का विनाश एक पल भर में नहीं हो सकता।

साम्यवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन

साम्यवाद द्वारा एक सर्वोपरि सामाजिक [illegible] राज्य के निषेध का उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति से [illegible] रखना चाहिये कि साम्यवाद वास्तव में एक [illegible] आन्दोलन है। उसकी कोई राष्ट्रीय सीमाएँ नहीं हैं। [illegible] पार्टी अपने आप को दूसरे देश की साम्यवादी [illegible] समझती है। अभी तक सभी राष्ट्रीय [illegible] (Communist International[1] [illegible] को मानने के लिये वचनबद्ध [illegible]

निम्न प्रकार हैं "सर्वहारा वर्ग को अपने बन्धन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खोना हैं वरन् उस विश्व को विजय करना है। सब संसार के मजदूरो, परस्पर मिल जाओ।"* इन शब्दों ने इस आन्दोलन को अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे दिया है। एक सच्चे साम्यवादी की अपने राज्य की अपेक्षा अपने दल के प्रति अधिक भक्ति होती है, उसका सर्वप्रथम कर्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रति है, उस देश के प्रति नहीं जहाँ उसका आवास है। इस दृष्टि से भी साम्यवादी दृष्टिकोण फासिस्ट दृष्टिकोण से, जो उग्र रूप से राष्ट्रीय है, सर्वथा भिन्न है। यहाँ यह ध्यान रखना उचित है कि सोवियत रूस अब राष्ट्रीय आदर्श की ओर झुकता जाता है। ऐसा भी सुना गया था कि कई देशों की साम्यवादी पार्टियों ने कॉमिण्टन की अधीनता को अस्वीकार कर दिया था। द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में कॉमिण्टन को भङ्ग कर दिया गया था। बाद में 'कॉमिनफोर्म' (Commin form) के नाम से उसका पुनर्जन्म हुआ परन्तु हाल ही में उसको भी भंग कर दिया गया है।

मूल्यांकन—

उन्नीसवीं शताब्दी के चिंतकों में मार्क्स का बड़ा ऊँचा स्थान है। उससे पहले भी अनेक प्रकार के समाजवादी हुए थे जिन्होंने सामाजिक बुराइयों की ओर लक्ष्य किया उनकी आलोचना की और उनके निराकरण के लिये बहुत से प्रस्ताव एवं योजनाएँ भी प्रस्तुत कीं जिनमें उन्होंने सामाजिक असमगतियों को अलग कर न्याय, सदाचार, समानता आदि गुणों के आधार पर एक आदर्श समाज की कल्पना की थी परन्तु वे इन बुराइयों के मूल कारण को न समझ सके और न समाज की संचालक शक्ति को ही समझ सके। उन्होंने ऐतिहासिक शक्तियों को समझने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया। इस प्रकार उनके विचारों एवं योजनाओं का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था और वे व्यावहारिक रूप ग्रहण नहीं कर सके। मार्क्स ने इन सब त्रुटियों को देखा समझा और समाजवाद का एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादन किया। लास्की का कथन है कि 'हम चाहे किसी पहलू से देखें, मार्क्स का कार्य सामाजिक दर्शन के इतिहास में युगान्तरकारी कार्य है। उसकी सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने साम्यवाद को

* The proletarians have nothing to lose but their chains They have a world to win Working men of all countries unite

अस्त व्यस्त दशा मे पाया परन्तु उसे एक निश्चित आन्दोलन का रूप दे दिया। मार्क्स से उसे एक दर्शन और एक दिशा प्राप्त हुई। उसी के द्वारा वह ससार के समस्त देशों के श्रमिकों के हितों की एकता पर निरन्तर जोर देनेवाला एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन बन सका।'*

आलोचना—

यद्यपि मार्क्स ने समाजवाद को वैज्ञानिक रूप दिया और उसके द्वारा निरूपित समाजवाद 'वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) के नाम से प्रसिद्ध है तथापि उसमे अनेक त्रुटियाँ है और वह वास्तव मे पूर्ण रूप मे वैज्ञानिक भी नही है।

(१) उसका दर्शन भौतिकवादी है परन्तु अनेक विचारक भौतिकवाद को उसी प्रकार अग्राह्य मानते है जैसे मार्क्स आत्मवाद को अग्राह्य मानता है। मार्क्स यथार्थवादी है। चूँकि आत्मा अगोचर है, हम उसे न देख सकते हैं न छू सकते है, इस कारण मार्क्स उसे अवास्तविक और भ्रम मात्र मानता है। उसकी दृष्टि मे केवल पदार्थ ही वास्तविक तत्व है और सब कुछ उसी से निर्मित होता है। हमारी चेतना शक्ति, हमारा आत्मा जिसे हम 'मैं' कह कर पुकारते है वह सब बडे पदार्थों के पारस्परिक सयोगो और रूपान्तरो मे ही निर्मित होता है यह बात समझ मे नही आती। चेतन वस्तु जड वस्तु का सचालन करे यह बात तो समझ मे आती है परन्तु जड वस्तु चेतन का सचालन करे इस बात को हमारी बुद्धि ग्रहण नही करती।

(२) मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या भी दोषपूर्ण है। उसका ऐतिहासिक अध्ययन पक्षपातपूर्ण है और उसने उन शताब्दियो के इतिहास की उपेक्षा की है जो उसकी व्याख्या मे ठीक नही बैठती थी। वेपर ने कहा है 'मार्क्स की गभीर ऐतिहासिक त्रुटियो की ओर से हम आख बन्द नही कर सकते। इतिहास के चार मुख्य युगो मे विभाजन का कोई

* From whatever aspect it be regarded the work of Karl Marx is an epoch in the History of social philosophy The vital fact about him at he found communism a chaos and left it a movement Through him it acquired a philosophy and a direction Through him also it became an international organization laying continuous emphasis upon the unified interest of the working classes of all countries' (Laski Communism, p 22)

औचित्य नहीं है। परन्तु चूँकि द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के लिये यह आवश्यक है इसलिये उसने अपनी इच्छा से ऐसा कर लिया है और जो शताब्दियाँ इस विभाजन में ठीक नहीं बैठतीं उन्हें भुला दिया है।* आधुनिक मानव शास्त्र (Anthropology) के अनुसार उसका आदिम साम्यवाद का वर्णन अशुद्ध है, परन्तु इसके लिये उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि यह ज्ञान उसकी मृत्यु के बाद प्राप्त हुआ है। परन्तु प्राचीन समाज का जो चित्र उसने खींचा है उसके लिये उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। एण्टोनाइन के युग के महान कार्य तो उसके समय में अच्छी तरह से ज्ञात थे। उस युग के बारे में यह कहना कि ईसाई धर्म दलित सर्वहारा वर्ग की विपन्न आशाओं की अभिव्यक्ति था निरर्थक है। ऐसे युग के नीचे धरातल से ऊँचे 'सामन्तशाही' धरातल की ओर गति की बात करना तो और भी अधिक निरर्थक है जो एक काल्पनिक द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त में ठीक बैठाने के लिये ही की गई है। एक्टन ने चेतावनी दी है कि इतिहास का जो दर्शन केवल सौ वर्ष के अनुभव पर ही आधारित हो और पिछले एक हजार वर्ष के अनुभव की उपेक्षा करता हो सन्तोषप्रद नहीं हो सकता।† मार्क्स ने इस बात पर कभी ध्यान नहीं दिया कि पूँजीवाद का विकास पश्चिमी योरोप में ही क्यों हुआ। यदि भौतिक तत्वों द्वारा इतिहास निर्धारित होता है तो संसार में सर्वत्र सभी सभ्यताओं में पूँजीवाद का विकास होना चाहिये था। अन्य सभ्यताओं में यह बात नहीं हुई इससे यह प्रकट होता है कि यद्यपि जिन भौतिक तत्वों पर मार्क्स ने जोर दिया है वे महत्वपूर्ण हैं तथापि हम मानव विकास को प्रभावित करनेवाली अन्य बातों की उपेक्षा नहीं कर सकते।

सामाजिक संस्थाओं के प्रति हमारे विचारों तथा हमारी मनोवृत्तियों में परिवर्तन हमारे भौतिक वातावरण की वास्तविक आवश्यकताओं द्वारा

---

* There is no justification for his division of history into four main periods The dialectic seems to demand it and therefore it is arbitrarily done centuries difficult to fit into the division being conveniently forgotten in the process (Wayper Political Thought, pp 215 216)

† A philosophy of history which is based on the experience of a hundred years and neglects the teaching of the previous thousand would not, Acton warns us, be very satisfactory (Ibid p 216)

निर्धारित होता है अमूर्त विचारो द्वारा नही ,* यह बात ठीक है और कुछ उदाहरणो से स्पष्ट हो सकती है। यह कहा जाता है कि इङ्गलण्ड मे जिस कारण महिलाओ को राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा मताधिकार प्राप्त हुआ, वह उनकी माग के औचित्य अथवा उसकी माग की योग्यता के कारण नही (क्योकि मिल जैसे प्रभावशाली लेखको ने उनकी योग्यता पर बहुत पहले बडा जोर दिया था) वरन् उनके एक बडी सख्या मे औद्योगिक जीवन मे प्रवेश हो जाने के कारण मिला था। इसी प्रकार इङ्गलैण्ड मे धार्मिक सहिष्णुता को जो मान्यता दी गई वह उसकी नैतिक तथा बौद्धिक उपयुक्तता के तर्क के कारण नही थी , वास्तविक कारण तो यह था कि उस समय यह बात समझ मे आ गई थी कि धार्मिक अत्याचारो के रहते वाणिज्य-व्यापार मे उन्नति नही हो सकती। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि अमरिका के सयुक्त राज्य मे दासत्व का अन्त मानववादी भावना की विजय के कारण नही, आर्थिक कारणो से हुआ था। अपने ही युग तथा देश के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि समय समय पर ब्रिटिश सरकार ने जो शासन सुधार किये वे भारतीयो को वास्तव मे स्वराज्य पथ पर अग्रसर करने के लिये नही वरन् इसलिये किये गये थे कि सन्तुष्ट भारत ब्रिटेन का तयार माल अधिक खरीदेगा।

यदि इस सिद्धान्त का यह अर्थ निकाला जाय कि आर्थिक तथ्य सामाजिक परिवर्तन के महत्वपूर्ण कारण है तो वह अखण्डनीय है। यह वास्तव मे सत्य है कि देश मे प्रचलित आर्थिक व्यवस्था एक बडी सीमा तक उसकी सामाजिक, कानूनी एव राजनीतिक सस्थाओ पर प्रभाव डालती है। जलवायु का प्रभाव, मिट्टी, देश की भौगोलिक अवस्था आदि का प्रभाव किसी भी देश की राजनीतिक अवस्था पर पडता है। इस बात पर अरस्तू के समय से आज पर्यन्त राजनीतिक लेखक लिखते आ रहे है। परन्तु यह मानना बडी ज्यादती होगी कि परिवर्तन केवल इन बातो के कारण ही होते है और कानून, सदाचार धर्म आदि जो समाज के सास्कृतिक जीवन तथा उसकी सस्थाओ, का निर्माण करते हैं वे समाज के आधार भूत आर्थिक ढाँचे के ही प्रतिफल है। मानवीय कार्य इतने सरल नही हैं कि उनकी व्याख्या किसी एक प्रयोजन द्वारा ही की जा सके। उन पर मानवो के स्वच्छेच्छुर विचारो, मनोविकारो, तथा सामाजिक वातावरण का भी प्रभाव पडता है। जैसा कि रसल ने कहा

---

* Crossman Government and Governed p 212

है, 'हमारे राजनीतिक जीवन की बडी घटनाएं भौतिक अवस्थाओं तथा मानवीय मनोभावों के घात प्रतिघात द्वारा निर्धारित होती है।' राज प्रासादों में होनेवाले षडयन्त्र प्रपंच व्यक्तिगत राग द्वेष तथा धार्मिक विरोध ने अतीत काल में इतिहास के क्रम में बडे बडे परिवर्तन किये हैं। इतिहास के निर्माण में अन्य आर्थिक कारणों को भी उचित स्थान देना चाहिये। इस स्वीकृति का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या सर्वथा गलत है। साधारणतया वह सही है परन्तु उसे आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं देना चाहिये।

(३) वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त भी साधारणतया इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त की भांति सत्य है। इतिहास में शायद ही ऐसे कोई उदाहरण मिलते हों कि समाज के शोषित वर्ग की ओर से संघर्ष हुए बिना ही शासक वर्ग ने अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया हो। जो कुछ भी अधिकार शोषित वर्ग ने प्राप्त किये हैं वे कठिन संघर्ष के फलस्वरूप ही किये हैं। इस कारण हम इस सिद्धान्त की आलोचना उसकी साधारण रूपरेखा की जगह संघर्ष की विभिन्न मंजिलों के, जिनका उसमें वर्णन है और जो भविष्यवाणियां उसमें की गई हैं उनके आधार पर करेंगे।

मार्क्स तथा ऐंगेल्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूंजीवादी उत्पादन की विधि से धीरे धीरे व्यवसायों का रूप विशाल हो जायगा और अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट तथा कार्टेल (Cartel) बन जायगे तथा इस प्रकार पूंजी उत्तरोत्तर थोडे से व्यक्तियों के पास संचित होती जायगी। इस सिद्धान्त के विरोधी लोगों का कहना है कि यद्यपि इस भविष्यवाणी का प्रथम भाग तो सिद्ध हो चुका है क्योंकि आजकल बडे विशाल औद्योगिक एवं व्यापारिक संगठन बन गये हैं तथापि पूंजी थोडे व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित नहीं हो रही है। बडे पूंजीपतियों के साथ-साथ छोटे पूंजीपति भी बने हुए हैं मध्यम वर्ग का अन्त नहीं हो रहा है और सर्वहारा वर्ग में इस मध्यम वर्ग के लोगों के शामिल होने से वृद्धि नहीं हो रही है जैसा कि घोषणा-पत्र में उल्लेख है। आधुनिक काल के मध्यम वर्ग का सर्वहारा वर्ग की अपेक्षा पूंजीवादी वर्ग के प्रति अधिक मैत्री भाव है। इस प्रकार घोषणा-पत्र में वर्गयुद्ध के विकास की एक बात के सत्य के सम्बन्ध में सन्देह किया जा सकता है।

दूसरे अनेक आलोचक कहते हैं कि पूंजीवाद के विकास के साथ मजदूरों की अवस्था अधिक दुखदायी नहीं होती जा रही है। पूंजीपतियों की बढ़ती

हुई समृद्धि मे मजदरो को भी कुछ भाग मिल रहा है। मजदूर वग के भौतिक कल्याण मे जो सुधार घोषणा पत्र के प्रकाशित होने के बाद देख पडता था वह आज पयन्त जारी है। इससे मजदूरो के अधिक समृद्ध वग मे जैसे क्लर्को, सरकारी कमचारियो और अध्यापको आदि म क्रान्तिकारी वर्गीय चेतना के विकास मे बाधा पडी है। इस वग का वतमान सामाजिक व्यवस्था के साथ, जिससे उसका भाग्य जुडा हुआ है, मैत्री भाव है। इस प्रकार एक दूसरी महत्वपूर्ण दिशा म भी घोषणा पत्र की भविष्यवाणियो की सत्यता सिद्ध नही हुई है।

तीसरे, इस मान्यता के विरुद्ध भी गम्भीर आक्षेप किया जाता है कि अन्त म मजदूर वग की पूँजीवादी वग पर विजय होगी और सवहारा वग की अधिनायकशाही कायम हो जायगी। यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि मजदूरो तथा पूँजीपतियो म बीच वग युद्ध बढेगा और पूँजीवादी वग का पतन हो जायगा, तो भी यह आवश्यक नही है कि सत्ता औद्योगिक मजदूरो के हाथ म ही पहुँचे, फैसिस्ट अधिनायकशाही जैसे अन्य विकल्प भी तो हैं। इसके मानने के लिये भी कोई आधार नही है कि समस्त देशो म वग-युद्ध के एक से परिणाम ही होगे। जो कुछ रूस म सम्भव हुआ वह इङ्गलण्ड या फ्रास म सम्भव नही हो सकता। फसिज्म तथा नात्सीवाद या जमन माक्स तथा एगेल्स की शिक्षा के विरुद्ध हुआ है। साम्यवाद की विजय उतनी निश्चित नही है जितनी माक्स तथा उनके साथी सोचते थे।

इस प्रकार यद्यपि मार्क्स तथा एगेल्स के वग सघप के सिद्धान्त के सामान्य सत्य को तो स्वीकार किया जा सकता है परन्तु उन्होने सवहारा वग के अधिनायकतन्त्र के सम्बन्ध म जो भविष्यवाणी की है उसे स्वीकार नही किया जा सकता। ऐतिहासिक विकास म इस कथन की सत्यता प्रमाणित नही होती।

(४) इन सब बातो के मूल म जो राज्य-सम्बन्धी धारणा काम कर रही है कि राज्य एक वर्गीय एव हिंसात्मक सस्था है और पूँजीपतियो के हितो का सम्पादन तथा श्रमिको का शोषण ही उसका उद्देश्य है उसे स्वीकार नही किया जा सकता। वतमान राज्यो के सम्बन्ध म यह बात चाहे कितनी ही सत्य क्यो न हो और उसने उनके दोषो तथा त्रुटियो की ओर ध्यान आकर्षित करने म चाहे कितनी ही बडी सेवा क्यो न की हो किन्तु वास्तव म कोई भी राज्य शोषण के सिद्धान्त पर आधारित नही रह सकता। किसी भी समाज

मे सामान्यतया विशिष्ट हित सामान्य हित एवं समुचित नीति द्वारा मर्यादित होते हैं नही तो समाज शीघ्र ही विघटित हो जायगा। समाज केवल संघर्ष पर आधारित नहीं हो सकता सहयोग की भावना उतनी ही स्वाभाविक है जितना संघर्ष। समाज तभी टिक सकता है जब हम यह मान कर चल कि विभिन्न वर्गों में विरोध होते हुए भी उनके सामान्य हित भी हैं। स्वयं रूस में शासन को यह स्वीकार करना पड़ा है कि कारखानों के मजदूरों तथा कृषकों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं, हालांकि यह स्पष्ट है कि कृषि की उपज तथा कारखानों की उपज के सापेक्ष मूल्यों को देखते हुए एक का लाभ दूसरे की हानि है। 'यह सिद्धान्त कि राज्य केवल शोषण के एजेण्ट हैं एक क्रांतिकारी अल्पमत का प्रचार मात्र है। यह ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिस पर कोई भी शासन कार्य कर सकता हो।'* वास्तव में राज्य का वही प्रतिष्ठित (Classical) सिद्धान्त समुचित है जिसके अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है, जिसका लक्ष्य नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास है। वह इच्छा पर कायम है, बल पर नही। साम्यवादी विचार दूषित एवं विकृत राज्यो के सम्बन्ध में ही सत्य है।

(५) यदि हम यह स्वीकार भी करलें कि आजकल का राज्य पूंजीवादी वर्ग के पक्ष में अधिक है और मजदूर वर्ग के प्रति अत्याचारी एवं दमनकारी है तथा उसमें सुधार की आवश्यकता है तो भी उन दोषों को दूर करने तथा उसमें परिवर्तन करने के जो उपाय साम्यवादी बतलाते हैं उनके औचित्य पर सन्देह है। इसमें सन्देह है कि हिंसात्मक आन्दोलन तथा तीव्र वर्गीय संघर्ष, जिसकी क्रान्तिकारी साम्यवादी कल्पना करते हैं, आदर्श समाज की स्थापना कर सकेंगे। हिंसा की बार बार चर्चा, उसके प्रोत्साहन तथा उसके प्रयोग से मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे एक न्यायपूर्ण सुव्यवस्थित तथा शान्तिमय समाज की स्थापना असम्भव हो जायगी। गत दोनों महायुद्धों के बाद मित्र राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की अभिवृद्धि के प्रयत्नों की असफलता से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। क्रान्तियों के द्वारा उनके प्रारम्भिक उद्देश्यों की प्राप्ति में कभी कभी ही सफलता मिलती

---

* The theory that states are merely agents of exploitation is essentially the propaganda of a revolutionary minority it is not a theory upon which any government in power can operate (Sabine A History of Political Theory p 653)

है। व समाज को एक अस्तव्यस्त स्थिति मे छोड देती है और कोई [illegible] नहीं कह सकता कि उस स्थिति मे कसे समाज का जन्म होगा। प्राय [illegible] से जिस समाज का जन्म होता है उसका रूप उससे भिन्न [illegible] हम आशा करते है। क्राति की सफलता के बाद जिन [illegible] सत्ता होती है व आवश्यक रूप से क्रान्ति के [illegible] उनकी अपेक्षा कम आदर्शवादी तथा अधिक स्वार्थी [illegible] होते है। मोर्ले ने लिखा है कि 'क्रातिकारी नेता [illegible] है। वह यह नही जानता कि उसका माग [illegible] इसकी सम्भावना नही है कि साम्यवादियो [illegible] पहुँचा देगे।

इस सम्बन्ध म यह भी स्मरण रखना चाहिए [illegible] क्रातिकारी विप्लव उतना आसान नहीं है [illegible] (Paris Commune) के समय मे था। [illegible] विरुद्ध सफलता के सुयोग प्राप्त नहीं [illegible] सैन्य बल का समर्थन प्राप्त है।

(६) इसके साथ एक दूसरी [illegible] यह कल्पना है कि पूँजीवादी द[illegible] साम्यवादी दल सत्ता का परित्याग [illegible] समाज की स्थापना हो जायगी। [illegible] जिससे इस त्याग की सम्भावना [illegible] मे सत्ता आ जाती है [illegible] उनम उसकी सामर्थ्य होता है। [illegible] साम्यवादी दल ऐसा [illegible] शासन बल प्रयोग [illegible] समाज की स्थापना का [illegible] हो। जितना ही [illegible] पुष्ट होती जाती है [illegible] दे सकती जिसकी [illegible] धात्री नही ग सकी।

(७) [illegible] समाज की [illegible] भी है। वर्गीय [illegible]

समाज नहीं है जिसमें उनका विकास न हुआ हो। राज्य भी मानव प्रगति की एक अनिवार्य शर्त है। सभ्यता, संस्कृति, कला, दर्शन, धर्म, संक्षेप में, वे सभी तत्व जो मानव जीवन को श्रेष्ठतम एवं सुन्दर बनाते हैं राज्य की छत्रछाया में ही उपलब्ध हो सकते हैं। साम्यवादी आदर्श मानव-जाति के बहुमत को आकर्षक प्रतीत नहीं होता और असम्भव ही मालूम होता है। स्वयं लेनिन ने इस आदर्श की प्राप्ति को संदिग्ध माना है। वह सोचता था कि शायद इस ध्येय की प्राप्ति कभी न हो सके, कम से कम बहुजन की वर्तमान विचारहीन अवस्था में, हम उसकी प्राप्ति की निश्चयात्मक रूप में कल्पना नहीं कर सकते।*

फैसिज्म के साथ तुलना

साम्यवाद और फैसिज्म की रीतियों (पद्धतियों) में अनेक समानताएँ हैं तथापि वे दोनों अपने आदर्शों में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। अनेक मामलों में उनके शासन की रीतियाँ समान हैं, यद्यपि उनके उद्देश्य विभिन्न हैं। साम्यवादियों तथा फैसिस्टों दोनों ने हिंसा द्वारा सत्ता हस्तगत की और दोनों ने एक ही प्रकार का शासन अर्थात् सर्वसत्तावादी शासन स्थापित किया। इटली तथा रूस दोनों ही देशों में एक दल जनता के नाम पर अधिनायकीय सत्ता का प्रयोग करता है और प्रचार, हिंसा तथा आतङ्कवाद द्वारा जनता पर अपनी एक रूप विचारधारा थोपता है।† दोनों समाचार पत्र, स्कूल आदि प्रचार के साधनों पर अपना एकाधिकार रखते हैं और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन करते हैं। दोनों ही स्वतन्त्र विचार विनिमय से भयभीत रहते हैं और आलोचना को सहन नहीं कर सकते। दोनों में से कोई भी अपने विरोधी दल को कायम नहीं रहने देता। दोनों ही संसद प्रजातन्त्र तथा संसद संस्थाओं का उपहास करते हैं। दोनों के नेता बहुत ही वीर, पराक्रमी साहसी, चतुर और लोक भावना से पूर्ण रहे हैं जिनका उद्देश्य अपने अपने राष्ट्र को क्षयग्रस्त एवं मरणासन्न शासनों के अत्याचारों से रक्षा करना था। प्रथम

---

* Lenin retained the Utopian capstone of the Marxian system but a realist to the end he was careful to point out that the end may never be realized and, the unthinking population being what it is cannot now be definitely imagined (Sabine A History of Political Theory p 698)

† इटली में अब फैसिस्ट शासन नहीं रहा और अब यह स्थिति नहीं है। रूस में अभी भी यही दशा है।

विश्व युद्धोपरान्त उनके देशों में जो अव्यवस्था फैली उसमें उन्होंने पूरा पूरा लाभ उठाया। अल्पमत नामता के रूप में उन्होंने सत्ता प्राप्त की और अपने विरोधी दलों के विनाश के लिये कठोर उपायों का प्रयोग किया। इन दोनों ने अपने अपने राष्ट्रों के नवयुवकों में अपने अपने सिद्धान्तों के संस्कार डालने के लिये बड़ी जबरदस्त युवक-संस्थाएँ स्थापित की है। यद्यपि फैसिज्म के आर्थिक सिद्धान्त पूर्ण रूप से साम्यवाद के आर्थिक सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं, तो भी फैसिस्ट दृष्टिकोण में व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में जो परिवर्तन हुआ है (यह बात नात्सीवाद के सम्बन्ध में भी सत्य है) उनसे यह साम्यवादी व्यवहार के निकट पहुँच गया है।

इन समानताओं के होने पर भी दोनों पद्धतियाँ सर्वथा भिन्न हैं। साम्यवादी एक वर्ग के रूप में पूँजीपतियों का अन्त कर देना चाहता है और एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था का स्वप्न देखता है जिसमें मजदूर तथा मालिक का भेदभाव नहीं रहेगा किन्तु एक फैसिस्ट मजदूर वर्ग तथा मालिक वर्ग दोनों के अस्तित्व को आवश्यक मानता है और उनकी रक्षा करना चाहता है। उसे पूँजीपतियों तथा मजदूरों के हितों में कोई सनातन विरोध नहीं दिखाई देता और वह इन दोनों के सम्बन्धों को सामंजस्यपूर्ण बना कर राष्ट्रीय ध्येय की सिद्धि चाहता है। इससे दोनों सिद्धान्तों के अनुयायियों में जो कटुता है उसका और द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले पश्चिम के प्रजातन्त्रीय राष्ट्रों की साम्यवाद की अपेक्षा फैसिज्म के साथ समझौता करने के लिये जो तत्परता दिखाई देती थी उसका कारण मालूम हो जाता है।* वे यह मानते हैं कि वर्तमान सभ्यता को फैसिज्म की अपेक्षा

---

* द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ में इङ्गलण्ड बहुत समय तक जर्मनी से बात चीत करता रहा और उसने साम्यवादी रूस के साथ मित्रता करने की कोई इच्छा प्रकट नहीं की। बाद में इङ्गलण्ड तथा रूस में जो मित्रता हुई वह केवल सामयिक आवश्यकताओं के कारण थी। शत्रु का शत्रु मित्र होता है। युद्ध की समाप्ति के बाद से जो कुछ अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में हो रहा है उससे भी हमारा विचार सत्य प्रकट हो रहा है। योरोप में रूस के विरुद्ध मोर्चाबन्दी का मजबूत करने के लिये अब स्पेन को भी जिसे फैसिस्ट कहकर अभी तक बहिष्कार हो रहा था, पश्चिमी प्रजातन्त्र संयुक्त राष्ट्र में शामिल करने जा रहे हैं।

साम्यवाद से अधिक खतरा है। साम्यवाद वर्तमान सामाजिक आर्थिक राजनीतिक एवं धार्मिक व्यवस्था के लिये महान् खतरा हैं, फँसिज्म सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था मे कोई भयङ्कर हस्तक्षेप नही करता, वह तो एक नवीन राजनीतिक सगठन की स्थापना करता है और आर्थिक क्षेत्र मे भी काफी परिवर्तन करता है परन्तु क्रान्तिकारी परिवर्तन नही।

दूसरे, साम्यवाद सिद्धान्त की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय है। वह एक वर्गविहीन तथा राज्यविहीन विश्व-समाज की स्थापना करना चाहता है, वह राष्ट्रीय सीमाओं को नही मानता। दूसरी ओर फँसिज्म अत्यन्त उग्र रूप मे राष्ट्रीय है, वह राष्ट्रीय राज्य को एक सर्वोपरि सामाजिक सगठन मानता है और व्यक्ति को उसकी पूर्ण अधीनता म रखता है। इस प्रकार साम्यवाद की विचारधारा सर्वथा नवीन है। फँसिज्म की कोई नई विचारधारा नही है, वह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का ही नया रूप है। लेनिन ने फँसिज्म को पूँजीवादी साम्राज्यवाद की अन्तिम अवस्था कहा है। इस प्रकार राष्ट्रीय राज्य के प्रति फँसिस्ट तथा साम्यवादी दोनो का दृष्टिकोण विभिन्न है। साम्यवाद अपने को विश्वव्यापी क्रान्ति का अग्रदूत मानता है जो वर्तमान् राष्ट्रीय सीमाओं का विध्वस कर देगी। फँसिज्म राष्ट्रीय राज्य का अनन्य भक्त है और उसके गौरव तथा उसकी महानता को बढाना चाहता है।

तीसरे, साम्यवाद अनीश्वरवादी है, उसका ईश्वर एव धर्म मे विश्वास नही है। उसका अपना कोई राजधर्म नही है। फँसिज्म जीवन मे से धर्म का बहिष्कार नही करना चाहता और न वह धर्म को विष के समान ही मानता है। अभी हाल ही मे साम्यवादी रूस तथा नात्सी जर्मनी और फँसिस्ट इटली तथा उनके साथियो के बीच जो सहारकारी युद्ध हो चुका है उससे इन दोनो सिद्धान्तो का विरोध सिद्ध हो जाता है।

रूसी साम्यवाद

लेनिनवाद—

मार्क्सवाद के क्रान्तिवादी रूप के अनेक अनुयायी रहे हैं जिनमे लेनिन और स्टालिन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लेनिन ने, जो रूस के सोशल डेमोक्रेटिक दल का एक प्रमुख नेता था, नवम्बर १९१७ मे, रूस में एक सामाजिक क्रान्ति की जिसके द्वारा उसने उसी वर्ष मार्च मे एक राजनीतिक क्रान्ति के फलस्वरूप स्थापित गणतन्त्रीय शासन (जिससे शताब्दियो पुरानी जारशाही का अन्त हो चुका था) को समाप्त कर सर्वहारा

वग का अधिनायकतत्र स्थापित किया। लेनिन तथा उसके सहयोगी मार्क्स-वाद के अनुयायी थे। उनका मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की भौतिक-व्याख्या तथा वग-सघष के सिद्धान्तो म दृढ विश्वास था। वे वतमान समाज की मार्क्स द्वारा की हुई आलोचना से सहमत थे परन्तु इसके साथ ही वे कुछ अन्य बातो पर विशेष जोर देते थे। उनका कथन था कि पूँजीवादी समाज शोषणशील होने के साथ ही नपुण्यहीन भी है। पूँजीपति तभी तक उत्पादन करते हैं जब तक वे अपने माल को लाभ के साथ बेच सकते हैं, परन्तु चूँकि जनता म क्रय शक्ति नही होती, वे लाभ के साथ बेच नही सकते एव उत्पादन बद कर देते हैं और इससे समाज के सभी लोग कष्ट उठाते हैं। इसके अतिरिक्त उनका कथन था कि पूँजीवाद का असली दोष न तो वितरण म असमानता है न जीवन की आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन की कमी है, वरन् सत्ता की असमानता है। अत हमारा लक्ष्य होना चाहिये समानता, धनकी समानता नही वरन सामाजिक प्रतिष्ठा एव सास्कृतिक विकास के अवसरो की समानता। इस प्रकार की समानता की प्राप्ति के लिये वतमान राजनीतिक व्यवस्था के साथ ही वतमान आर्थिक व्यवस्था का भी विनाश आवश्यक है। यह विनाश कसे हो? इस समस्या के सम्बध मे लेनिन ने मार्क्सवाद मे अनेक सशोधन किये।

कट्टर मार्क्सवादी होते हुए भी उसका सिद्धान्त की अटलता म विश्वास नही था। वैसे तो वह सिद्धान्त को अटल मानता था और कहता था कि प्रत्येक अवस्था मे उसका पालन होना चाहिये, परन्तु जब उसे काम करना होता था तो वह सिद्धान्त को केवल माग प्रदशक मानता था और आवश्यकतानुसार उसकी व्याख्या करके उसमे इच्छित परिवतन अथवा सशोधन कर लेता था। उसके आलोचक जब मार्क्सवाद की दुहाई देते हुए उसके कामो को गलत अथवा अवसरवादी बतलाते थे तो वह कहा करता था—'मार्क्सवादी को जीवन के वास्तविक तथ्यो पर ध्यान देना चाहिये उसे केवल के सिद्धान्त से ही चिपके नही रहना चाहिये वह तो एक सामान्य सिद्धान्त की रूप रेखा मात्र है ।

क्रान्ति की तैयारी करने म और क्रान्ति के उपरान्त रूस की नई व्यवस्था करने म लेनिन ने मार्क्सवाद मे अनेक महत्वपूर्व सशोधन किये। इस सशोधित रूप मे यह सिद्धान्त लेनिनवाद कहलाता है। स्टालिन के अनुसार लेनिन ने तीन काम किये—(१) उसने मार्क्स के उन लेखों को अधिक महत्व दिया जो उसने 'कैपिटल पुस्तक के पूव लिखे थे तथा जिनमे

वह अधिक क्रान्तिवादी था और इस प्रकार मार्क्सवाद का पुन क्रान्तिवादी रूप दिया। (२) उसने मार्क्सवाद को रूस की विशिष्ट परिस्थितियों में लागू किया। (३) उसने पूँजीवादी समाज में मार्क्स के बाद होनेवाले विकास पर विचार करते हुए और उन बातों के प्रकाश में, जिनका मार्क्स के सामने आरम्भ मात्र हुआ था, उसके सिद्धान्त और कार्य-पद्धति में परिवर्तन करते हुए उसे अद्यतनीन बना दिया।* स्टालिन की दृष्टि में लेनिन का यह अन्तिम कार्य सब से अधिक महत्वपूर्ण था। इसी कारण उसने लेनिनवाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति के युग का मार्क्सवाद ही लेनिनवाद है।'†

मार्क्स का कथन था कि पूँजीवाद की उन्नति तथा पूँजी के थोड़े से पूँजीपतियों के हाथों में एकत्र होने के फलस्वरूप देश में केवल दो परस्पर विरोधी वर्ग रह जायेंगे—पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग। बीच के वर्ग सर्वहारा वर्ग में सम्मिलित होते जायेंगे और वर्ग संघर्ष अधिकाधिक तीव्र होता जायगा। परन्तु, जैसा बर्नस्टीन ने बतलाया मार्क्स की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध नहीं हुई। निम्न मध्य वर्ग लुप्त नहीं हुआ, वरन अधिक शक्तिशाली बन गया, वर्ग संघर्ष में तीव्रता नहीं आई उलटे उसमें शिथिलता ही आई जिसका प्रमाण प्रथम विश्वयुद्ध में प्राप्त हुआ जबकि योरोप के प्रत्येक युद्धरत देश के मजदूर लोग और समाजवादी दल वर्ग संघर्ष का त्याग कर युद्ध में अपने राष्ट्र के साथ सहयोग करने में ही अपना हित देखने लगे। इन आलोचनाओं का उत्तर देते हुए लेनिन ने साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का निरूपण किया।

साम्राज्यवाद का सिद्धान्त—

लेनिन ने बतलाया कि उन्नत औद्योगिक देशों में निम्न मध्यम वर्ग तथा दक्ष श्रमिक वर्ग की दशा मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार उत्तरोत्तर न बिगड़ने और वर्ग संघर्ष की भावना के शिथिल पड़ जाने का कारण साम्राज्यवाद का विकास था। मार्क्स का पूँजीवाद के विकास का अध्ययन

* *Stalin Problems of Leninism* pp 15 16

† Leninism is Marxism of the era of Imperialism and of the proletarian revolution To be more exact Leninism is the theory and tactics of the proletarian revolution *in general* the theory and *tactics of the dictatorship of the proletariat* in particular (Stalin Problems of Leninism p 16)

देश के अन्दर तक ही सीमित था, उसने साम्राज्यवाद के विकास पर अधिक ध्यान नही दिया।

लेनिन के अनुसार साम्राज्यवाद उन्नत औद्योगिक दशा के कच्चे माल तथा कारखाना में बनी हुई वस्तुओं के लिये बाजार प्राप्त करने के प्रयत्नो का परिणाम है। इस सम्बन्ध में उसने मार्क्स के पूंजी सचयन (Accummulation of Capital) के सिद्धान्त का विस्तार किया और तत्कालीन वस्तु स्थिति पर लागू किया। पूंजी की कुछ व्यक्तियों के हाथो में केन्द्रित हो जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। पूंजीपति का प्रमुख उद्देश्य लाभ (मुनाफा) प्राप्त करना होता है और यह तभी हो सकता है जबकि उत्पादन में वृद्धि हो तथा बाजारों पर एकाधिकारयुक्त नियन्त्रण हो। उत्पादन की मात्रा पूंजी की मात्रा पर निर्भर रहती है। छोटे पूंजीपति अपने उद्योग में उतनी पूंजी नही लगा पाते जितनी बडे पूंजीपति लगा सकते है। इस कारण वे बडे पूंजीपतियों के सामने स्पर्धा में टिक नही सकते और उनका विनाश हो जाता है। बडे पूंजीपति स्वदेश के बाजार पर ही एकाधिकार स्थापित करके सतुष्ट नही होते वे विदेशी बाजारों को भी अपने हाथो मे लेने का प्रयत्न करने लगते है। उत्पादन निरन्तर बढता रहता है और चूंकि इसके लिये अधिकाधिक पूंजी की आवश्यकता होती है अत पूंजीपति मिल कर ट्रस्ट एव कार्टेल बना लेते है और उत्पादन व्यक्तिगत पूंजीपतियों के हाथो से निकल कर ट्रस्टो और कार्टेलो के हाथो मे पहुंच जाता है जिनका सब उद्योगो पर एकाधिकार स्थापित हो जाता है। इस निरन्तर बढते हुए उत्पादन के लिये कच्चे माल की यथेष्ट उपलब्धि और तैयार माल की खपत के लिये विदेशी बाजारों को हथियाने के प्रयत्न मे पूंजीपतियो की दृष्टि पिछडे हुये प्रदेशो पर पडती है जहा से वे सरलता से कच्चा माल तथा खनिज पदार्थ यथेष्ट मात्रा में प्राप्त कर सकते है और अपना तैयार माल बेच सकते हैं। व्यापार की वृद्धि के लिये औद्योगिक ट्रस्टो तथा कार्टेलो के निर्माण के साथ बैंको मे भी सयुक्त हो जाने की प्रवृत्ति कार्य करने लगती है। बैंक शामिल हो जाते है और चूंकि पूंजी बैंको से ही मिलती है, अत अब बैंक उद्योग के स्वामी बन जाते हैं। इस प्रकार पूंजीवाद का धीरे धीरे रूपान्तर हो जाता है। व्यक्तिगत पूंजीवाद से आरम्भ होकर वह एकाधिकारयुक्त पूंजीवाद (Monopoly Capitalism) का रूप धारण करता है और अन्त मे एकाधिकार वित्त पूंजीवाद (Monopoly Finance Capitalism) के रूप में अपने विकास की चरम सीमा पर पहुंच जाता है। इस स्थिति में पूंजी इतनी एकत्र

हो जाती है कि उसको अपने स्वदेश में नहीं हो पाती और उसे विदेशों में लगाना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार अब पूँजी का निर्यात होने लगता है और इसके लिये सबसे उपयुक्त प्रदेश वे पिछड़े हुए प्रदेश होते हैं जहाँ के बाजारों पर उनका नियन्त्रण होता है। इस पूँजी की सुरक्षा के लिये उन प्रदेशों पर राजनीतिक नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। पूँजीपति अपने देश की सरकार को उस प्रदेश पर अधिकार करने के लिये बाध्य करते हैं और वह प्रदेश उस पूँजीवादी देश के अधीन एक उपनिवेश बन जाता है अर्थात् उस पर पूँजीवादी देश का साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

इस प्रकार साम्राज्य स्थापित होता है। उस पिछड़े हुए प्रदेश की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है वहाँ की जनता का शोषण होने लगता है और मार्क्स द्वारा प्रतिपादित श्रमिकों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दुर्दशा का नियम अब पूँजीवादी देश की जगह उपनिवेशों में लागू होने लगता है। साम्राज्य के अभाव में जो श्रमिक वर्ग सर्वहारावर्ग होता और दुर्दशा की चरम अवस्था में पहुँच जाता उसे अब उपनिवेशों से प्राप्त लाभ का कुछ भाग मिल जाता है। अब वह स्वयं एक प्रकार से पूँजीपति बन जाता है और उसका स्थान उपनिवेश की जनता ले लेती है।

इस स्थिति का द्वितीय परिणाम विभिन्न पूँजीवादी राष्ट्रों के बीच युद्ध के रूप में प्रकट होता है, क्योंकि अब औद्योगिक क्षेत्र में एकाधिकार स्थापित हो जाने से देश के अन्दर प्रतियोगिता का अन्त हो जाता है और उसका स्थान विभिन्न राष्ट्रों के बीच होनेवाली प्रतियोगिता ग्रहण कर लेती है। अब विभिन्न राष्ट्रों के ट्रस्ट और कार्टेल बाजारों के लिये होड़ करने लगते हैं। प्रत्येक राज्य अपने पूँजीपतियों की सुरक्षा चाहता है, वह स्वयं पूँजीपतियों के नियन्त्रण में होता है। इस प्रकार इस होड़ का परिणाम विभिन्न पूँजीवादी राष्ट्रों में युद्ध के रूप में प्रकट होता है। लेनिन के अनुसार १९१४-१८ का प्रथम विश्वयुद्ध साम्राज्यवादी युद्ध था और वास्तव में पूँजीपतियों का गृह कलह था। उसमें जर्मन पूँजीपतियों के सिण्डिकेट अफ्रिका पर अधिकार करने के लिये अंग्रेज और फ्रेंच पूँजीपतियों के सिण्डिकेटों से युद्ध कर रहे थे।

इसका अन्तिम परिणाम होता है पूँजीवाद का अन्त और नवीन समाजवादी व्यवस्था का उदय, क्योंकि अब सर्वहारा वर्ग को वास्तविक स्थिति का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। साम्राज्यवाद के आरम्भ में तो उनकी कुछ उन्नति अवश्य होती है परन्तु कुछ ही समय बाद उन्हें यह स्पष्ट होने लगता है कि

उनका लाभ और उनकी दशा मे उन्नति केवल दिखावा ही है, वास्तव मे उनका शोषण और भी अधिक हो गया है। युद्ध-काल म श्रमजीवियो के कष्ट और भी बढ जाते है महगाई वस्तुओ की कमी आदि से उन्हे ही विशेष कष्ट होता है, सेना म भी अधिकतर उसी वर्ग के लोग प्रविष्ट होते ह और व ही हताहत होते है। इस तरह एक ओर तो इस वर्ग को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है और दूसरी ओर सनिक प्रशिक्षण तथा शस्त्रास्त्र मे सुसज्जित होने के कारण वह हिंसात्मक क्रान्ति करने पर उतारू हो जाता है और जो युद्ध राष्ट्रीय युद्ध की तरह आरम्भ होता है उसका गृह-युद्ध के रूप म अन्त होता है। श्रमिक वर्ग हिंसात्मक क्रान्ति करके पूजीपति वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था का समूल नष्ट करके सवहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित कर लेता है और समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करता है जसा १९१७ मे रूस मे हुआ। इस प्रकार लेनिन ने पूँजीवाद के विकास म एक और मजिल—साम्राज्यवाद—जोड कर मार्क्स के सिद्धान्त को पूर्ण कर दिया और बतलाया कि 'साम्राज्यवाद पूँजीवाद की उच्चतम अवस्था है',* क्योकि इसका अनिवार्य परिणाम पूँजीवाद का विनाश है।

इस प्रकार साम्राज्यवाद के विकास का वर्णन करके लेनिन ने मार्क्स के आलोचको को उत्तर दिया हालाकि उसका वर्णन साम्राज्यवाद के ऐतिहासिक विकास से मेल नही खाता। इसी सिद्धान्त के द्वारा उसने रूस जसे औद्योगिक दृष्टि से पिछडे हुए देश म जो उसने क्रान्ति की थी उसे मार्क्स के सिद्धान्त के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया। मार्क्स के अनुसार समाजवादी क्रान्ति उसी देश मे हो सकती है जिसका औद्योगिक विकास चरम सीमा पर पहुँच गया हो। परन्तु लेनिन का कथन था कि साम्राज्यवाद की अवस्था मे सवहारावर्ग की क्रान्ति अर्थात् समाजवादी क्रान्ति के स्वरूप तथा उसकी योजना मे परिवर्तन हो जाता है। साम्राज्यवाद की अवस्था म सवहारा क्रान्ति केवल एक ही देश की परिस्थितियो स नही, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो द्वारा निर्धारित होती है क्योकि इस अवस्था मे सब देशो की आर्थिक प्रणालियाँ विश्व आर्थिक प्रणाली की शृखला मे कडिया बन जाती है। पूँजीवाद अब साम्राज्यवाद के रूप मे विश्व पूँजीवाद बन जाता है और इसी कारण सवहारा क्रान्ति भी एकदेशीय न रहकर विश्व-सवहारा-क्रान्ति का रूप धारण कर लेती है। अत इस अवस्था म यह आवश्यक नही कि क्रान्ति उसी देश मे हो

---

* Imperialism is the highest stage of capitalism

जहा पूँजीवाद उत्कष की चरम सीमा पर पहुँच गया हो, बल्कि यह अधिक स्वाभाविक है कि क्रांति उस देश से आरम्भ हो जहा साम्राज्यवाद सबसे निबल अवस्था म हो। १६१७ म रूस साम्राज्यवाद की शृङ्खला की सबस निबल कडी था (यद्यपि पूँजीवाद वहा तब तक विकसित नहीं हो पाया था), अत वहा क्रांति सफल हुई। लेनिन का विश्वास था कि सवहारा क्रान्ति रूस मे आरम्भ होकर शीघ्र ही विश्व व्यापी हो जायगी और समस्त ससार से पूजीवाद उठ जायगा।

इस प्रकार लेनिन ने रूस जसे औद्योगिक दृष्टि से पिछडे हुए देश मे सवहारा क्रांति को मावस के सिद्धा त के अनुकूल सिद्ध किया, परन्तु वास्तव मे उसने मार्क्स के इस सिद्धान्त का बिलकुल तिलाजलि द दी कि किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था तथा उसके विचार उसके आर्थिक विकास पर निभर होते है। मार्क्स का कथन था कि प्रत्येक राज्य को कुछ निश्चित भौतिक अवस्थाओ म से होकर गुजरना होगा और सवहारा क्रांति पूँजीवाद क पूर्ण विकास के उपरान्त ही हो सकती है।

एक अन्य बात मे भी लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया। मार्क्स के अनुसार सवहारा क्रान्ति राजनीतिक क्रांति के पूर्ण होने पर ही हो सकती है परन्तु लेनिन ने रूस म मार्च १६१७ मे सम्पन्न राजनीतिक क्रान्ति को जिसके परिणामस्वरूप शताब्दियो पुरानी जारशाही का अन्त हुआ और गणतन्त्र की स्थापना हुई पूर्ण नही होने दिया और आठ महीने में ही उसे बलपूर्वक समाप्त कर दिया। मार्क्स का कथन था कि 'क्रान्ति बल प्रयोग द्वारा नही होती उसकी उचित राजनीतिक एव आर्थिक विकास द्वारा तयारी होनी चाहिये।' यह सत्य है कि मार्क्स ने एक बार यह आशा प्रकट की थी कि जब योरोप के औद्योगिक देशो म समाजवादी क्रान्तियाँ होगी तो रूस पूँजीवादी व्यवस्था की घातक अवस्थाओ म स गुजरे बिना ही राज्य समाजवाद की अवस्था म पहुँच सकेगा। परन्तु योरोप क औद्योगिक देशो म से किसी म भी समाजवादी क्रांति नही हुई। इसका लेनिन ने यह कह कर उत्तर दिया कि पुराने विचार के अनुसार जो पूँजीवादी क्रांति (राजनीतिक क्रान्ति) की पूर्णता मे सन्देह करता है वह मृत भाषा की वेदी पर जीवित मार्क्सवाद का बलिदान करता है। पुरानी धारणा के अनुसार सवहारावर्ग और कृषकवर्ग का शासन पूँजीपतियो के शासन के बाद ही आ सकता है और आना चाहिये। परन्तु वास्तविक जीवन म घटनाएँ दूसरी ही प्रकार स घटित हो चुकी हैं दोनो क्रांतिया का एक बिलकुल ही मौलिक, नवीन और अभूत

पूर्व मिश्रण हो चुका है।* इस प्रकार जीवित और मृत मार्क्सवाद में भेद स्थापित करके लेनिन ने अपनी क्रांति की मार्क्सवाद से अनुकूलता तो स्थापित कर दी परन्तु वास्तव में उसने मार्क्सवाद का इस बात में भी परित्याग कर दिया।

एक अन्य आधारभूत बात में भी लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्त का खण्डन कर दिया। क्रान्ति की तैयारी के लिये एक प्रभावशाली दलीय संगठन की आवश्यकता थी। लेनिन के अनेक साथी मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार प्रजातन्त्रीय ढंग पर संगठित एक विशाल दल का निर्माण चाहते थे परन्तु उसका विश्वास था कि श्रमिक वर्ग स्वयं क्रांति नहीं कर सकता और रूस जैसे देश में, जहाँ निरंकुशता का राज्य था एक बड़ा दल सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता। वहाँ तो अत्यन्त दृढ़ निष्ठावान अनुशासनबद्ध, कट्टर क्रांतिकारियों का एक छोटा सुसंगठित गुप्त रीति से कार्य करनेवाला दल ही क्रांतिकारी श्रमिकों का संगठन करके, उन्हें साम्यवाद की शिक्षा देकर और उनको मार्ग प्रदान करते हुए सफलता प्राप्त कर सकता है। लेनिन का यह विचार स्पष्टतः मार्क्स के सिद्धान्त के प्रतिकूल था।† मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली अपने अन्तर्विरोध के फलस्वरूप स्वतः श्रमिकों को संगठित कर समय आने पर उन्हें क्रांति की ओर प्रेरित करती है और इस प्रकार पूँजीवाद स्वयं अपने विनाश की तैयारी करता है। इसके विरुद्ध लेनिन का कथन था कि पूँजीवादी

---

* Whoever questions the completeness of the bourgeois revolution from the old viewpoint sacrifices living Marxism to a dead letter According to the old conception the rule of the proletariat and the peasantry their dictatorship can and must follow the rule of the bourgeoisie In real life however things have turned out otherwise an extremely original, new, unprecedented interlocking of one and the other has taken place (Lenin quoted in Sabine op cit p 690)

† In this connection he made perhaps the boldest and most drastic change in Marxian theory ever made by a Marxist who was concerned to preserve its orthodoxy (Sabine A History of Political theory p 670)

ग्रथ से बिल्कुल भिन्न हो गया।* वास्तव म लेनिन एक व्यवहारकुशल नेता था जिसम ग्रपन सकल्प को पूरा करने का दृढ निश्चय ग्रौर ग्रनुपम लगन थी। उसी के नतृत्व का यह परिणाम था कि रूसी क्रान्ति सफल हो सकी ग्रौर एक साम्यवादी राज्य की स्थापना हो सकी। सिद्धान्त के क्षेत्र मे उसके ग्रनुदाय का कोई विशेष महत्व नही मालूम होता। वास्तव म उसका महत्व क्राति के सचालन मे तथा उसके उपरान्त रूस म सवहारा-वग मे ग्रधिनायकतत्र की सफल स्थापना ग्रौर उसके सगठन म है। इस दृष्टि से स्टालिन का यह कथन बिल्कुल उपयुक्त मालूम होता है कि लेनिनवाद सामान्य रूप मे सवहारा क्रान्ति का तथा विशिष्ट रूप मे सवहारा वग के ग्रधिनायकतत्र का सिद्धान्त है।†

स्टालिनवाद

लेनिन के बाद स्टालिन न भी तत्कालीन परिस्थितियो से उत्पन्न ग्रावश्यकताग्रो के ग्रनुसार मार्क्स के सिद्धान्त मे सशोधन किये जिनका परिणाम यह हुग्रा कि रूसी साम्यवाद ने मार्क्स के बचे खुचे ग्राधारभूत सिद्धान्तो को भी तिलाजलि देदी। लेनिन की मृत्यु के पश्चात् स्टालिन तथा ट्राटस्की के मध्य इस प्रश्न को लेकर बडा तीव्र मतभेद उत्पन्न हुग्रा कि उन्ह विश्व क्राति के लिये प्रयत्न करना चाहिय या कवल रूस म ही साम्यवादी व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने का उद्योग करना चाहिये। ट्राटस्की विश्व क्राति के पक्ष म था क्यो कि उसका विश्वास था कि विश्व क्राति के बिना रूस मे साम्यवाद न सफल हो सकता है ग्रौर न सुरक्षित ही रह सकता है, परन्तु स्टालिन का कथन था कि रूस की दशा ऐसी नही थी कि वह विश्व क्रान्ति का नेतृत्व कर सके। उसके विचार म रूस के लिय उस समय यही उचित था कि वह ग्रपनी ग्रान्तरिक व्यवस्था को दृढ करने ग्रौर ग्रपने यहाँ साम्यवाद की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा करने म ही ग्रपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर ताकि ससार के सामने एक

---

* Lenin s formulas remained the formulas of Marx the meaning of Leninism departed very widely from the meaning of Marx (Sabine A History of Political Theory p 699)

† Leninism is the theory and tactics of the proletarian revolution in general and the theory and tactics of the dictatorship of the proletariat in particular ' (Stalin Problems of Leninism, p 16)

आदर्श साम्यवादी व्यवस्था प्रस्तुत की जा सके जिसका अन्य देश अनुकरण कर सकें। उसका कथन था कि विश्व क्रान्ति हुए बिना भी एक देश में समाजवाद की स्थापना हो सकती है (Socialism in one country)। लेनिन के विचार भी ऐसे ही थे। उसने एक बार कहा था कि पूंजीवाद का यह निश्चित नियम है कि सब देशों में आर्थिक एवं राजनीतिक प्रगति समान रूप में नहीं होती, अतः समाजवाद का कुछ या केवल एक देश में भी सफल होना सम्भव है। इसका अर्थ यह हुआ कि पूंजीवादी तथा साम्यवादी प्रणालियां साथ साथ रह सकती है और उनमें सहयोग भी हो सकता है। स्टालिन के बाद रूस के प्रधान मन्त्री ख़ुश्चेव भी इस सह अस्तित्व पर जोर दे रहे हैं। वैसे इस सह अस्तित्व के सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती परन्तु इस सिद्धान्त से स्पष्टतः मार्क्स के राजनीतिक व्यवस्था की आर्थिक *व्यवस्था पर निर्भरता के सिद्धान्त का खण्डन होता है।*

राज्य के लुप्त होने के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी स्टालिन ने मार्क्स के सिद्धान्त में संशोधन किया। १९३९ की दलीय कांग्रेस में उसने इस प्रश्न पर विचार किया कि हमारे देश में शासक वर्ग का विनाश हो चुका है, समाजवाद की स्थापना हो चुकी है और हम साम्यवाद की ओर अग्रसर हो रहे हैं फिर हम अपने समाजवादी राज्य को लुप्त होने में सहायता क्यों नहीं करते। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उसने कहा कि राज्य के लुप्त होजाने के सिद्धान्त का प्रतिपादन जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों में किया गया था वे आज कल की परिस्थितियों से भिन्न थीं। आजकल साम्यवादी रूस चारों ओर से पूंजीवादी देशों से घिरा हुआ है (Capitalist encirclement)। ऐसी स्थिति में साम्यवादी राज्य के दो कार्य है—विदेशी हस्तक्षेप से राज्य की रक्षा और देश के अन्दर आर्थिक संगठन तथा जनता की सांस्कृतिक शिक्षा। जब तक समस्त संसार में वर्गविहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती तब तक ये कार्य आवश्यक बने रहेंगे और साम्यवाद के युग में भी राज्य का *अस्तित्व बना रहेगा।*

इस सिद्धान्त के अनुसार रूस में साम्यवादी व्यवस्था और उसके अनुरूप साम्यवादी सरकार का विकास करना साम्यवादी राज्य का कार्य है। इसके अतिरिक्त केवल एक देश में समाजवादी सरकार केवल समाजवाद की ही प्राप्ति नहीं कर सकती वह शत्रुभावयुक्त विरोधी अन्तराष्ट्रीय पूंजीवाद के होते हुए साम्यवाद की ओर प्रगति भी कर सकती है। वह पूर्ण सुरक्षा प्राप्त नहीं कर सकती परन्तु खतरा पूर्णतया राजनैतिक हस्तक्षेप की

सभावना पर ही निभर है। इस प्रकार स्पष्टत इस सिद्धान्त के अनुसार पर्याप्त प्राकृतिक साधनो से युक्त एक देश मे समाजवादी आर्थिक व्यवस्था विश्व आर्थिक व्यवस्था से काय करनेवाले आर्थिक कारणो स पूण रूपसे स्वतन हो सकती है। यदि यह बात सत्य है तो फिर मार्क्स का आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) कहा रहा ?

पूजीवादी घेर क सिद्धान्त पर विचार करते हुए सेबाइन न कहा है कि यह सिद्धान्त उस तक की अंतिम कडी को भी विच्छिन्न कर देता है जिसके द्वारा राजनीति और विचार का अतर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास स सम्बन्ध स्थपित होता है। *

साम्यवादी राज्य के कार्यों का निरूपण करत हुए और साम्यवादी युग म भी राज्य के अस्तित्व की आवश्यकता बतान हुए स्टालिन न मार्क्स की राज्य की परिभाषा और उसके स्वरूप मे भी परिवतन कर दिया। मार्क्स क अनुसार राज्य समाज के सम्पत्तिशाली वग द्वारा सम्पत्तिविहीन वर्गों क शोषण का दमनकारी साधन मात्र है और एक अस्थायी सस्था है जिसका वगविहीन समाज की स्थापना होन पर अन्त हो जायगा। किन्तु स्टालिन न साम्यवादी (वगविहीन) समाज म भी राज्य का अस्तित्व आवश्यक समझा और उसका काय एक वग द्वारा दूसरे वग का शोषण नही, देश का आर्थिक सगठन और जनता की सांस्कृतिक शिक्षा माना। इस प्रकार राज्य एक दमनकारी सस्था और अस्थायी सस्था न रह कर एक स्थायी और कल्याणकारी सस्था बन जाता है।

इस प्रकार हम दखत है कि लेनिन और स्टालिन न मार्क्सवाद की अपनी आवश्यकताओ के अनुसार व्याख्या करके उसे व्यवहार का दास बना दिया† उनके साम्यवाद का मार्क्सवाद से कोई विशेष आधारभूत सम्बन्ध

* It severs the last link of logic that connected politics and ideology with international economic evolution (Sabine A History of Political Theory p 701)

† Lenin s searching of the Marxist scriptures to justify an action which he had already d ...mined to take, and which was in fact contrary to Marx s own teaching is typical of the way in which Communist theory has become the obedient hand maiden of Communist practice (Wayper Political Thought p 230)

नहीं रहा। इन दोनों की मार्क्स के सिद्धान्तों की इच्छानुसार व्याख्या और रूस की आंतरिक एवं बाह्य नीतियों के संचालन में उनके तथा उनके उत्तराधिकारियों के व्यवहार को देखते हुए रूसी साम्यवाद को रूसी राष्ट्रवाद अथवा रूसी साम्राज्यवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा।

रूसी साम्यवाद का व्यावहारिक रूप—

अभी हमने लेनिन तथा स्टालिन ने मार्क्सवाद में जो संशोधन किये उनका अध्ययन किया है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित *इतिहास की भौतिक व्याख्या तथा* वर्ग संघर्ष के सिद्धान्तों के आधार पर संगठित पहला राज्य सोवियत रूस ही है। क्रान्ति के उपरान्त नवीन शासन को प्रारम्भ में *बहुत सी बाधाओं* में से होकर निकलना पड़ा। नवीन व्यवस्था को कायम रखने में सोवियत रूस ने संसार के प्रथम सर्वसत्तावादी राज्य (Totalitarian State) की स्थापना की। रूसी साम्यवादियों ने संसार के सामने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये नवीन राज्य की निपुणता प्रकट कर दी है। रूस ने अन्य आधुनिक राज्यों की अपेक्षा अपने राज्य को अधिक केन्द्रीकृत तथा शक्तिशाली राज्य बना लिया है। इटालियन फासिस्टों तथा जर्मन नात्सियों ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये, *अर्थात् पश्चिमी सभ्यता के सम्मुख उपस्थित साम्यवादी खतरे* के नाश के लिये साम्यवादी कार्यपद्धति को ही अपनाया था।

रूस के साम्यवादी शासक सर्वहारा राजनीतिक समाजवाद का एक नवीन परीक्षण कर रहे हैं। वे नवीन आर्थिक आधार पर एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें कोई भी मानव दूसरे मानव के श्रम को खरीद नहीं सकेगा और न पूँजी पर जीवित रह सकेगा। दूसरे शब्दों में, नये समाज में पूँजी का स्वामित्व समाज के हाथ में होगा, व्यक्तियों के हाथों में नहीं। इस प्रकार पूँजीवादी शोषकों तथा वेतनभोगी शोषितों का भेदभाव मिट जायगा। इस ध्येय की प्राप्ति के प्रयत्न में *उन्हें पूँजीवादी वर्ग के विरोध* का सामना अपने देश के अन्दर तथा बाहर दोनों ओर से करना पड़ा है। रूस में गृह युद्ध हुआ और श्वेत सेनाओं का सैनिक आक्रमण भी हुआ जिसमें इङ्गलैंड अमेरिका के संयुक्त राज्य तथा फ्रांस जैसे पूँजीवादी देशों ने सहायता दी। इस कारण उन्होंने अपने दाव-पेच तथा कार्य प्रणाली में परिवर्तन अवश्य किये परन्तु उनके ध्येय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यह ध्येय है— जनता के लिये अधिक सुखदायी जीवन की अवस्थाएँ तथा व्यापक वास्तविक सुयोग प्राप्त करना और, इन सबसे ऊपर, आर्थिक तथा राजनीतिक नियन्त्रण उन अल्पजनों के हाथों

मे रखना जो अन्तिम समाजवादी विजय की ओर बढ़ने मे अधिक सलग्न और दृढाग्रही है। " *

समस्त सत्ता को क्रान्तिकारियो के एक छोटे से दृढप्रतिज्ञ सुसङ्गठित दल के हाथो मे कायम रखने की प्रवृत्ति के कारण रूस मे ऐसी सस्थाओ एव आचरणो का विकास हुआ जो अधिनायकतन्त्र के मुख्य लक्षण हैं। इन सस्थाओ मे सबसे महत्वपूर्ण है—ऑल यूनियन कम्यूनिस्ट पार्टी। रूस मे शासन यन्त्र का नियन्त्रण इस पार्टी द्वारा ही होता है। इस पार्टी की सदस्य सख्या जानबूझकर कम रखी जाती है उसके नियम कठोर हैं जिसके कारण सदस्यता मे वृद्धि नही हो सकती। परीक्षाएँ कडी होती हैं और परीक्षण काल भी बडा लम्बा होता है। जो सदस्य शिथिल अथवा अकुशल होते हैं या जिनकी निष्ठा मे सन्देह होता है उन्हे निकाल दिया जाता है। उसमे उन बुद्धिजीवियो के लिए स्थान नही है जो साम्यवाद के आलोचक हैं या धर्म के पुजारी है। ट्रॉटस्की जैसा प्रसिद्ध साम्यवादी नेता भी पहले अतरङ्ग मण्डल से फिर साम्यवादी पार्टी से और अन्त मे देश से निर्वासित कर दिया गया क्योंकि उसने शासन द्वारा पूँजीपतियो तथा जमीदारो को जो रियायतें दी गई थी, उनकी आलोचना करके साम्यवादी दल की उपेक्षा की और उसका अनुशासन भग किया। ऑल यूनियन कम्यूनिस्ट पार्टी ही रूस की एकमात्र राजनीतिक पार्टी है। अन्य किसी भी राजनीतिक दल को, जिसका दूसरा कोई सिद्धान्त हो, वहाँ काम करने की स्वतन्त्रता नही है। इस पार्टी के कार्यों का नियमन एक केन्द्रीय समिति द्वारा होता है जिसका चुनाव पार्टी के वार्षिक अधिवेशन मे होता है। यह केन्द्रीय समिति पार्टी के काम सचालन के लिये अन्य छोटी उपसमितियो का चुनाव करती है। इसमे पार्टी के कुछ प्रमुख नेता होते है जो पार्टी की नीति आदि निर्धारित करते हैं। देश की प्रमुख शासन-सस्थाओ जैसे स्थानीय सोवियत,

---

*'To make Russia more nearly self sufficient to secure more comfortable living conditions and wider cultural opportunities for the masses and above all to keep the reins of economic and political control in the hands of that minority most devoted and tenacious in driving towards the ultimate socialist victory (Coker Recent Political Thought, p 159)

प्रांतीय काग्रेसो, राष्ट्रीय बिधान सभाओ एव प्रशासनीय सस्थाओ आदि के निर्वाचन पर परोक्ष रूप से इस राजनीतिक समिति का नियन्त्रण होता है। सन् १९३६ ई० के सविधान से देश मे राजनीतिक प्रजातन्त्र की मशीनरी स्थापित की गई है, समस्त व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सत्ताएँ सुप्रीम कौंसिल के हाथो मे हैं जिसमे दो सदन हैं जिनमे से प्राय प्रत्येक मे ६०० सदस्य है जिनका चुनाव गुप्त मतदान द्वारा सार्वभौम प्रौढ मताधिकार के आधार पर होता है, परन्तु इतना होते हुए भी सत्य तो यह है कि शासन का वास्तविक नियन्त्रण साम्यवादी दल (Communist Party) के हाथो मे ही है। साम्यवादी दल के अतिरिक्त दो और साम्यवादी सगठन हैं, जो साम्यवादी व्यवस्था कायम रखने मे सहायक होते है। एक का नाम है साम्यवादी युवक सङ्घ जिसमे १४ वर्ष से २२ वर्ष तक के युवक युवतियाँ सदस्य है। दूसरा साम्यवादी बाल सङ्घ जिसमे १० वर्ष से १४ वर्ष तक के बालक बालिकाएँ सदस्य है। इनमे से ही साम्यवादी पार्टी के नये सदस्य बनते है।

यहा यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि साम्यवादी दल के सदस्यो को अपनी कार्य प्रणाली की आलोचना करने मे काफी स्वतन्त्रता रहती है। वे अपने सुझाव भी पेश कर सकते है। परन्तु विचार तथा बहस के बाद जब दल द्वारा कोई नीति स्वीकार कर ली जाती है, तब उसे सब सदस्यो को स्वीकार करना पडता है। उसके बाद किसी को उसकी आलोचना करने का अवसर नही दिया जाता अथवा उसके विरुद्ध विचार प्रकट करने का अधिकार नही रहता। उसका अनुशासन बडा कठोर है, वह सर्वथा सैनिक ढग का है। दल ने अपने सदस्यो की सेवा तथा चरित्र एव सयतता का आदर्श बहुत ऊँचा रखा है।

सोवियत रूस मे साम्यवादी शासन 'सर्वहारा वर्ग की अधिनायकशाही' के नाम से प्रसिद्ध है। यह नाम आंशिक रूप से सही है और गलत भी। यह सही इसलिये है कि राज्य उन सब लोगो को कोई राजनीतिक एव आर्थिक विशेषाधिकार नही देता जो मजदूर नही हैं और शासन सत्ता का आधार दमन शक्ति है। सोवियत राज्य अधिनायकतन्त्रीय अथवा सर्वसत्तावादी है क्योकि उसने सफलतापूर्वक समस्त अन्दरूनी विरोधी तत्वो का खात्मा कर दिया है और वह एकदलीय राज्य बन गया है जैसा कि नात्सी जर्मनी तथा फासिस्ट इटली मे था। परन्तु यह नाम अनुपयुक्त इसलिये है कि रूसी शासन सर्वहारा वर्ग के बहुमत का नही है। देश का शासन औद्योगिक मजदूरो के

हाथो मे नही वरन् कुछ थोडे से उच्च कोटि के वर्गीय चेतना युक्त सुयोग्य तथा अनुशासनबद्ध क्रान्तिकारियो के हाथो मे है। इस प्रकार रूसी सरकार को सर्वहारा वर्ग के हित मे अधिनायकतन्त्र कहा जा सकता है।

अधिनायकतन्त्र का अर्थ है राजनीतिक कार्य के सर्वोच्च साधन या अस्त्र के रूप मे बल या दमन का प्रयोग। साम्यवादियो की यह दृढ धारणा है कि पूँजीपतियो मे तर्क या बहस द्वारा परिवर्तन नही किया जा सकता। अत उनके विरोध का नाश बल प्रयोग से करना चाहिये। वे जिन लाभो का भोग करते है, उन्हे स्वत शान्तिपूर्वक त्यागने के लिये वे तैयार नही होगे। पूँजीपतियो को सम्पत्तिविहीन बनाने के लिये और क्रान्ति के विरोधियो के अपने खोये हुए लाभो को पुन प्राप्त करने के प्रयत्नो के दमन के लिये सर्वहारा राज्य की ओर से सशस्त्र हिंसा की आवश्यकता है। यदि सत्ता हस्तगत करने के लिये आक्रमणात्मक साधन के रूप मे बल की आवश्यकता है, तो विरोधियो के विरुद्ध आत्मरक्षा के लिये बलप्रयोग की निन्दा करना मूर्खता होगी। जैसा कि ट्राटस्की ने उचित ही कहा है—'एक क्रान्तिकारी वर्ग को जिसने शस्त्रो द्वारा सत्ता प्राप्त की है उन सभी प्रयत्नो को, जिनके द्वारा इस सत्ता से उसे वचित करने का प्रयत्न किया जायगा, बल प्रयोग से व्यर्थ करना पडेगा और वह ऐसा अवश्य करेगा।'* इस प्रकार साम्यवादी लोग राजनीति को स्थायी युद्ध समझते है और राज्य को विशुद्ध दमन का अस्त्र। इस प्रकार वे लोहहस्त द्वारा शासन यन्त्र का प्रयोग करते है और जो देशद्रोह या राजद्रोह के अपराधी हैं या उनके कामो मे बाधा डालते है उन्हे कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता है। अपने विरोधियो के दमन के लिये बल प्रयोग को एक मुख्य अस्त्र के रूप मे मानने के कारण उनका नात्सियो तथा फैसिस्टो से बडा सादृश्य है। इस प्रकार सर्वसत्तावादी राज्य का अधिनायकतन्त्र होना पडता है और उसे हिंसा तथा बल प्रयोग पर आश्रित रहना ही पडता है।

इसका यह अर्थ नही है कि साम्यवादी लोग जनता को अपने पक्ष मे करने के सम्बन्ध मे उदासीन रहते हैं। वे स्कूल रेडियो, सिनेमा आदि प्रचार के समस्त साधनो द्वारा अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते है। वे शैशव काल से ही जनता को अपने सिद्धान्तो का पाठ पढाते हैं। उनके युवक पर जनता को

---

* A revolutionary class which has conquered power with arms in its hands is bound to and will suppress rifle in hand all attempts to tear power out of its hands (Trotsky)

साम्यवाद के इतिहास तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी शिक्षा देने के लिये हो है। वे उन्हें क्रान्ति के दाव पेंच के सम्बन्ध में भी शिक्षा देते हैं।

रूसी साम्यवादी लोग पूंजीवादी देशों के प्रजातन्त्र तथा प्रजातन्त्रीय संस्थाओं का उपहास करते हैं। राजनीतिक कार्य के साधन के रूप में बल प्रयोग की सर्वोच्चता में विश्वास करने तथा शासन की समस्याओं के बौद्धिक समाधान की सम्भावना में अविश्वास के कारण वे प्रजातन्त्र को अव्यवहार्य समझते हैं। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में उनके जैसे विचार हैं वे भी उन्हें इसी परिणाम की ओर ले जाते हैं। बोल्शेविकों ने संविधान परिषद् के कार्य में बाधा डालकर उसे असम्भव कर दिया था।

किन्तु यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि साम्यवाद तथा प्रजातन्त्र में कोई सैद्धान्तिक असंगति नहीं है। साम्यवादी लेखक जिस प्रजातन्त्र की आलोचना करते हैं और जिसे अवास्तविक कहते हैं, वह है पूंजीवादी देशों में प्रचलित प्रजातन्त्र। उनकी यह मान्यता है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत, जिसमें औद्योगिक मजदूरों को कोई आर्थिक सुरक्षा नहीं होती और जिसमें उन लोगों के हाथों में अनुचित राज्यसत्ता होती है जो समाज के आर्थिक जीवन का नियन्त्रण करते हैं, राजनीतिक लोकतन्त्र नाममात्र का है, उसमें कोई तत्व नहीं होता। उसमें जिन व्यक्तियों के पास सम्पत्ति नहीं है उनके लिये न स्वतन्त्रता है और न समानता ही, उन्हें केवल उन व्यक्तियों को अपना श्रम बेचने की स्वतन्त्रता है जो उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं। इस प्रकार वे व्यक्ति शासन पर कोई नियन्त्रण नहीं रख सकते। एक उम्मीदवार के लिये चुनाव में एक बार मतदान करने का अधिकार कोरा नाममात्र का अधिकार है। इसी प्रकार शासन के कार्यों की आलोचना का अधिकार एक प्रकार का विलास है जिससे अवभूखे तथा अधिक काम से थके मांदे मजदूरों में लाभ उठाने की क्षमता नहीं। मजदूर तो यह चाहता है कि उसे भरपेट भोजन मिले और जीवन की सह्य अवस्थाएँ प्राप्त हों और उसे अपना जीवन अपनी इच्छानुसार सुख से बिताने के लिये पूर्ण सुयोग मिले, केवल शासन की आलोचना तथा उम्मीदवार को राय देने का निरर्थक अधिकार नहीं। साम्यवादी का यह दृढ़ विश्वास है कि शासन का ढांचा कितना ही प्रजातान्त्रिक क्यों न हो, वास्तविक सत्ता उन्हीं लोगों के हाथों में होगी जिनके पास आर्थिक सत्ता है। इस प्रकार पूंजीवादी समाज में वास्तविक प्रजातन्त्र कार्य नहीं कर सकता। वह सर्वहारा वर्ग के संक्रमणकालीन अधिनायकतन्त्र में भी अव्यवहार्य होता है। किन्तु फैसिज्म के उदय के कारण तथा फैसिस्ट शासन में साम्यवादियों को

भाषण तथा सभा सम्मेलन के स्वातन्त्र्य का निषेध होने के कारण राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र के प्रति साम्यवादियों के दृष्टिकोण में थोड़ा परिवर्तन अवश्य हुआ है। सन् १९३६ ई० के सोवियत संविधान का रूप, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, सर्वथा प्रजातान्त्रिक है।

रूसी साम्यवादियों ने सबसे पहले संसार को यह बतला दिया कि आर्थिक नियोजन सर्वसत्तावादी राज्य का एक अनिवार्य लक्षण है। वह उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य के स्वाम्य तथा समाज के औद्योगिक जीवन पर राज्य के नियन्त्रण का आवश्यक परिणाम है। यदि उत्पादन की प्रकृति तथा परिणाम का निश्चय व्यक्तिगत उद्योगपतियों पर ही नहीं छोड़ देना है वरन् राज्य द्वारा उसका निश्चय होना है तो नियोजन राज्य की आर्थिक पद्धति का एक आवश्यक अंग होगा। गृहयुद्ध के समय में भी रूस में नियोजन की व्यवस्था करनी पड़ी जिससे लाल सेना को रसद मिलती रहे। वह असन्तोषप्रद रही तथा लेनिन के सामने आर्थिक विनाश का भय आ खड़ा हुआ। उसने नवीन आर्थिक नीति की घोषणा की जिसने पूँजीपतियों को अनेक रियायतें दीं। देश की आर्थिक व्यवस्था पर उसके अच्छे परिणाम निकले। जब स्टालिन ने सत्ता ग्रहण की तो उसने उस नीति का अन्त कर दिया और राज्य ने व्यापार तथा उद्योग पर फिर से राज्य का नियन्त्रण स्थापित कर लिया। प्रथम पंच वर्षीय योजना की समाप्ति पर द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अनुसार काय किया गया और उसके फलस्वरूप रूस के उद्योगों में काफी प्रगति हुई। जर्मनी तथा इटली ने भी उसका अनुसरण किया। संसार व्यापी मन्दी तथा बाद में जर्मनी के विरुद्ध छिड़ जानेवाले युद्ध ने इङ्गलण्ड को आर्थिक नियोजन करने के लिये बाध्य किया। हमारे देश में भी नियोजन सामाजिक विकास की नीति का एक प्रमुख अंग बना हुआ है। संसार आर्थिक नियोजन के विचार के लिये सोवियत रूस का ऋणी है।

साम्यवाद ने रूस की जनता के केवल राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन का ही प्रभावकारी नियन्त्रण नहीं किया है वरन् जीवन के अन्य क्षेत्रों पर भी प्रभाव डाला है। धर्म, कानून तथा शिक्षा आदि सभी वस्तुओं का साम्यवाद के लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रयोग किया जाता है। साम्यवादी लोग धर्म के विरोधी हैं और धर्म को "जनता के लिये अफीम" मानते हैं क्योंकि धर्म हमारे कष्टों को ईश्वरीय विधान बता कर उन्हें सहन करने और शासकों की अधीनता का पाठ पढ़ाता है। साम्यवादी दल के सदस्य अनीश्वरवादी हैं। रूस में साम्यवादी शासकों ने शिक्षा, साहित्य, विज्ञान, संगीत और कला

की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्न किया है किन्तु इन क्षेत्रों में उनके काम राज्य की आर्थिक एव राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही हैं। वे ऐसे विज्ञान या दर्शन की शिक्षा की अनुमति नहीं देते जो साम्यवादी विचार धारा के विरुद्ध हो। रूस की पाठशालाओं तथा विद्यालयों के लिये पाठ्य ग्रन्थ इस उद्देश्य से निर्धारित किये जाते हैं कि तरुणों तथा बालकों के मन पर साम्यवाद के गौरव की छाप पड जाय। वहा वे कानूनों से भी यही काय लिया जाता है।

प्रश्न

१ साम्यवाद से आप क्या समझते हैं? साम्यवाद और समाजवाद में क्या भेद है?

२ कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त का सक्षेप मे वर्णन कीजिये।

३ 'इतिहास की भौतिक व्याख्या' से आप क्या समझते हैं। इस सिद्धान्त की समीक्षा कीजिये।

४ कार्ल मार्क्स के मुख्य मन्तव्यों की आलोचना कीजिये।

५ साम्यवाद और फसिज्म की तुलना कीजिये।

६ 'साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति के युग का मार्क्सवाद ही लेनिनवाद हैं'। स्टालिन की इस उक्ति को स्पष्ट कीजिये।

७ 'राज्य वह शस्त्र मात्र है जिससे सर्वहारा वर्ग अपना वर्ग-युद्ध करता है।' (लेनिन) इस उक्ति के प्रकाश मे मार्क्स, लेनिन तथा स्टालिन की राज्य सम्बन्धी कल्पनाओं को स्पष्ट कीजिये।

८ 'मार्क्स ने समाजवाद को अस्तव्यस्त दशा मे पाया परन्तु उसने उसे आन्दोलन का रूप दे दिया' (लास्की) व्याख्या कीजिये।

९ लेनिन ने मार्क्सवाद मे क्या क्या सशोधन किये? उनका मार्क्सवाद के स्वरूप पर क्या प्रभाव पडा?

१० स्टालिनवाद से क्या आशय है? स्टालिन के विचारों की समीक्षा कीजिये।

११ 'साम्राज्यवाद पूजीवाद की उच्चतम अवस्था है'। (लेनिन) इस उक्ति को स्पष्ट कीजिये।

अध्याय ९

सिण्डीकेलिज्म

पहले हम बतला चुके है कि समष्टिवाद की नीतिया एव कायक्रम समस्त समाजवादियो को माय नही है। उनमे बहुत से ऐसे व्यक्ति है जो समष्टिवादियो की राज्य भक्ति के बडे विरोधी है। वे उनके वैधानिक साधना को पसन्द नही करते और न राज्य द्वारा उद्योगो के नियन्त्रण की नीति को ही पसन्द करते है। वे यह मानते ह कि राज्य एक ऐसा माध्यम नही है जिसके द्वारा वे अभीष्ट सामाजिक परिवतन कर सके। ऐसे परिवतना को तो आवश्यकतानुसार उपयुक्त साधनो द्वारा मजदूर सङ्घो मे सगठित मजदूर ही सीधी कायवाही द्वारा कर सकते है। वे यह भी कहते हैं कि मजदूरा की दशा राज्य द्वारा नियन्त्रित उद्योगा के अन्तगत भी बुरी बनी रहेगी। उसम सुधार उसी समय सम्भव होगा जब कि स्वय मजदूरो का उन अवस्थाओ पर नियन्त्रण हो जिनम उन्ह काम करना पडता है। राजनीतिक या विकासवादी समाजवाद के विरुद्ध यह विद्रोह दो समाजवादी सम्प्रदाया—सिण्डीकेलिजम तथा गिल्ड समाजवाद—मे प्रगट हुआ। इन दोनो मे सिण्डीकेलिजम पहले का है और वह अधिक उग्र भी है। सिण्डीकेलिजम का जन्म फ्रास म हुआ। गिल्ड समाजवाद का जन्म ब्रिटेन म हुआ। वह सिण्डीकेलिजम का ही सशोधित रूप है जिसमे सिण्डीकेलिजम की अच्छी बातो का समावेश कर लिया गया है।

सिद्धान्त का वणन—

सिण्डीकेलिजम भी समाजवाद के अन्य रूपो की भाँति सामाजिक सगठन का एक सिद्धान्त और साथ ही एक कायक्रम भी है। किन्तु उसने भावी समाज का चित्र स्पष्ट अकित नही किया है। उसके सिद्धान्तकारा ने इस समस्या पर अधिक ध्यान नही दिया। इसके कई कारण हैं। सिण्डीकेलिजम का अवसरवादी तथा व्यावहारिक रूप ही इसके लिये उत्तरदायी है। यह बात

स्मरण रखने योग्य है कि सिण्डीकेलिज्म का जन्म एक सिद्धान्त के रूप में नहीं, बल्कि फ्रांस में एक मजदूर आन्दोलन के रूप में हुआ और इस सिद्धान्त का विकास उस आन्दोलन में से ही हो गया। इस मामले में यह समाजवाद, साम्यवाद और अराजकतावाद के विरुद्ध है, जिनके संस्थापक कार्ल मार्क्स, ऐंगेल्स, लेनिन तथा प्रिंस क्रोपॉटकिन जैसे उच्च कोटि के विद्वान् थे। सिण्डीकेलिज्म के इतिहास में ऐसे कोई बड़े नाम नहीं आते। उसके सिद्धान्तकार ऐसे व्यक्तियों में से हैं जिन्हें शारीरिक श्रम का अनुभव था। वह एक सच्चे अर्थ में मजदूर वर्ग का आन्दोलन है, समाजवाद के अन्य रूपों का प्रादुर्भाव मध्य-वर्ग के सिद्धान्तकारों के मस्तिष्कों में हुआ जिनमें से किसी को शारीरिक श्रम का व्यक्तिगत अनुभव नहीं था। इस व्यापक भावना के कारण कि जब मजदूर समाज के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेंगे तब स्वयं ही नवीन सामाजिक संगठन का विकास हो जायगा, इस आन्दोलन के सिद्धान्तकारों ने उस भावी रूप के प्रश्न पर विचार नहीं किया जिसे भावी सिण्डीकेलिस्ट समाज धारण करेगा। फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस समाज में उत्पादन के समस्त साधनों पर सामाजिक स्वाम्य होगा परन्तु उनका वास्तविक प्रयोग मजदूरों के हाथों में होगा जो मजदूर संघों के रूप में संगठित होंगे। फ्रेंच भाषा में मजदूर-संघ को 'सिण्डीकेट' कहते हैं। ये सिण्डीकेट ही अपने अपने क्षेत्र में माल के उत्पादन तथा सेवाओं की व्यवस्था करेंगे। समस्त उद्योगों के स्थानीय सिण्डीकेट 'बूर्स दु ट्रैवल' में संगठित किये जायेंगे जिसके द्वारा उनका परस्पर एक दूसरे से सम्बन्ध होगा और जो राज्य के विभिन्न भागों के बीच पण्यों के विनिमय की व्यवस्था करेंगे। प्रत्येक व्यापार या उद्योग के लिये एक राष्ट्रीय फेडरेशन होगा परन्तु उद्योग पर नियन्त्रण स्थानीय 'बूर्स' का होगा। इस संगठन का फ्रांस के वर्तमान मजदूर आन्दोलन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये सिण्डीकलिज्म को भली भांति समझने के लिये उसको समझ लेना परम आवश्यक है।

भावी समाज में, जिसकी सिण्डीकेलिस्ट कल्पना करते हैं, राजनीतिक राज्य जैसी कोई वस्तु नहीं होगी। सिण्डीकेलिस्ट केन्द्रीय शासन का सर्वथा विनाश चाहता है। केन्द्रीय शासन की सत्ता का विनाश करने और औद्योगिक आत्म-साहाय्य तथा व्यक्तिवाद पर जोर देने में सिण्डीकेलिज्म अराजकता का अनुसरण करता है जिसका एक प्रमुख व्याख्याकार प्रोधो (Proudhon) है जिससे सिण्डीकेलिस्टों ने प्रेरणा प्राप्त की। सिण्डीकेलिज्म के अनुसार भावी समाज किसान मजदूरों के छोटे छोटे

समुदायों का, जो सहकारी पद्धति के अन्तर्गत उत्पादन पर नियन्त्रण करेंगे (उसमें कोई केन्द्रीय शासन नहीं होगा), एक शिथिल संघ होगा । इस कल्पना के लिये भी सिण्डीकेलिज्म अराजकतावाद का ऋणी है । एक अंग्रेज लेखक ने तो उसे "सङ्गठित अराजकता" कहा है ।

सिण्डीकेलिज्म की प्रमुख विशेषताएँ हैं केन्द्रीय दमनकारी सत्ता का विरोध तथा सिण्डीकेलिस्ट समाज की स्थापना में सांविधानिक उपायों से प्रयोग से घृणा । इसके उपयुक्त कारण मालूम करना वाञ्छनीय है । इसका आंशिक कारण तो यह है कि फ्रेंच मजदूरों के प्रति राज्य का व्यवहार बहुत ही शत्रुतापूर्ण और उद्योगपतियों के साथ अत्यन्त मैत्रीपूर्ण रहा है । फ्रेंच राज्य ने बड़ी अनिच्छापूर्वक मजदूरों के अपने वैध अधिकारों एवं हितों की रक्षा के लिये सङ्गठन तथा कार्य करने के अधिकार को स्वीकार किया है । १९वीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी तथा २०वीं शताब्दी के आरम्भ में बहुत से फ्रेंच राजनीतिज्ञों ने जिन्होंने समाजवादी के रूप में राजनीति में प्रवेश किया मजदूर हड़तालियों के दमन में सैन्य दलों का प्रयोग किया । समाजवादी मिलरां का उदाहरण प्रसिद्ध है जिसने सन् १८९९ ई० में वाल्डेक रूसो के मन्त्रिमण्डल में पद ग्रहण किया था । इस प्रकार के अनुभवों से सिण्डीकेलिस्टों में यह विश्वास पैदा हो गया कि राज्य आवश्यक रूप में पूँजीवादी या मध्यवर्गीय संस्था है जिसका मुख्य कार्य शान्तिकाल में राष्ट्र के भीतर मजदूरों के विरुद्ध और युद्ध-काल में बाहरी शत्रु से पूँजीवादी समुदायों की रक्षा करना है । इस प्रकार वे मार्क्स की इस उक्ति को मानते हैं कि राज्य पूँजीवादी शोषण का एक यन्त्र है जो अपनी प्रकृति के कारण ही मजदूरों के हितों के प्रति सहानुभूति नहीं रख सकता । उस सामाजिक सङ्गठन का रूप चाहे जो कुछ हो जिसमें राज्य विद्यमान है उसकी यह प्रकृति कायम रहेगी । इस प्रकार अनुभव तथा सिद्धान्त दोनों ही से राज्य के विरुद्ध अविश्वास उत्पन्न हुआ ।

सिण्डीकेलिस्टों के राज्य के विरोध का एक दूसरा कारण यह है कि सिण्डीकेलिस्ट उपभोक्ता के दृष्टिकोण की अपेक्षा उत्पादक के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है जब कि राज्य उपभोक्ता का प्रतिनिधित्व करता है—उत्पादक का नहीं । जो अधिकार एवं सत्ता राज्य में निहित होगी वह उपभोक्ताओं की ही सत्ता होगी । सिण्डीकेलिज्म के अनुसार मजदूरों को न केवल आर्थिक व्यवस्था पर वरन् राजनीतिक व्यवस्था पर भी नियन्त्रण,

करना चाहिये क्योंकि वे ही सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं।* समाज के जीवन में उनके महत्व के कारण सिण्डीकेलिस्ट लोग मजदूरों का राष्ट्रीय जीवन में एक नया उच्च, गौरवपूर्ण और स्वतन्त्र स्थान देना चाहते हैं, जिसके वे, अपने काम के कारण, उपयुक्त हैं। समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन पर मजदूरों के नियन्त्रण पर वे जो ज़ोर देते हैं, उसमें उनकी समष्टिवाद से भिन्नता प्रकट होती है। इसी से उसे शक्ति और उसका विशिष्ट रूप मिलता है। सिण्डीकेलिस्टों का ध्येय मजदूरों की दशा में केवल सुधार करना ही नहीं है, वे केवल मजदूरी बढ़ाने, काम के घण्टे कम कर देने या उद्योग में सुधार से ही सन्तुष्ट नहीं होते। साधारण समाजवादियों ने मजदूरों को मुनाफे में हिस्सा देने, उद्योगों का मालिकों तथा मजदूरों की समितियों द्वारा प्रबन्ध और इन दोनों के बीच विवादों के पंचायती निर्णय आदि की जिन योजनाओं को प्रस्तुत किया है, उनमें सिण्डीकेलिस्टों को कोई आकर्षण नजर नहीं आता। सिण्डीकेलिस्ट मजदूरों को ऐसी स्थिति में रख देना चाहता है, जिसमें वे स्वयं अपने काम तथा जीवन की अवस्थाओं का निर्णय कर सकेंगे जिनमें उनकी रचनात्मक शक्ति का प्रदर्शन तथा व्यक्तित्व का विकास हो सकेगा। दूसरे शब्दों में, सिण्डीकेलिज्म मजदूरों को समाज में सत्ता के पद पर देखना चाहता है। यह सब उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक उत्पादन के भौतिक साधनों पर पूंजीपति का अधिकार एवं नियन्त्रण है। जब तक पूँजी पर से व्यक्तिगत स्वामित्व न उठा दिया जायगा तब तक मजदूरों का सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा शोषण होता रहेगा।

इस प्रकार सिण्डीकेलिज्म पूंजीपतियों तथा मजदूरों के बीच वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को जा पहुँचता है जो कार्ल मार्क्स का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह इस धारणा पर चलता है कि मजदूरों तथा पूँजीपतियों में कोई भी समझौता सम्भव नहीं है उनमें सनातन संघर्ष रहेगा। अपने सुधार के लिये मजदूरों का उत्पादन के साधनों पर अधिकार प्राप्त करना होगा। इसके लिये पूँजीपतियों का निष्कासन तथा उसके समर्थक राज्य

---

*सिण्डीकेलिज्म के अनुसार समाज सारतः सम्पत्ति के उत्पादकों का एक समुदाय है। 'उत्पादक की हैसियत में मनुष्य का जो प्राथमिक काम है उसी से उसकी सामाजिक मनोवृत्ति का निर्माण होता है।' (Wasserman Op cit, p 123)

का विनाश आवश्यक है।* इस प्रकार सिण्डीकेलिज्म के सिद्धांत का एक भाग अर्थात् समाज के आर्थिक आधार सम्बन्धी धारणा तथा वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त कार्ल मार्क्स की देन है। इसे हम मार्क्सवाद, अराजकतावाद और क्रांतिकारी मजदूर संघवाद का मिश्रण कह सकते हैं। इन तीनों के कुछ अंशों से एक नये सिद्धांत का निर्माण हुआ।

सिण्डीकेलिज्म की प्रणाली—

सिण्डीकेलिस्टों ने अपने ध्येय की प्रकृति पर इतना जोर नहीं दिया जितना उसकी प्राप्ति के साधनों पर। राज्य के प्रति मजदूरों तथा पूँजीपतियों में समझौते की सम्भावना में अविश्वास के कारण ही उन्होंने साविधानिक मार्ग को अस्वीकार करके सीधी कार्यवाही की प्रणाली को ग्रहण किया है। सामाजिक संगठन में शान्तिमय क्रांति पैदा करने के लिये संसद में बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से वे चुनावों का समर्थन नहीं करते। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, फ्रांस में समाजवादी मंत्रियों के सम्बन्ध में उनका अनुभव बड़ा कड़ुआ था। उनके लिये अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्ति के निमित्त वर्गीय चेतना तथा क्रांतिकारी भावना को तीव्र रूप देना अनिवार्य है। यदि संसद प्रणाली को स्वीकार किया जाय तो ये दोनों ही कुंठित हो जायगी। संसद का मजदूर-सदस्य अपनी क्रांतिकारी भावना खो बैठेगा और उसमें साविधानिक सुधार की भावना जागृत हो जायगी। वह संसद में अपने निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने जाता है, मजदूरों के हितों की लड़ाई लड़ने नहीं। ऐसे प्रतिनिधियों से मजदूरों को अधिक आशा नहीं रखनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं है कि सब मजदूर एक साथ मिलकर मत दें राजनीतिक प्रश्नों पर उनके विचार भिन्न हो सकते हैं। संसदीय कार्यों में सफलता प्राप्त करना आसान बात नहीं है। इन कारणों से सिण्डीकेलिस्टों ने संसद प्रणाली को त्याग दिया है जिसका समष्टिवादी बड़े प्रबल रूप से अनुमोदन करते हैं और वे आर्थिक क्षेत्र में सीधी कार्यवाही (Direct Action) के पक्ष में हैं।

हड़ताल तथा सेबोटाज (Sabotage) सीधी कार्य प्रणाली के दो

---

* पश्चिमी प्रजातन्त्रीय राज्य, जैसे इंगलण्ड, फ्रांस और अमेरिका का संयुक्त राज्य प्रायः पूँजीवादी प्रजातन्त्र कहे जाते हैं। राजसत्ता पूँजीपतियों के हाथ में है अतः राज्य भी पूँजीपतियों के पक्ष में रहता है।

रूप है। लेबल (Label) और बहिष्कार (boycott) भी दो छोटे अस्त्र है। लेबल' का प्रयोग केवल सिण्डीकेलिस्ट ही नही करते, इसका प्रयोग समस्त ससार के देशो म सङ्गठित मजदूरो द्वारा किया जाता है। 'लेबल से यह मालूम होता है कि अमुक पण्य ऐसे कारखाना मे तयार किया गया है, जिसमे मजदूर सङ्घ के मजदूर काम करते हैं। उपभोक्ता ऐसे माल को खरीदने से इकार करके जिस पर निश्चित मजदूर सङ्घ का लेबल न हो मिल मालिको पर भारी प्रभाव डाल सकते हैं। बहिष्कार के भी अनेक रूप हो सकते है। माल की निन्दा, गलत समाचारो का प्रचार तथा कारोबार के गुप्त भेदो को प्रकट कर देना भी ऐसे तरीके है जिनका सीधी कार्यवाही मे प्रयोग किया जाता है। सेबोटाज' का अर्थ है उद्योग की सुव्यवस्थित प्रक्रिया म गुप्त रूप से बाधा डालना। मालिक के कारखाने मे काम करते हुए मजदूर अनेक उपायो से मालिक के मुनाफे मे कमी कर सकता है और उसे घाटा दे सकता है। जसी तेरी कोमरी, वसे मेरे गीत' के सिद्धान्त पर वह ठीक काम नही करता। वह तयार माल को नष्ट कर देता है तथा मशीनो को अस्तव्यस्त कर देता है। वह समस्त नियमो का इस प्रकार से अक्षरश पालन करता है कि उत्पादन के परिमाण म कमी हो जाय। सेबाटाज के कुछ रूप तो नतिक दृष्टि से उचित नही है किन्तु उनके समर्थक उनका यह कहकर अनुमोदन करते हैं कि वे युद्ध के अङ्ग है।

सीधी कार्यवाही का सबसे प्रभावकारी ढग है हडताल। सिण्डीकेलिस्ट हडताल को सबसे अधिक महत्व देते हैं। हडताल एक ही कारखाने तक या एक ही उद्योग तक सीमित हो सकता है। वह स्थानिक, प्रादेशिक अथवा राष्ट्रीय भी हो सकती है। सबसे उत्तम हडताल सामान्य हडताल (General Strike) है जिसका आशय है किसी महान् आधारभूत उद्योग या उद्योगो मे बडी विशाल सख्या मे मजदूरो द्वारा हडताल जिससे वह उद्योग अस्तव्यस्त हो जाय और इस प्रकार समाज मजदूरो की शक्ति का अनुभव करे। इक्के दुक्के कारखानो में हडताल से सामान्य हडताल के लिये तयारी होती ह। उनसे मजदूर-वर्ग में सगठन बढता है, चेतना एव उत्साह पैदा होता है और मजदूरो तथा पूँजीपतियो में भेद तीव्रतम हो जाता है। यदि हडतालें असफल भी रहे, तब भी इनसे ये लाभ तो होते ही हैं। सामान्य हडताल के सिद्धान्त का विकास सोरेल ने किया है जो सिण्डीकेलिज्म का दार्शनिक माना जाता

है। वह उसे एक कल्पना * (Myth) मानता है इस कारण उस पर विचार या विवाद नहीं हो सकता।

सीधी कार्यवाही के किसी भी कार्यक्रम को सम्भव या सफल बनाने के लिये सिण्डीकलिस्टों को मजदूरों का सङ्गठन मजदूर-संघों या सिण्डीकेटों के रूप में करना चाहिये। सिण्डीकेट के सदस्य के रूप में ही मजदूरों में वर्ग चेतना का विकास हो सकता है जो अत्यन्त आवश्यक है।

सिण्डीकेलिज्म का मूल्यांकन—

सिण्डीकेलिज्म के विरुद्ध आपत्तियाँ दो विभिन्न वर्गों की ओर से की गई है। कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनको समाज की औद्योगिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का नियन्त्रण पूर्ण रूप से मजदूरों के हाथ में देने में खतरा दिखाई देता है। वे कहते है कि उपभोक्ताओं के कुछ उचित हित है जिनका संरक्षण होना चाहिये। इसका कोई निश्चय नहीं कि औद्योगिक मजदूर सत्ता का दुरुपयोग करके उपभोक्ताओं के हितों पर आघात नहीं करेंगे। गिल्ड-समाजवादी इस खतरे का अनुभव करके उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिये उन्हें प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था करते है। अनेक समाजवादी लेखकों ने सुधार प्राप्ति के लिये सांविधानिक उपायों का मूल्य बतलाया है। यदि मजदूरों में अनुशासन और एकता हो जिसके बिना साधारण हड़ताल कभी सफल नहीं हो सकती, तो इन गुणों की सहायता से सांविधानिक उपायों द्वारा ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती हो है। वह धीरे धीरे अवश्य होगी। वास्तव में, यदि मजदूर संसद में बहुमत प्राप्त कर ले तो सफलता की सम्भावना अधिक है (जैसा हाल में इंगलैंड में हुआ है) और वह सफलता स्थायी भी होगी। वे इन दोनों रीतियों को शामिल करने पर जोर देते है इस सम्बन्ध में भी, गिल्ड समाजवादी सिण्डीकेलिज्म के सिद्धान्त में जो मूल्यवान बात है, उसे ग्रहण कर लेता है और जिस वस्तु का वह निषेध करता है उसे स्वीकार करके उसकी एक पक्षीयता को दूर कर देता है।

हड़तालों की सफलता या कार्यसाधकता के सम्बन्ध में भी सन्देह किया जाता है। असफल हड़तालों से मजदूरों का नैतिक पतन हो जाता

---

*A myth is a body of images capaple of evoking sentiment instinctively '(Sorel)

है। उन से मजदूरो मे वर्ग संघर्ष की चेतना तीव्रतम होने के स्थान पर शिथिल हो जाती है। उनसे निर्दोष तीसरे पक्ष की हानि होती है जिसकी सहानुभूति मजदूर इस प्रकार खो देते हैं। बहुत से समाजवादियो का यह भी विश्वास है कि समस्त मजदूरो को चुनाव मे मत देने के लिये एकत्रित करना सामान्य हडताल के लिये उनका समर्थन प्राप्त करने से अधिक आसान है।

सिण्डीकेलिस्टो ने इन आलोचनाओं के औचित्य को स्वीकार करना आरम्भ कर दिया है। अब यह सिद्धान्त धीरे धीरे नरम होता जा रहा है जिससे सिण्डीकेलिज्म तथा समाजवाद के बीच का भेद अस्पष्ट होता जा रहा है। जब प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ, तो फ्रान्स के राष्ट्रीय मजदूर-संघ (French General Federation of Labour) ने राज्य विरोध और सैन्य विरोध का परित्याग कर दिया, समाजवादियो से मिलकर सरकार के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया और युद्ध प्रयत्न मे सहायता दी। प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त अधिकाश सिण्डीकेलिस्टो ने मजदूरो को यह सलाह दी कि वे सिण्डीकेलिज्म की वर्ग-युद्ध की पुरानी भावना का परित्याग करके उद्योगो के विशेषज्ञो, प्रबन्धको तथा वैज्ञानिको के साथ सहयोग करके आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि करें। इन बातो से सिण्डीकेलिस्ट विचारधारा में नवीन प्रवृत्तियो का परिचय मिलता है।

प्रश्न

१ सिण्डीकेलिज्म की मुख्य बातो का वर्णन कीजिये।

२ सिण्डीकेलिज्म के गुण दोषो पर प्रकाश डालते हुए उसका मूल्याकन कीजिये।

३ सिण्डीकेलिज्म की [illegible] विवेचन कीजिये।

४ साम्यवाद और सिण्डीकेलिज्म की तुलना कीजिये।

५ 'सिण्डीकेलिज्म सङ्गठित अराजकता है।' व्याख्या कीजिये।

६ समष्टिवाद, सिण्डीकेलिज्म और साम्यवाद की तुलना कीजिये और बतलाइये कि आधुनिक जीवन की राजनीतिक सामाजिक एव आर्थिक समस्याओं का समाधान सर्वश्रेष्ठ रूप मे इन सिद्धान्तो मे से किस के द्वारा हो सकता है।

अध्याय १०

गिल्ड-समाजवाद (श्रेणि-समाजवाद)

सिण्डीकेलिज़्म का सिद्धान्त अपने जन्मस्थान फ्रांस से इङ्गलण्ड पहुँचा जहां उसने कुछ परिवर्तन के बाद गिल्ड समाजवाद (Guild socialism) का रूप ग्रहण किया। अपने प्रारम्भिक रूप में सिण्डीकेलिज़्म इतना क्रान्तिकारी एवं अराजकतावादी था कि वह इङ्गलंड के वातावरण के अनुकूल नहीं था। परन्तु उसमें ऐसे विचार हैं जिनकी कोई भी व्यक्ति, जो समाज की नवीन व्यवस्था करना चाहता है, उपेक्षा नहीं कर सकता। समष्टिवाद पूँजीवाद के दोषों को दूर करने में असफल रहता है, कुछ विचारकों के अनुसार तो वह पूँजीवादी नौकरशाही के स्थान पर राज्य की नौकरशाही को बिठा देता है। वह मजदूरों को उनकी अभीष्ट वस्तु अर्थात् वह सत्ता नहीं दे सकता जिससे वे अपने जीवन तथा काय की अवस्थाओं का निर्धारण कर सकें। सिण्डीकेलिज़्म यही बात चाहता है। परन्तु वह उपभोक्ताओं के हितों की उपेक्षा करता है और राजनीतिक प्रणाली या संविधानिक पद्धति का परित्याग करके बड़ी भूल करता है। उसकी स्थिति उस मल्ल के समान है जो अपने प्रतिद्वन्द्वी के साथ मल्लयुद्ध में अपने हाथ को पहले ही से पीठ पीछे बाँध लेता है गिल्ड समाजवाद सिण्डीकेलिज़्म तथा समष्टिवाद में जो श्रेष्ठ तत्व हैं, उन्हें ग्रहण कर लेता है। वह एक के श्रेष्ठ तत्वों को ग्रहण कर दूसरे के दोषों का परिहार कर देता है। इस प्रकार गिल्ड-समाजवाद इन दोनों के मध्य का मार्ग है।* यद्यपि वह सिण्डीकेलिज़्म तथा समष्टिवाद के विरोधी

---

*Guild Socialism is the 'intellectual child of English Fabianism and French Syndicalism (Rockow Contemporary Political Thought in England p 150)

दृष्टिकोणों में एक सामंजस्य स्थापित करता है तो भी उसकी मूल प्रेरक शक्ति उसे सिण्डीकेलिज्म से ही प्राप्त होती है।

गिल्ड समाजवाद के मूल तत्व—

गिल्ड समाजवाद का ध्येय उद्योग में उन लोगों के स्वराज्य की स्थापना करना, जो उसमें संलग्न है तथा वर्तमान वेतन प्रथा का अंत करना है। सिण्डीकेलिज्म की भांति वह यह मानता है कि मजदूरों को जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह अधिक भौतिक कल्याण ही नहीं वरन् ऐसी अवस्था का निर्माण है, जिसमें उनकी रचनात्मक वृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण हो सके। समाज के एक सर्वथा नवीन आधार पर नव निर्माण की आवश्यकता है, जिसके द्वारा वर्तमान अत्याचारों एवं दोषों के सभी स्रोतों का नाश हो सके। इसके लिये व्यक्तिगत पूँजी का नाश ही आवश्यक नहीं है वरन् समाज के राजनीतिक संगठन में आमूल चूल परिवर्तनों की भी आवश्यकता है।* गिल्ड समाजवादी समष्टिवादी की इस बात को तो स्वीकार कर लेता है कि राज्य या समाज का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होना चाहिये परन्तु उससे इस बात में सहमत नहीं है कि उद्योगों का वास्तविक संचालन सरकार के हाथों में हो। वह उसे प्रत्येक उद्योग में गिल्डों (Guilds) के रूप में संगठित मजदूरों के हाथों में रखना चाहता है। इस प्रसंग में उसमें और सिण्डीकेलिस्टों में मतैक्य है। एक गिल्ड में एक उद्योग में काम करनेवाले सभी व्यक्ति सम्मिलित होंगे—एक चपरासी से लेकर एक विशेषज्ञ तथा प्रबन्धक तक।† प्रत्येक कारखाना अपने प्रबन्धक का चुनाव करने में स्वतन्त्र होगा और प्रत्येक कारखाना राष्ट्रीय गिल्ड द्वारा किसी उद्योग के लिये निर्धारित नीति के अनुसार उत्पादन की रीतियों पर नियन्त्रण करने में भी स्वतन्त्र होगा। प्रत्येक स्थानिक गिल्ड के प्रतिनिधि प्रादेशिक गिल्ड में भेजे जायेंगे

---

* Guild Socialism was and remains a kind of anaemic version of F... S... (Hallowell Main Currents in Modern Political Thought p 469)

†The guild is a self governing association of mutually dependent people organized for responsible discharge of a particular function of society (Orage quoted in Hallowell Op cit p 467)

और प्रत्येक प्रादेशिक गिल्ड अपने प्रतिनिधि राष्ट्रीय गिल्ड के लिए चुन कर भेजेगा। स्थानिक, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय सभी गिल्डों का संगठन प्रजातान्त्रिक आधार पर होगा। राष्ट्रीय गिल्ड उद्योगों के साधारण हितों तथा वस्तुओं के क्रय विक्रय के सम्बन्ध में व्यवस्था करेगा। इस प्रकार गिल्ड-समाजवादी लोग उद्योग में स्वराज्य की स्थापना करेंगे। परन्तु यह सब सिण्डीकेलिस्ट योजना का ही विशद रूप है। उसके प्रस्तावों में जो कुछ भी नवीन वस्तु है वह है समस्त उपभोक्ताओं एवं उत्पादन करने वालों के बराबर प्रतिनिधियों की एक सर्वोच्च संयुक्त समिति (Supreme Joint Committee) स्थापित करना। इस संयुक्त समिति का काम प्रत्येक गिल्ड के लिये कर निर्धारित करना, जो उसे राज्य को अदा करना पड़ेगा, वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करना और यह निर्णय करना होगा कि किसी गिल्ड ने अपने हितों को अधिक महत्व देकर समाज के हित की उपेक्षा करके अपने निक्षेप (Trust) का उल्लंघन तो नहीं किया है। इस संयुक्त समिति के द्वारा उपभोक्ता उन विषयों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर सकेंगे जिनसे उनका सम्बन्ध है। इस प्रकार सिण्डीकेलिस्ट योजना में जो भारी कमी है वह गिल्ड समाजवादी योजना में नहीं है। इसमें उत्पादन करनेवालों के हाथों में उद्योगों का नियन्त्रण सौंपने के सिद्धान्त को छोड़े बिना उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिये व्यवस्था की गई है। गिल्ड-समाजवादी व्यवस्था में राज्य-समाजवादियों के दृष्टिकोण का, जो मनुष्यों को केवल उपभोक्ता के रूप में ही देखते हैं, सिण्डीकेलिस्टों के दृष्टिकोण के साथ, जो मनुष्यों को केवल उत्पादन करने वालों के रूप में ही देखते हैं, सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। इस प्रकार गिल्ड-समाजवाद सिण्डीकेलिज्म तथा राज्य-समाजवाद के बीच में सन्तुलन स्थापित करता है।

ऊपर जिस योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है उसका सार समाज की उत्पादन-सम्बन्धी क्रियाओं को राजसत्ता से स्वतन्त्र कर देना और मजदूरों को पूँजीपतियों के शोषण से भी मुक्त कर देना है। अब प्रश्न यह उठता है कि गिल्ड-समाजवादी की कल्पना में राज्य की क्या स्थिति होगी और उसके क्या कार्य होंगे। इस सम्बन्ध में गिल्ड-समाजवादी लेखकों के विचारों में मतैक्य नहीं है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि वे सिण्डीकेलिस्टों अथवा अराजकतावादियों के समान राज्यविरोधी

नही हैं। वे यह मानते हैं कि देश रक्षा, अपराधो आदि से रक्षा, शिक्षा, कानून, कर-निर्धारण, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और अन्य राजनीतिक कार्यों का नियमन तो वर्तमान् पार्लामेंट के समान सङ्गठित सस्था द्वारा ही सम्भव है, जिसमे नागरिकों के प्रतिनिधि होते हैं। इस प्रकार की सस्था राजनीतिक मामलो मे स्वतन्त्र होगी और राष्ट्रीय गिल्ड काग्रेस समस्त औद्योगिक मामलो मे सर्वोपरि होगी। इन दोनो सस्थाओ के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय मे भी लेखको मे मतभेद हैं। इस समस्या पर जो दो विभिन्न विचारधाराएँ हैं उनके प्रतिनिधि हॉब्सन और कोल हैं।

हॉब्सन के अनुसार राज्य समाज के विभिन्न अंशो के प्रतिनिधि समुदायो से भिन्न समाज का प्रतिनिधि है। अत सैद्धान्तिक रूप से उसे उन सब के ऊपर होना चाहिये। वह सत्ता का आदि स्रोत बना रहेगा और विभिन्न समुदायो के बीच जो विवाद होंगे उनके सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय देगा। राज्य को सर्वोच्च स्थान अथवा प्रभुत्व देने में हॉब्सन के विचार राज्य-समाजवादियो के समान है। दोनो में अन्तर केवल इतना ही है कि राज्य-समाजवादियो की अपेक्षा हॉब्सन ने राज्य को बहुत कम कार्य सौंपे हैं। उनके अनुसार औद्योगिक गिल्ड समस्त आर्थिक कार्यों को अपने हाथ में लेकर राज्य के लिये केवल राजनीतिक कार्य ही छोड देगा। राज्य उद्योग के नियन्त्रण एव नियमन का कार्य नही करेगा परन्तु जब सार्वजनिक नीति से सम्बद्ध कोई ऐसा प्रश्न उपस्थित होगा जिसका नागरिको पर प्रभाव पडता हो जैसे सस्ते विदेशी मजदूरो की भर्ती या वेतन प्रणाली की प्रतिष्ठा, तो वह अपनी सत्ता का प्रयोग करेगा। इस प्रकार हॉब्सन राज्य को केवल राजनीतिक कार्य ही प्रदान करता है। वह केवल उसके कार्यों को सीमित करता है।

कोल बहुवादी है। वह राज्य को सब समुदायो के ऊपर नही मानता। उसके विचार में वह एक आवश्यक सस्था है, जो उपभोक्ताओ की प्रतिनिधि है परन्तु किसी प्रकार भी उसका उन सस्थाओ पर प्रभुत्व नहीं हैं जो उत्पादन करनेवालो, समान धर्मवालो अथवा अन्य प्रकार के समान लोगों की प्रतिनिधि हैं। उसे अन्य सस्थाओ के समकक्ष ही स्थान मिलना चाहिये। उसे अपने विशेष कार्यों के सम्पादन के लिये आवश्यक सत्ता ही मिल सकती है, परन्तु वह सर्वोच्च या प्रभुतासम्पन्न नही हो सकता जिस स्थिति मे हॉब्सन ने उसे रक्खा है।

यदि हम हॉब्सन तथा कोल के बीच जो मतभेद है उस पर ध्यान

न द और केवल उन कार्यों पर विचार करें जिन्हें गिल्ड समाजवाद राज्य को सौंपता है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि गिल्ड-समाजवाद का माग समष्टिवाद और सिण्डीकेलिज्म के बीच का माग है। समष्टिवाद के सिद्धान्त के द्वारा राज्य पर जो जोर दिया गया है, उसका वह परित्याग कर देता है और सिण्डीकेलिज्म के द्वारा राज्य का जो निषेध किया गया है, उसे वह स्वीकार नहीं करता। वह राज्य को कायम रखता है परन्तु उसके काय बहुत कम कर देता है।

जब हम गिल्ड-समाजवाद द्वारा उद्योगो पर मजदूरो क नियन्त्रण को स्थापित करने और उनकी भावना के अनुसार मजदूरो की एक सहयोगी सस्था (Commonwealth) स्थापित करने के सम्बन्ध मे गिल्ड-समाजवाद की रीतियो पर विचार करत है तब भी हम उसमे सिण्डीके लिज्म और समष्टिवाद के बीच के माग को स्वीकार करने की प्रवृत्ति देखत हैं। गिल्ड-समाजवादी भी ससदीय प्रणाली की व्यथता का अनुभव करते है और राजनीतिक काय का विरोध करते है, परन्तु व उसका पूण रूप मे त्याग नही करते। वे उसे मजदूर-वग को शिक्षा देने और पूजीवादी वग क कार्यों के अवरोध के लिय एक साधन के रूप म कायम रखते हैं। जब तक वतमान राज्य का सङ्गठन और उसकी काय-पद्धति जसी इस समय विद्यमान है, वैसी ही बनी रहेगी, तब तक केवल व्यवस्थापन विधि द्वारा वतमान पूजीवादी व्यवस्था में गिल्ड-समाजवादी व्यवस्था की ओर अग्रसर होना सम्भव नही है। इस कारण वे आर्थिक साधनो एव रीतियो पर निभर रहते हैं। परन्तु ये आर्थिक साधन हडताल या सेबोटाज नही है, जिनका सिण्डीकेलिस्ट समथन करते हैं। अधिकाश गिल्ड समाजवादी वतमान पूजीवादी समाज का हिंसात्मक ढङ्ग स उलट देने के सवथा विरुद्ध हैं। उनका यह विश्वास है कि वतमान व्यवस्था से नवीन व्यवस्था की ओर परिवतन क्रमश विकासवादी ढङ्ग से होगा, यद्यपि वह नियोजित और निश्चित रूप म होगा। इस प्रक्रिया मे सबस प्रथम पग के रूप म वे वतमान मजदूर-सभाओ का सङ्गठन इस प्रकार करना चाहते हैं जिसस व आकार में बडी तथा सख्या में कम हो जायँ, उनके सङ्गठन म किसी भी एक उद्योग मे लग सभी व्यक्ति एक गिल्ड म सम्मिलित किये जायँगे। उनका सङ्गठन समाज की ओर स उद्योगों क सचालन क निमित्त किया जायगा, पूजीपतियो स लडाई लडन क लिय नही। ये सुसङ्गठित मजदूर-सभाएँ उत्तरोत्तर बढत हुये नियन्त्रण की नीति (Encroaching Control) स्वीकार करेंगी जिसका उद्देश्य 'थोडा-

थोडा करके नियन्त्रण के उन समस्त कार्यों को मजदूरों के हाथों में दे देना है जो इस समय पूँजीपतियो के हाथो में हैं।' इससे उन्हें अपने फोरमैन (Foreman) का चुनाव करने, मजदूरों को नियुक्त करने तथा अलग रख देने और अनुशासन के नियमों का अधिकार प्राप्त हो जायगा। इन मजदूर-सभाओं का दूसरा कार्य सामूहिक ठेके (Collective Contract) के सिद्धान्त को लागू करना है। इसका अर्थ यह है कि उद्योगपति प्रत्येक मजदूर को उसके काम के लिये मजदूरी देने की जगह पूरे काम के लिये एक मुश्त रकम दे देगा और मजदूर अपने नियमों के अनुसार उसे परस्पर बाँट लेंगे। उद्योगपति जब इन दोनों विधियों को स्वीकार कर लेंगे तो इन से मजदूरों को नियन्त्रण एवं प्रबन्ध का बहुमूल्य अनुभव प्राप्त होगा। उद्योगों पर पूँजीवादी नियन्त्रण को धीरे धीरे हटाकर मजदूरों का नियन्त्रण कायम करने में यह एक अग्रगामी पग होगा।

यद्यपि गिल्ड-समाजवादी शान्तिमय तथा विकासवादी परिवर्तन चाहते हैं, तथापि वे पूँजीपतियों की ओर से विरोध होने पर या अन्य किसी स्थिति में आवश्यकतानुसार हिंसा के प्रयोग का निषेध नहीं करते। गिल्ड-समाजवाद की रीतियों की प्रकृति कोल के निम्नलिखित शब्दों द्वारा भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। "जिस ध्येय की पूर्ति करनी है, वह प्रारम्भ में ही क्रान्ति नहीं है वरन् विकासवादी ढङ्ग से समस्त शक्तियों का सङ्गठन इस प्रकार कर लेना है जिससे क्रान्ति, जो एक अर्थ में अवश्य होगी, गृह-युद्ध का कम से कम रूप धारण कर सके और जो सिद्ध तथ्यों की स्वीकृति तथा पहिले से ही क्रियाशील प्रवृत्तियों की अन्तिम परिणति के रूप में ही यथासम्भव अधिक से अधिक प्रकट हो।"*

व्यावसायिक सिद्धान्त—

भावी गिल्ड-समाजवादी समाज के सम्बन्ध में अपने विचारों का विकास करने के सम्बन्ध में कोल और हाब्सन दोनों ने व्यावसायिक सिद्धान्त

---

* The thing to be aimed at is not early revolution but the consolidation of all forces on the lines of revolutionary development with a view to making the revolution which in a sense must come, as little as possible a civil war and as much as possible a registration of accomplished facts and a culmination of tendencies already in operation Quoted by Coker Recent Political Thought p 271

(Functional Principle) का विस्तृत रूप से प्रयोग किया है। उन्होने वर्तमान प्रजातान्त्रिक संस्थाओ की आलोचना करने मे भी उसका प्रयोग किया है। गिल्ड-समाजवाद के दर्शन मे उसका महत्वपूर्ण स्थान है। आजकल की प्रणाली के अनुसार राष्ट्रीय पार्लमेण्ट मे एक या दो प्रतिनिधियो को एक नियत प्रादेशिक क्षेत्र से चुन कर भेज देने से सच्चा प्रजातन्त्र कार्यान्वित नही हो सकता। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर तथाकथित प्रतिनिधि संस्थाएँ वास्तव मे सच्चे रूप मे प्रतिनिधि-संस्थाएँ नही होतीं। इसका कारण यह है कि ऐसा समझा जाता है कि वह प्रतिनिधि एक प्रादेशिक क्षेत्र मे निवास करनेवाले समस्त व्यक्तियो के विविध हितो का प्रतिनिधित्व करता है। यह सर्वथा परिहासजनक तथा असम्भव बात है। कोई व्यक्ति दूसरे किसी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नही कर सकता, कई व्यक्तियो का तो और भी नही। वह केवल उसी हित का प्रतिनिधित्व कर सकता है, जो दूसरो का भी समान हित हो। क, जो एक अध्यापक है, ख, ग तथा घ का यदि वे अध्यापक हैं, और जहाँ तक वे अध्यापक हैं वहीं तक, प्रतिनिधि बन सकता है। परन्तु यदि वे आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, जमींदार या सर्वोदय-समाजी है तो, यदि वह स्वय उक्त मत का नही है, उनका उन रूपो मे प्रतिनिधि नही हो सकता। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति के हित अनेक प्रकार के होते हैं, अत अपने हितो के प्रतिनिधित्व के लिये उतने ही प्रतिनिधियो की आवश्यकता होगी जितने कि उसके हित हैं। इस प्रकार सच्चा प्रतिनिधित्व भौगोलिक या प्रादेशिक आधार पर नही वरन् व्यावसायिक आधार पर होना चाहिये। समाज उसी समय सच्चे रूप मे प्रजातान्त्रिक होगा जब कि वह 'ऐसी व्यावसायिक प्रतिनिधि-संस्थाओ का एक जाल सा बन जायगा जिनमे से प्रत्येक उसके सदस्यो के विशिष्ट उद्देश्य का प्रतिनिधित्व करता है।" * वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत जनता कई विभिन्न प्रयोजनो के लिये कुछ प्रतिनिधियो को चुनती है। ऐसे प्रतिनिधि जनता के कुछ सीमित उद्देश्यो का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं, सब का नही। इस प्रणाली का अन्त कर देना ही उचित है।

---

*Society will become truly democratic only when it becomes a coordinated network of functionally reprsentative bodies, each of which represents a particular set of wills or purposes which its members have in common (Joad Modern Political Theory, p 77)

व्यावसायिक सिद्धान्त के आधार पर सगठित समाज के लिये प्रतिनिधित्व के प्रादेशिक आधार का पूर्ण रूप से परित्याग करने की आवश्यकता नही है। वह उन हितो के प्रतिनिधित्व की प्राप्ति के लिये आवश्यक है, जो एक ही समाज के सदस्य होने के कारण लोगो म सामान्य होते है, जैसे, कानून, कर, रक्षा, शिक्षा आदि। इसलिये हमे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के नवीन सिद्धान्त के साथ-साथ पुराने प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को भी उचित स्थान देना चाहिये। इन दोनो म से कोई भी एक सिद्धान्त पूर्ण नही है, प्रत्येक के लिये दूसरे की एक पूरक के रूप म आवश्यकता है।

उक्त दोनो सिद्धान्तो के आधार पर स्थापित गिल्ड-समाज म निम्न प्रकार की तीन सस्थाएँ होगी (१) एक राष्ट्रीय पार्लमिण्ट जिसका सङ्गठन प्रादेशिक आधार पर होगा और जो उन मामलो का प्रबन्ध करेगी जिनका समूचे राष्ट्र से सम्बन्ध है और जिनमे समस्त नागरिको के सामान्य हित है, जसे देश रक्षा वदेशिक सम्बन्ध, कर निर्धारण, यातायात, न्याय प्रबन्ध आदि। यह सस्था वतमान पार्लमिण्ट से भिन्न नही होगी। (२) कुछ स्थानिक प्रादेशिक सस्थाएँ जिनका सगठन भारत मे म्युनिसिपल बोड या नगरपालिका या जिला बोर्डो या इग्लड की काउण्टी और बरो कौंसिलो के समान होगा। ये सस्थाएँ जल, प्रकाश स्वास्थ्य सफाई, नगर रक्षा आदि का काय करेंगी। इनका निर्माण भी भौगोलिक आधार (Geographical basis) पर होगा। (३) तीसरी प्रकार की सस्थाएँ कई व्यावसायिक सभाएँ या सघ (Professional Guilds) होगे जो तीन प्रकार के होगे—स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय। गिल्ड उत्पादन-सम्बन्धी प्रश्नो का निर्णय करेंगे, जसे कारखानो मे काम की अवस्थाएँ, काम के घण्टे, वेतनो की दर, बनाये जानेवाले माल की मात्रा तथा वस्तुओ के मूल्यो का निश्चय। इन गिल्डो की स्थापना व्यावसायिक आधार पर की जायगी। उत्पादन की मात्रा तथा वस्तुओ के मूल्यो के प्रश्नो पर, जिनका सम्बन्ध उपभोक्ताओ से भी है, निर्णय करते समय गिल्ड उपभोक्ता-समितियो से भी मन्त्रणा करेंगे।

इस प्रकार के समाज की स्थापना का स्वाभाविक परिणाम होगा समाज मे विविध सस्थाओ के बीच सत्ता तथा कार्यों का विभाजन। स्थानीय तथा प्रादेशिक सस्थाओ और व्यावसायिक गिल्डो को अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से काय करने का अधिकार होगा। केन्द्रीय

पार्लमिण्ट केवल अपने क्षेत्र के अंतर्गत राजनीतिक प्रश्नों पर ही विचार करेगी और उनके कामों में हस्तक्षेप बिलकुल नहीं करेगी। सत्ताओं और कार्यों का इस प्रकार का वितरण कागज पर सुन्दर भले ही प्रतीत हो किन्तु यह सन्देहास्पद है कि यह सुचारु रूप से कार्य रूप में परिणत हो सकेगा। आधुनिक जटिल समाज की विविध क्रियाओं की अन्योन्याश्रितता के कारण इस प्रकार का विभाजन असम्भव है। आर्थिक समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। इस प्रकार उत्पादन पर नियन्त्रण गिल्डों को सौंपना और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का नियमन राज्य के अधीन रखना सम्भव नहीं है। इस प्रकार के वितरण से इस सिद्धान्त का स्वयं नाश हो जायगा।

गिल्ड-समाजवादी लोग समाज के वर्तमान संगठन और रचना की आलोचना केवल आर्थिक तथा राजनीतिक आधार पर ही नहीं वरन् नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर भी करते हैं। राजनीतिक प्रजातन्त्र की उन्होंने जो आलोचना की है, उस पर विचार किया जा चुका है। उनकी आर्थिक आलोचना पूँजीवाद के विरुद्ध समाजवादी तर्क की पुनरावृत्ति ही है। उनका नैतिक तर्क इस दोष के उद्घाटन का एक प्रयत्न है कि सम्पत्ति के स्वामी को बिना किसी समाज-सेवा के ही मुनाफा मिलता है। यह नैतिक दृष्टि से सर्वथा गलत है कि समाज को एक ऐसे सिद्धान्त पर आधारित किया जाय जिसमें कर्तव्य की अपेक्षा धन प्राप्ति पर विशेष जोर दिया जाता हो। सम्पत्ति पर स्वामित्व का किसी सामाजिक प्रयोजन से सम्बन्ध नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उत्पादन की वर्तमान प्रणाली इसलिये गलत है, कि वह मजदूरों को मानवत्व से हीन बना देती है, उसे मशीन का एक पुर्जा मात्र बना देती है और अपना कार्य करने में उसे गौरव अनुभव करने से वंचित कर देती है। वह उसमें कारीगरी को प्रोत्साहन देने के स्थान में उसका दमन करती है। उनकी मुख्य समस्या एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिससे मजदूर में कार्यकुशलता ही नहीं बढ़ेगी वरन वह अपने काम में गौरव का भी अनुभव करने लगेगा और कला एवं कौशल का पुनर्जीवन होगा। वे आर्थिक क्षेत्र में मजदूर मालिक के सम्बन्धों का अन्त कर देना चाहते हैं या कम से कम उनमें परिवर्तन कर देना चाहते हैं। गिल्ड की रचना इसी प्रयोजन से की गई है। उसका उद्देश्य उद्योगपतियों द्वारा अतिक्रमण के विरुद्ध मजदूरों के हितों की रक्षा करना नहीं है। उसका सङ्गठन ट्रेड यूनियन (मजदूर-संघ) अथवा सिण्डीकेट की भाँति

संघर्ष तथा आत्मरक्षा के लिये नही है । उसका ध्येय अधिक निश्चित एव श्रेष्ठ है । उसकी व्यवस्था का लक्ष्य समाज की ओर से उद्योग का नियन्त्रण तथा मजदूर की रचनात्मक प्रवृत्ति का विकसित करना है, जिससे वह अपने समाजिक कार्यों का सर्वोत्तम रूप म सम्पादन कर सके । व्यक्तियो म समाज सेवा के आदर्श की प्रतिष्ठा करके, जिसका आजकल अभाव हैं, वह उत्पादन की वृद्धि और उसके आदर्श को ऊँचा करना चाहता है ।

गिल्ड समाजवाद आवश्यक रूप म एक ऐसा सिद्धान्त है जिसकी बुद्धिमान व्यक्तियो न स्थापना की है , यह मजदूर वर्ग के आन्दोलन के रूप म विद्यमान नही है । इस बात म, यह सिण्डीकेलिज्म स भिन्न है, जो प्राथमिक रूप म एक आन्दोलन है और जिसका लक्ष्य मजदूरो म एक क्रान्तिकारी भावना का प्रादुर्भाव करके क्रान्तिकारी ढग से वर्तमान प्रणाली का अन्त कर देना है। इसका इङ्गलैड में सङ्गठन हुआ परन्तु आर्थिक मदी तथा बेकारी के कारण यह पनप नही सका । गिल्ड-समाजवाद की असफलता का दूसरा कारण यह था कि उसके नेताओ के विचारो म विभिन्नता होने क कारण कोई स्थायी सगठन कायम करना कठिन हो गया । एक सगठन के रूप में गिल्ड-समाजवाद का अन्त हो चुका है परन्तु इसके बडे प्रभाव हुए है । इसने मजदूर-सघो, समाजवाद तथा युद्धोत्तर-कालीन सिण्डीकेलिज्म की नीतियो मे स्थायी परिवर्तन कर दिये हैं ।

इस सिद्धान्त के इतिहास के विषय मे कुछ उल्लेख कर देना उचित होगा । इसके आधारभूत विचार सवप्रथम पेंटी ने सन् १६०६ ई० अपने लेखो मे प्रकट किये, जिमन मध्य-कालीन दस्तकारी के पुनर्जीवन के लिये सलाह दी, जिसमे कारीगर उन यत्रो का स्वामी होता था जिससे उत्पादन किया जाता था तथा वही उत्पादन की मात्रा का भी निश्चय करता था। परन्तु इस सम्प्रदाय का सङ्गठन सन् १६१४ ई० मे हॉब्सन तथा ओरेज ने किया जिन्होने 'नशनल गिल्ड नामक अपनी पुस्तक मे गिल्ड-समाजवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के प्रसिद्ध व्याख्याकार कोल, टॉनी और बर्ट्रेण्ड रसेल हैं । सन् १६२० ई० मे गिल्ड की कल्पना के सम्बन्ध में क्रियात्मक परीक्षण भी किये गये जब कि मजदूरो के लिये एक बडी सख्या मे मकान बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई जो व्यक्तियो के निजी प्रयत्नो द्वारा पूरी नही हो सकती थी । यह परीक्षण पर्याप्त रूप मे सफल रहा । परन्तु सरकारी सहायता बन्द हो जाने, मजदूरो के वेतन

मे कमी हो जाने तथा बेकारी बढ जाने के कारण मकान निर्माण करने वाले गिल्डो का खात्मा हो गया ।

प्रश्न

१ गिल्ड समाजवाद से ग्राप क्या समझते हैं ? उसकी प्रमुख बातों का वर्णन कीजिये ।

२ गिल्ड समाजवादी परम्परागत राज्य का किन तर्कों द्वारा विरोध करता है ?

३ 'गिल्ड–समाजवाद समष्टिवाद और सिण्डीकेलिज्म के मध्य का मार्ग ग्रहण करता है ।' टिप्पणी कीजिये ।

४ गिल्ड–समाजवादियों की कार्य प्रणाली का वर्णन कीजिये और उसकी समीक्षा कीजिये ।

५ क्या गिल्ड–समाजवाद क्रान्तिवादी समाजवाद है ?

६ समाजवाद के विभिन्न रूपों की कार्य प्रणालियों तथा उनके द्वारा प्रस्तावित भावी समाज के स्वरूप का वर्णन कीजिये ।



अध्याय ११

अराजकतावाद

सामाजिक पुनर्निर्माण के आधुनिक सिद्धान्तो का विवेचन अराजकतावाद के प्रतिपादन के बिना अपूर्ण रहेगा। अराजकतावाद (Anarchism) का केन्द्रीय विचार बहुत ही सरल है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीतिक सत्ता या एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर किसी भी रूप मे शासन अनावश्यक एव अवाछनीय है।* राज्य एक अनावश्यक अभिशाप है, आदर्श समाज मे उसका कोई भी स्थान नही हो सकता। इस अर्थ मे अराजकतावाद कोइ नवीन सिद्धान्त नही है। इसका वर्णन प्राचीन चीनियो और यूनानियो के लेखो म मिलता है। ईसा के जन्म से ३०० वर्ष पूर्व चीनी लेखक चुआग त्जू ने लिखा था कि "एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर शासन मानव प्रकृति के उसी प्रकार विरुद्ध है जैसे कम्पास और स्क्वायर का प्रयोग मिट्टी या लकडी के सम्बन्ध मे।" इसी प्रकार कुछ यूनानी स्टाइक दार्शनिक भी मानते थे कि सुखी एव श्रेष्ठ जीवन के लिये राज्य की सदस्यता आवश्यक नही है। किन्तु इन प्राचीन लेखको ने आधुनिक लेखको के समान इस विचार का प्रयोग एक नवीन शासन सत्ता विहीन सामाजिक सगठन के निर्माण के आधार के रूप मे नही किया। इङ्गलैण्ड म हाजस्किन और गॉडविन ने फ्रान्स मे मातेस्क्यू और प्रोधो ने, सयुक्त राज्य अमेरिका मे थोरो वारेन तथा टकर ने और रूस मे बाकूनिन तथा प्रिन्स क्रोपॉटकिन ने अपने अपने ढङ्ग से यह दिखलाने का प्रयत्न किया

---

* Anarchism is the doctrine that political authority in any of its forms is unnecessary and undesirable (Coker Recent Political Thought p 192)

है कि बिना राजकीय सत्ता के प्रजा किस प्रकार शान्ति और सुख का जीवन बिता सकती है। अनेक महत्वपूर्ण बातो मे उनकी योजनाओ म भेद है। उन पर यहाँ विस्तार के साथ विचार नहीं किया जायगा।

पुराने विचार तथा नवीन विचार म एक दूसरी बात म भी भेद है। आधुनिक अराजकतावाद राज्य के विरोध के साथ निजी सम्पति तथा सगठित धार्मिक सत्ता का भी घोर विरोध करता है।* आधुनिक अराजकतावाद का इस विश्वास से घनिष्ठ सम्बन्ध है कि भूमि तथा पूँजी पर समाज का स्वामित्व हो और इस प्रकार अराजकतावाद का साम्यवाद (Communism) से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अराजकतावाद का एक महत्वपूर्ण रूप साम्यवादी अराजकतावाद' भी कहलाता है। हम इसी रूप के सम्बन्ध म आगे विचार करेंगे। परन्तु इस प्रसग पर विचार करने से पूर्व साम्यवाद तथा अराजकतावाद के पारस्परिक सम्बन्धो पर, जिसके कारण उसका नाम साम्यवादी अराजकतावाद पडा है, विचार कर लेना उचित होगा।

अराजकतावाद और साम्यवाद—

इन दोनो सिद्धान्तो का एक ही लक्ष्य है। वे राज्यहीन तथा वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। परन्तु उसकी प्राप्ति के साधनो के सम्बन्ध मे अराजकतावाद के पूर्व आचार्यों का साम्यवादियो से मतभेद था। बाकूनिन ने, जिसने अराजकतावाद को एक निश्चित रूप दिया और इस सम्प्रदाय का सङ्गठन भी किया, राज्य को समाजवादी क्रान्ति के साधन के रूप म अस्वीकार करने पर जोर दिया जब कि कार्ल मार्क्स और उसके जर्मन तथा अंग्रेज अनुयायी उसे किसी रूप मे कायम रखने के पक्ष म थे। इन दोनो म मतभेद यहाँ तक बढ गया कि बाकूनिन और उसके अराजकतावादी अनुयायियो को सन् १८७२ मे अन्तर्राष्ट्रीय सघ (International) से निकाल दिया गया। इन दोनो मे जो मतभेद है उसका सार यह है साम्यवादियो का विचार है कि वर्तमान व्यवस्था तथा भावी राज्यविहीन समाज के मध्य म श्रमिक वर्ग का अधिनायकतन्त्र

* In recent anarchism theoretical opposition to the state has usually been associated with opposition to the institution of private property and also with hostility to organised religious authority ' (Ibid, p 192)

काफी लम्बी अवधि तक अवश्य रहेगा, अराजकतावादी कहते हैं कि हिंसा तथा दबाव के आधार पर कायम अधिनायकतंत्र स्वतन्त्रता तथा ऐच्छिक सहयोग के सिद्धांत पर आधारित समाज की स्थापना नही कर सकता। अराजकतावाद की दृष्टि में राज्य का न तो सक्रमण-काल में और न नये समाज की स्थापना के बाद ही कोई उपयोग है।

प्रो० जोड ने अपनी 'माडर्न पोलिटिकल थ्योरी' नामक पुस्तक मे लिखा है कि पूर्व-कालीन मतभेदो के बावजूद भी आधुनिक काल में जो प्रवृत्तियां देख पडती है उनके कारण दोनो मे बडा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है। रूसी साम्यवादियो के प्रभाव में साम्यवाद उस पद्धति का सिद्धांत मात्र ही रह गया है, जिसके द्वारा वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से नवीन व्यवस्था की ओर अग्रसर हो सकते है। केवल इस बात को छोडकर कि नवीन समाज राज्यविहीन तथा वर्गविहीन होना चाहिये, साम्यवाद भावी समाज की रूपरेखा के विषय में स्पष्ट रूप मे कुछ नही कहता। अराजकतावाद इस त्रुटि की पूर्ति कर देता है। यह उन सिद्धान्तो का वर्णन करता है जिनके अनुसार नवीन समाज की रचना होगी और मनुष्यो को अपना जीवन व्यतीत करना होगा। दूसरे शब्दो मे, अराजकतावाद ध्येय या आदर्श का सिद्धांत है, साम्यवाद उन साधनो का वर्णन है जिसके द्वारा उस आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। यदि इसी बात को दूसरे ढङ्ग से कहा जाय तो "अधिकाश साम्यवादी अराजकतावादी समाज के आदर्श को पसन्द करेंगे और बहुत से अराजकतावादी भी शायद स्वीकार करेंगे कि साम्यवादियो द्वारा अनुमोदित साधन इस ध्येय की प्राप्ति के लिये अधिक उपयुक्त हैं।* इस कथन के अंतिम भाग के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि कुछ समकालीन अराजकतावादी सोवियत रूस मे जो घटनाएँ हुई हैं उनके कारण बडे निराश हैं। उनका विचार है कि आतंकवादी साम्यवादी शासन अराजकतावादी समाज की स्थापना मे सहायक नही हो सकता, जिन साधनो का प्रयोग

---

* Most communists would now subscribe to the Anarchist ideal of society while many Anarchists would probably agree that the methods advocated by the communists are those most calculated to realise their ideal (Joad Modern Political Theory p 87)

किया जाय उनकी उद्देश्य या लक्ष्य से कुछ संगति होनी चाहिये। श्रमिक वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्वच्छापूर्वक किये गये समझौते के आधार पर स्थापित स्वतन्त्र समाज से, जो अराजकतावादियों का लक्ष्य है, कोसों दूर है।

अराजकतावादी आदर्श—

अराजकतावादी का आदर्श समाज वर्गहीन तथा राज्यहीन समाज होगा। भूमि तथा उत्पादन के अन्य भौतिक साधनों पर समाज का स्वामित्व हो जाने और पूंजीवादी वर्ग का अन्त हो जाने पर सम्पत्तिशाली वर्ग तथा वेतन भोगी वर्ग के बीच के भेदभाव का लोप हो जायगा। किसी भी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के श्रम को खरीदने का अधिकार नहीं होगा। क्रोपाटकिन के अनुसार ऐसे समाज में वेतन की प्रथा नहीं होगी, प्रत्येक व्यक्ति को, जो कुछ उसे आवश्यक है, मिलेगा। अराजकतावादी का ध्येय है 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करे और प्रत्येक अपनी आवश्यकता के अनुसार ले। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि अराजकतावाद उत्पादन की वस्तुओं और उपभोग की वस्तुओं में कोई भेद नहीं मानता। वह दोनों बातों में व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कर देता है।

अराजकतावादी समाज का सङ्गठन पारस्परिक सहायता एवं सहकारिता के सिद्धान्त पर होगा संघर्ष या आन्तरिक प्रतियोगिता के आधार पर नहीं। हॉब्स ने मानव प्रकृति का जो विश्लेषण किया है जिसके अनुसार मनुष्य स्वार्थी एवं प्रतियोगितावादी है मौलिक रूप से गलत माना जाता है। यही गलती डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त में है जिसमें योग्यतम की विजय के सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। पशु जगत के विशद अध्ययन से सुप्रसिद्ध अराजकतावादी नेता प्रिंस क्रोपाटकिन ने यह प्रमाणित किया है कि केवल वे ही पशु जातियाँ जीवित रही हैं जिनके सदस्यों ने वातावरण के विरुद्ध अपने संग्राम में सहयोग से काम किया और जो पशु जातियाँ परस्पर सहयोगपूर्वक काम नहीं कर सकीं वे नष्ट हो गईं। जो कानून मानव जगत का नियमन करता है, वह पशु-जगत के नियमों से भिन्न नहीं है। किसी भी समुदाय में सहकारिता के गुणों पर प्रतियोगिता के गुणों का प्राधान्य इस बात का प्रमाण है कि वह विनाश की ओर अग्रसर है। अपनी प्रकृति से मानव अच्छा एवं सामाजिक है, उसमें सहयोग की प्रवृत्ति है। परन्तु मनुष्य में परोपकारिता एवं सामाजिकता की जो

सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं, वे राज्य के नियन्त्रण तथा दवाव के कारण कुंठित हो जाती हैं। प्रतियोगिता के वातावरण का भी उन पर विनाशकारी प्रभाव पडता है। इसलिये यदि हम प्रतियोगिता का और उसके साथ ही राज्य की सत्ता का भी परित्याग कर दे तो मनुष्यों की स्वाभाविक मैत्री भावना बढेगी तथा गहरी होती जायगी और प्रत्येक बाहरी समुदाय का शत्रु समझने या उससे भयभीत होने के स्थान पर वे उसे ऐसा मैत्रीपूर्ण समुदाय समझने लगेंगे जिसे उनकी सहायता एव सहयोग की आवश्यकता है।

अराजकतावाद राज्य विरोधी है। वह राज्य को एक अनावश्यक बुराई मानता है और इसलिये उसका विनाश चाहता है।* अराजकतावादी समाज में कोई दबाव या कानून नही होगा और न शासन सत्ता ही होगी। अराजकतावाद आदि से अन्त तक बल प्रयोग के विरुद्ध है। परन्तु बल प्रयोग के अभाव का अर्थ व्यवस्था का अभाव नही है। शासन की हिंसात्मक सत्ता के अभाव मे अथवा उसके अभाव के ही कारण समाज मे व्यवस्था एव मेलमिलाप का प्रसार होगा। स्वतन्त्र सहयोग तथा स्वतन्त्र प्रबन्ध वे व स्वाभाविक परिणाम होगे। विविध उद्योगो एव व्यवसायो का प्रबन्ध उनके लिये निर्मित एच्छिक संस्थाओ द्वारा किया जायगा। यदि लोगो को मकानो की आवश्यकता होगी, तो मकान बनाने वाले अपनी संस्थाएँ बना लेंगे और जनता की आवश्यकता की पूर्ति के लिये मकान बनायेंगे। इसी प्रकार जिन लोगो को अध्यापन मे अभिरुचि होगी वे अपना एक अध्यापकमण्डल बना लेंगे और जो उनमे शिक्षा प्राप्त करना चाहेंगे, उन्हे वे शिक्षा देंगे। इस प्रकार प्रत्येक व्यवसाय का संचालन उनमे रुचि रखनेवाले व्यक्तियो की संस्था द्वारा किया जायगा। ये सब संस्थाएँ अपने अधिकारियो का चुनाव करेंगी, अपनी नीतियो का निर्धारण करेंगी

---

* Anarchism is a principle or theory of life and conduct under which a *society is conceived without government harmony* in such a society being obtained not by submission to law or by obedience to any authority but by free agreements concluded by the various groups, territorial and professional freely constituted for the sake of production and consumption as also for the satisfaction of the infinite variety of needs and aspirations of a civilised being (Kropotkin)

और स्वतन्त्र व्यवस्था द्वारा एक दूसरे से काम म सहयोग देगी । उनसे यह आशा की जाती है कि वे मिलकर काम करेंगी क्योंकि व सभी स्वाभाविक और स्वच्छा स निर्मित होगी । प्रत्येक व्यक्ति अपनी पसन्द की किसी सस्था का सदस्य होगा और उस किसी भी समय उसस त्यागपत्र देकर दूसरी सस्था का सदस्य बन जाने की स्वतन्त्रता होगी । यदि उनके बीच कभी विवाद खडे हुए तो स्वच्छा स स्थापित पचायती न्यायालयो द्वारा उनके फसले होग ।

ऐसी व्यवस्था क अन्तगत कोई भी व्यक्ति न तो आलसी रहेगा और न उसे अधिक काम करना पडेगा । प्रत्येक व्यक्ति अपनी पसद का काम ४ स ५ घण्ट तक करगा और सबको पर्याप्त विश्राम मिलेगा जिससे व शान्ति और सुख के साथ जीवन बिता सकें । दबाव कही नही होगा , सवत्र सुव्यवस्था होगी । जो व्यक्ति इसम सदह करत है कि स्वतत्र मिलन तथा स्वतन्त्र व्यवस्था के सिद्धान्त क फलस्वरूप इस प्रकार क सुव्यवस्थित समाज की स्थापना हो सकेगी उनको फोरियर का उत्तर यह है कुछ पत्थरो के टुकडा को लकर एक बक्स म डाल दीजिय और उन्हे हिला दीजिए । व सब ऐस सुव्यवस्थित ढग से जम जायेंगे जैसा उन्हे जानबूझकर जमाने से कभी नही हो सकता । ' *

अराजकतावादी समाज म स्वतन्त्र एच्छिक रूप से निर्मित अनेक सस्थाएँ होगी जिनका सगठन बडे-बडे समुदायो मे किया जायगा । क्राकर ने इस कल्पित ऐच्छिक समझौते का इस प्रकार वर्णन किया है—*हम अपने भवनो, राजपथो भण्डारो यातायात क साधनो विद्यालयो आदि का उपभोग कर सकने की आपको गारण्टी देते है परन्तु इस शत पर कि आप २० वष की आयु से लेकर ४५ या ५० वष की आयु तक ४ या ५ घण्टे प्रतिदिन ऐसा कोई काय करें जो जीवनोपयोगी माना जाय । जब आप चाहे तब किसी भी सस्था के सदस्य बन सकते हैं अथवा नवीन कोई सस्था बना सकते हैं परन्तु शत यह है कि वह किसी आवश्यक काय या सेवा का जिम्मा ले । शेष समय मे आप जिसके साथ चाहे उसक साथ रह और अपनी

* Take pebbles put them into a box and shake them and they will arrange themselves into a mosaic that you could never get by entrusting to any one the work of arranging them harmoniously (Fourier, Quoted by Joad Ibid, p 111)

अभिरुचि के अनुसार आमोद प्रमोद, कला, विज्ञान आदि बातों मे भाग लें। बस हम आपसे यही चाहते हैं कि आप अन्न, वस्त्र, भवन निर्माण, यातायात आदि से सम्बद्ध किसी समुदाय मे वर्ष मे १२०० से १५०० घण्टे तक कार्य करें। इसके बदले में हम आपको समस्त संस्थाओं द्वारा उत्पादित वस्तुओं की गारण्टी देते है।"* इस अवतरण म अराजकतावादी समाज के जीवन का बडा सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। ऐसे समाज में असन्तोष पैदा करने के लिये धनी तथा निर्धनों के भेद नही होंगे, न उसमें आन्तरिक विवादों को पैदा करने या बढानेवाली कोई सरकार ही होगी। हितों का परस्पर संघर्ष शायद ही कभी होगा, विरोध के अवसर कम होंगे और सब व्यक्ति मेल मिलाप से रहेंगे।

अराजकतावादियों द्वारा राज्य की निन्दा—

अराजकतावादी लोग राज्य को एक विशुद्ध बुराई और सर्वथा अनावश्यक तथा अवांछनीय वस्तु मानते हैं। वे कहते है कि यह व्यर्थ है क्योंकि इससे किसी युक्तियुक्त प्रयोजन की सिद्धि नही होती। राज्य को जो अभी तक विविध कार्य सौंप गये है, उन्हें ऐच्छिक संस्थाएँ अधिक अच्छे ढंग से कर सकती है। राज्य का पूर्व इतिहास उत्साहप्रद नही है। उसने नागरिकों के नैसर्गिक अधिकारों का संरक्षण नही किया है। वह किसानों एवं मजदूरों को जमींदारों एवं पूँजीपतियों के शोषण से सुरक्षित नही रख सका है। मनुष्यों को नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ बनाने की जगह उसने विशेषाधिकारों तथा विषमताओं को उत्पन्न करके और दूषित आर्थिक व्यवस्था की रक्षा करके अपराधों की ओर प्रवृत्ति बढाई है। उसके कारागृह अपराधों को कम करने के स्थान मे और भी बढाते है और उसके न्यायालय मुकद्दमेबाजी को बढाते हैं। वह पहले तो निर्दोष व्यक्तियों को अपराधी बना देता है और फिर उन्हें दण्ड देकर पक्का अपराधी बना देता है। राज्य व्यक्तियों के मन मे विदेशियों के प्रति घृणा के भाव पैदा करता है और मानव समाज को विभिन्न विरोधी तथा लडाकू राष्ट्रों या गुट्टों मे विभक्त कर देता है। अपने सर्वश्रेष्ठ नागरिकों का जो एकमात्र उपयोग वह करता है, वह है उन्हें कारागृह मे बन्द रखना। राज्य की सफलताएँ बहुत ही नगण्य रही हैं, परन्तु मानव-जाति को जो उससे क्षति

---

*Coker Recent Political Thought, p 213

पहुँची है वह महान् है । विभिन्न राज्यो के बीच जो युद्ध होते हैं व इस बात के यथेष्ट प्रमाण है ।

राज्य को जो वस्तु बुरा बना देती है वह है शासको द्वारा बल प्रयोग । बल प्रयोग दोहरी बुराई है । इससे उस व्यक्ति का नतिक पतन होता है, जो उसका प्रयोग करता है, चाहे वह कितना ही सदाशय क्या न हो । वह उस अभिमानी, उद्धत, स्वार्थी तथा निदयी बना देता है । एक बार उसका वाद ल लेने पर वह उसे सदा अपने अधिकार म रखना और उसका विस्तार रना चाहता है तथा समस्त उपायो का प्रयोग कर अपने अधीन मनुष्यो विभक्त और विक्षिप्त रखना चाहता है । क्रोपॉटकिन ने कहा है कि 'अमुक निन्दनीय मन्त्री एक श्रेष्ठ व्यक्ति हुआ होता यदि उस सत्ता न दी गई होती ।' जिस व्यक्ति पर बल प्रयोग किया जाता है उसकी उससे मानवता नष्ट हो जाती है । मनुष्य को यह शिक्षा देनी चाहिय कि वह श्रेष्ठ काम करे क्योकि वह श्रेष्ठ है और क्योकि उसे श्रेष्ठ काय करना पसन्द करना चाहिय, इसलिय नही कि सरकार ने उसका आदेश दिया है । इस प्रकार की प्रवत्ति उसी समय पैदा हो सकती है, जब कि राज्य का अस्तित्व न रहे ।

अराजकतावादी के अनुसार व्यक्तियो का राज्य की न्यायता का अनुभव करान म बाधा इसलिये उपस्थित होती है कि मनुष्य मे प्रतियोगिता स्वाथ, असामाजिकता आदि दुगुणा का प्राधान्य मान लिया जाता है जिनको रोकन के लिय किसी प्रकार की शासन-सत्ता की आवश्यकता भी माननी पडती है । हम यह देख चुके है कि अराजकतावाद इस बात को स्वीकार नही करता । वह यह मानता है कि मनुष्य म स्वाभाविक अच्छी प्रवृत्तिया है और सङ्गठित शासन उसक विकास मे बाधा डालता है । शासन के प्रादुर्भाव का वास्तविक कारण यह है कि समाज म पुरोहितो, लोकाचार के ठकेदारो तथा दलपतिया ने, जिनका मानव समाज मे सदव अस्तित्व रहा है, सामाजिक विकास क आरम्भ काल म ही अपना गुट्ट स्थापित कर लिया, मनुष्यो पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तथा अनेको प्रकार से उन पर अपना प्रभुत्व कायम करन की चेष्टा की ।

अराजकतावाद हम हर प्रकार की सत्ता की अधीनता से मुक्त करना चाहता है चाह वह राज्य की प्रजा पर सत्ता हो या पूँजीपति की मजदूरो पर या धर्माचार्यों की धार्मिक व्यक्तिया पर सत्ता हो । पूँजीपतियो तथा धार्मिक आचार्यों एव पुरोहिता को अराजकतावादी योजना मे वसे ही कोई स्थान प्राप्त नहीं है जैसे कि शासन-सत्ता को ।

अराजकतावाद की ओर प्रगति—

स्वतन्त्र और स्वेच्छापूर्वक स्थापित समूहों के स्वतन्त्र समुदायों की संस्था के आदर्श की प्राप्ति के साधनों के सम्बन्ध में अराजकतावाद कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। प्रिंस क्रोपॉटकिन ने, जो अराजकतावाद का सर्वप्रथम प्रामाणिक लेखक था, इस आदर्श को अव्यावहारिक नहीं माना। इसके विपरीत उसका विचार था कि समाज शनै शनै इस आदर्श की ओर अग्रसर हो रहा है।* उसने लोगों के शासन-सत्ता के हस्तक्षेप के बिना सहकारी कार्य करने के अनेक उदाहरण दिये हैं, जैसे, विभिन्न देशों की रेलवे कम्पनियाँ आपस में स्वेच्छा से समझौता करके यात्रियों को एशिया के पूर्व से योरोप के पश्चिम तक बिना किसी कठिनाई के यात्रा करने की सुविधाएँ देती हैं। परन्तु उसने यह भी कहा है कि इस ओर विकास बड़े धीरे धीरे हो रहा है क्योंकि जिनके हाथों में सत्ता है उनकी ओर से इसमें बाधा डाली जाती है। शासन की ओर से जो बाधाएँ डाली जाती हैं, वे क्रांति के बिना अन्य किसी उपाय से दूर नहीं की जा सकती। निष्कर्ष यह है कि अराजकतावादी समाज की स्थापना की प्रक्रिया में अंतिम कदम क्रांति होगा जिसमे पूँजीवादी शासन के समस्त अवशेष नष्ट हो जायेंगे।

अराजकतावाद के मार्ग में बाधाएँ—

सामाजिक व्यवस्था का अराजकतावादी आदर्श, जिसमें मनुष्य बिना किसी सरकार तथा बिना किसी दबाव के शान्ति एवं प्रेम के साथ रहेंगे और स्वेच्छा से किसी भी उपयोगी कार्य में लग सकेंगे, बहुत ही आकर्षक है। कुछ व्यक्तियों के अनुसार यह एक आदर्श है, जिसकी प्राप्ति करना उचित है। परन्तु बहुत से लोग इसे एक अव्यावहारिक आदर्श मान कर अस्वीकार कर देते हैं। वे कहते है कि यह मानव प्रकृति से अत्यधिक आशा करता है। यह ऐसे देवताओं के लिये उचित व्यवस्था मानी जा सकती है जो पाशविक प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त हो, परन्तु मनुष्यों के लिये, जिनमें लोभ, मोह, इच्छा, वासना आदि का प्राबल्य है, इस व्यवस्था की उपयुक्तता

* The anarchist merely points out in which direction evolution goes describing, what he considers to be the next phase of evolution It is no longer a matter of faith, it is a matter for scientific discussion (Kropotkin quoted by Coker, op cit, p 214)

संदिग्ध है । क्या नपोलियन, एलेक्जेण्डर अथवा हिटलर के समान कोई व्यक्ति अपना सारा जीवन ऐसे समाज मे बिताना चाहगा जिसमे उसकी आकांक्षा एव प्रतिभा के लिये कोई क्षेत्र न हो ?

यह आक्षप कि अराजकतावादी समाज म काम करन क लिय समुचित प्ररणा के अभाव म व्यक्ति बकार घूमग, निराधार है । समाजवाद क प्रसग म इस पर विचार किया जा चुका है । काम शारीरिक आवश्यकता ह लोग काम करना पसन्द करते है यदि वह अत्यधिक एव अरुचिकर न हो । अराजकतावाद द्वारा प्रस्तावित व्यवस्था क अन्तगत काम हलका और सुखदायक होगा । काम के प्रति वतमान अनिच्छा विशप रूप स उन अवस्थाओ के कारण है, जो नई व्यवस्था म नही रहेगी । किंतु उस समय भी कुछ कठिनाई अवश्य उपस्थित होगी, जब कि व्यक्ति ऐसा काम करना चाहेग जिस समाज सामाजिक दृष्टि स उपयोगी नही मानता । क्या ऐस व्यक्तियो को ऐसा काम करने क लिये बाध्य किया जायगा, जिसे वे पसन्द नही करते ?

अराजकतावादियो क राज्य की सत्ता का अन्त कर दने के प्रस्ताव क विरुद्ध भी आक्षेप किया जा सकता है । अनुभव इस बात का समथन नही करता कि मर्यादाओ या प्रतिबन्धो के हट जाने से लोग शान्ति पूवक रहग । जब तक बुद्धि शारीरिक शक्ति तथा योग्यता आदि म व्यक्तिगत भेद भाव रहेगे तब तक दुबल व्यक्तियो की सबल व्यक्तियो स रक्षा करने के लिये एक केन्द्रीय सत्ता की आवश्यकता बनी रहेगी । सब मनुष्यो के लिये स्वतन्त्रता की प्राप्ति कवल राजनीतिक समाज मे ही सम्भव है । पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त से अव्यवस्था के विरुद्ध कोई पर्याप्त गारण्टी नही मिलती । क्रोपाटकिन ने इस बात पर यथेष्ठ ध्यान नही दिया कि समुदायो के बीच सघप भी प्रकृति का वसा ही नियम है जैसे कि एक समुदाय के व्यक्तियो के बीच सहयोग । समुदायो के बीच होनेवाल सघप म अपने आप ही ऐसे व्यक्ति आगे आ जाते है जो अपने समुदाय के रक्षात्मक तथा आक्रमणात्मक प्रयत्नो म सफलता का माग दिखलात है । ऐसे व्यक्ति ही नेता बन जाते है और अपने अनुयायियो पर सत्ता का आरोप करन लगते है । एक नता के आदेश का पालन मनुष्य म उतना ही नसर्गिक है जितनी सामाजिकता की भावना । एसा कोई भी पशु-समूह या मानव-समुदाय नही है जिसका कोई नेता न हो ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि राज्य ऐसी विशुद्ध बुराई नही है,

जैसा कि अराजकतावादी मानते हैं। यह तो सत्य है कि शासनों की अपूर्णता के कारण मानव समाज को बड़े कष्ट उठाने पड़े हैं। दोनों विश्व युद्धों के कारण जो भयङ्कर मानव-संहार हुआ वह इसका ज्वलंत प्रमाण है। परन्तु राज्य के कार्यों से समाज का जो बड़ा कल्याण हुआ है उससे भी हम इन्कार नहीं कर सकते। राज्य सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति का सबसे महान् माध्यम रहा है। कला, सहित्य, दर्शन, धर्म आदि सब की अभिवृद्धि राज्य के अधीन हुई है। इसके अतिरिक्त राज्य के बिना मानव जाति तथा व्यक्तियों का नैतिक उत्थान सम्भव नहीं था।

अराजकतावाद और अहिंसा—

प्रायः लोगों का ऐसा विचार है कि अराजकता का हिंसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनेक अराजकतावादियों का विचार है कि बिना क्रांति के राजसत्ता का अंत नहीं होगा। कुछ लोग साम्यवाद की रीतियों का समर्थन करते हैं परन्तु हिंसा में विश्वास अराजकतावाद का अनिवार्य अंग नहीं है। बाकूनिन से पहले के लेखकों ने राज्य का अंत करने के लिये क्रांतिवादी कार्य के सम्बन्ध में शायद ही कभी चर्चा की हो। उन्होंने शिक्षा, अनुनय तथा आदर्श की पद्धतियों पर जोर दिया था। इस प्रकार के अराजकतावाद को शांतिमय कह सकते हैं। इसका सबसे प्रसिद्ध आधुनिक व्याख्याकार टालस्टॉय था। महात्मा गांधी भी सामाजिक एवं राजनीतिक नियंत्रण के साधन के रूप में हिंसा के प्रयोग के विरुद्ध थे और अपने लक्ष्य की प्राप्ति शान्तिमय एवं सत्यनिष्ठ उपायों द्वारा करना चाहते थे। इस दृष्टि से वे भी इस मत के समर्थक माने जा सकते हैं।

प्रश्न

१ 'राज्य एक विशुद्ध अभिशाप है और इस कारण उससे जितनी जल्दी मुक्ति प्राप्त कर ली जाय मनुष्य के नैतिक विकास के लिये उतना ही श्रेयस्कर होगा।' इस उक्ति की व्याख्या करते हुए अराजकतावाद के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिये।

२ अराजकतावाद के गुण-दोषों का विवेचन कीजिये।

३ अराजकतावादी आदर्श समाज की क्या धारणा है ? क्या वह सम्भव है ?

४ साम्यवाद और अराजकतावाद के उद्देश्यों एवं उनकी कार्यप्रणालियों की तुलना कीजिये और बतलाइये कि क्या यह कहना ठीक होगा कि 'साम्यवाद साधनों का सिद्धान्त है और अराजकतावाद साध्य का सिद्धान्त है।'

५ 'अराजकतावाद व्यवस्था का अभाव नहीं, शक्ति का अभाव है।' इसकी व्याख्या कीजिये।

६ अराजकतावाद और व्यक्तिवाद की तुलना कीजिये।

अध्याय १२

गांधीवाद

सामाजिक पुनर्निर्माण के सम्बन्ध मे महात्मा गाधी के अपने निजी विचार थे जिनको हम समष्टि रूप मे गाधीवाद का नाम दे सकते हैं हालांकि स्वय उन्हे अपने विचारो को यह नाम देने मे सदा आपत्ति रही । महात्मा गाधी के सिद्धातो का आजकल 'सर्वोदय' के नाम से प्रचार हो रहा है ।

सुप्रसिद्ध फ्रेंच विचारक रोम्या रोला ने गाधीजी के सिद्धातो की 'दो मजिल वाले एक विशाल भवन' मे तुलना की है जिसकी नीचे की मजिल तो धर्म के विशाल एव अडिग आधार पर खडी है और जिसके ऊपर का दिखाई देनेवाला भाग उन सामाजिक एव राजनीतिक आदोलनो द्वारा निर्मित है जिनका उन्होने नेतृत्व किया था ।* हम उससे भी आगे बढ कर उस अहिंसात्मक राज्य के रूप मे इस भवन का एक तीसरा खण्ड भी देख सकते हैं जिसके विषय मे महात्मा गाधी का विश्वास था कि मनुष्य उसका निर्माण कर सकता है । उनकी कल्पना थी कि यदि हमारी अहिंसा निर्बलो की न होकर वीरो की हो तो ऐसा राज्य भारतवर्ष मे स्थापित किया जा सकता है । भारतवासी ही क्या, उनका तो विश्वास था कि कोई भी

---

*To understand Gandhi s activity it should be realized that his doctrine is like a huge edifice composed of two different floors or grades Below is the solid groundwork the basic foundation of religion On this vast and unshakable foundation is based the political and social campaign (Romain Rolland Mahatma Gandhi p 26)

समाज, जिसके सदस्य अपने जीवन मे अहिंसा के सिद्धात का पालन करते हैं, ऐसे राज्य का निर्माण कर सकते हैं ।

प्रथम दोनो खण्डो का वरानता हमे गाधीजी के लेखो म प्राप्त होता है परन्तु हम यह बात तीसरे खण्ड के विषय मे नही कह सकते । कई कारणो से उन्होने अहिंसात्मक राज्य की रचना का सविस्तर वरान नही किया और उनके लेखो मे हमे उसके केवल आधारभूत सिद्धान्तो का प्रतिपादन ही मिलता है । सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धातो का अध्ययन करनेवाला के लिये उनके द्वारा सचालित आदोलनो का उतना महत्व नही है जितना नवीन समाज सम्बन्धी विस्तार की बातो तथा उसके निर्माण के साधनो का है । अत हम यहाँ केवल सामाजिक एव आर्थिक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले उनके विचारा तथा उनके धार्मिक आधार का ही वरान करेंगे ।

गाधीवाद का धार्मिक आधार—

हमारे विचार से गाधीवाद का सबसे विशिष्ट एव महत्वपूर्ण लक्षण उसका सुदृढ धार्मिक आधार है जिसके कारण वह सामाजिक नवनिर्माण के अन्य समस्त सिद्धान्तो से भिन्न एक अलग ही सिद्धात माना जा सकता है । इतिहास मे ऐसे बहुत थोडे व्यक्ति हुए है जिन्होने जानबूझकर तथा सुचिन्तित प्रयोजन से धम का अपने राजनीतिक चिन्तन एव काय का आधार बनाया हो । गाधीजी के अतिरिक्त इस कोटि म गिने जानेवाले व्यक्तियो म युधिष्ठिर, अशोक तथा योरोप के कुछ मध्य-कालीन सन्त (Church Fathers) ही मुख्य हैं । शायद गाधीजी ही पहले व्यक्ति हुए जिन्होने जोरदार शब्दा म घोषणा की कि धम से पृथक राजनीति हो ही नही सकती , राजनीति धम का साधन है और धमविहीन राजनीति मृत्यु का एक फन्दा है क्योंकि उससे आत्मा की हत्या होती है ।* प्रकृति से ही अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्तिवाले होने के कारण वे इस बात का अनुभव करते थे और इसी कारण वे ऐसी घोषणा कर सके । उनकी स्वाभाविक अभिरुचि धम की ओर थी, राजनीति की ओर नही, जैसा कि 'यग इण्डिया' म प्रकट किये हुए उनके उद्गारो से पता चलता है—'सावजनिक जीवन क्या है इस बात को मैंने जब से समझा है तब से मेरे कहे हुए प्रत्येक शब्द और मेरे किये हुए प्रत्येक काम के पीछे धार्मिक

---

* For me there are no politics devoid of religion They subserve religion Politics bereft of religion are a death trap because they kill the soul

चेतना तथा धार्मिक प्रयोजन रहा है।'* किसी अन्य प्रसग मे उन्होने कहा था कि 'बहुत से धार्मिक व्यक्ति जो मुझे मिले प्रच्छन्न राजनीतिज्ञ हैं, मेरा वेश राजनीतिज्ञ का तो है परन्तु हृदय से मैं धार्मिक हूँ।'† सक्षेप मे, महात्माजी, जहा तक उनका प्रयोजन राजनीतिक नही, धार्मिक था, सामान्य राजनीतिज्ञो से बिलकुल भिन्न थे।

तो फिर गाधीजी ने धर्म के क्षेत्र को छोड़ कर राजनीति के क्षेत्र मे क्यो पदार्पण किया ? इस प्रश्न का उत्तर स्वय उन्ही ने दिया है। उन्हे राजनीति मे इस कारण प्रवेश करना पडा कि 'राजनीति हमे आजकल साप के पाश की तरह लपेटे हुए है जिससे व्यक्ति के लिये मुक्ति पाना असम्भव है चाहे वे कितना ही प्रयत्न क्यो न करें। मैं उस साप से जूझना चाहता हूँ। मैं राजनीति मे धर्म को प्रविष्ट करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।'‡ निम्नलिखित अवतरण से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी कि महात्माजी को राजनीति मे धार्मिक कर्तव्य समझ कर प्रवेश करने की क्यो प्रेरणा हुई। वे लिखते हैं कि 'आज मनुष्य के समस्त कार्य अविच्छेद्य रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं। आप उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा विशुद्ध रूप से धार्मिक कार्य का बिलकुल अलग नही कर सकते। मानवीय चेष्टा से पृथक धर्म को मैं नही जानता। उससे समस्त चेष्टाओ का नैतिक आधार प्राप्त होता है जिसके बिना जीवन कोरा निरर्थक कोलाहल तथा उन्माद ही रह जायगा।'£ सक्षेप मे एक महान् कर्मयोगी की तरह गाधीजी अनुभव

* 'At the back of every word that I have uttered since I have known what public life is and of every act that I have done, there has been a religious consciousness and a down right religious motive

† 'Most religious men I have met are politicians in disguise I however who wear the guise of a politician am at heart a religious man

‡ Politics today encircle us like the coils of a snake from which one cannot get out no matter how one tries I wish to wrestle with the snake I am trying to introduce religion into politics

£ The whole gamut of man s activities today constitutes an indivisible whole you cannot divide social economic political and purely religious work into water light compartments I do not know religion apart from human activity It provides a moral basis to all activities which they would otherwise lack reducing life to a maze of sound and fury signifying nothing'

करते थे कि जीवन एक अखण्ड पूर्ण है जिसकी विभिन्न चेष्टाओ को एक दूसरी से पृथक नही किया जा सकता। धर्म का सम्बन्ध जीवन के किसी एक विशिष्ट भाग से नही है, वह उसके प्रत्येक पहलू मे व्याप्त है और उसे नैतिकता प्रदान करता है।

शायद ही कोई ऐसा काम हो जो मनुष्य जन्म से मृत्यु पर्यन्त, प्रात काल से रात्रि तक, करता है और जिसका मनुष्य-जीवन के चरम ध्येय—आत्मोन्नति—से सम्बन्ध न हो, चाहे वह जीविकोपार्जन हो समाज-सेवा हो विश्राम करना हो या खाना पीना हो। चूँकि अस्पृश्यता बलात् पालन कराया जानेवाला वैधव्य दरिद्रता, मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण, पराधीनता आदि सामाजिक एव आर्थिक बुराइयाँ आध्यात्मिक मोक्ष अथवा आत्मोन्नति के मार्ग मे बडी जबरदस्त बाधाएँ है इसलिये गाधीजी आपने देश को उनसे मुक्त कराना अपने धर्म का एक अङ्ग मानते थे। इस प्रकार की स्थिति ने उनके लिये राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-सग्राम मे कूद पडने के अतिरिक्त कोई चारा ही नही छोडा। धर्म की उनकी अपनी कल्पना ने उन्हे राजनीति मे धकेल दिया। धार्मिक हेतु से राजनीति मे भाग लेने के कारण उन्होने उसे शुद्ध कर दिया, आध्यात्मिक रूप दे दिया और उच्च स्तर पर पहुँचा दिया। जो लोग कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही है वे धर्म तथा राजनीति दोनो का ही सच्चा अर्थ नही जानते। सच्चा धर्म राजनीति का सहायक होता है और सच्ची एव स्वस्थ राजनीति धर्म से पृथक नही की जा सकती।

गाधीजी का मुख्य प्रयोजन राजनीतिक नही, धार्मिक था यह बात इसी से प्रकट हो जाती है कि उन्होने अपनी आत्मकथा का नाम The Story of My Experiments with Truth अर्थात् 'मेरे सत्य के प्रयोगो की कथा' रखा और ईश्वर को सत्य के रूप मे माना। उनके लिये जीवन आत्म सयम, आत्म शुद्धि तथा मानवीय दुर्बलताओ के दमन द्वारा सत्य अथवा ईश्वर की दृढ आग्रहपूर्ण खोज के अतिरिक्त और कुछ नही था। वे प्रेम एव अहिंसा के व्यवहार तथा उपवास और प्रार्थना द्वारा अपने आपको ईश्वर के कार्य का साधन बनाने का प्रयत्न करते रहते थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि गाधीजी की तुलना प्राय बडे-बडे पैगम्बरो तथा अवतारो—जोरोस्टर (जरथुस्त्र) जीसस क्राइस्ट (ईसा मसीह), बुद्ध और कृष्ण—से की जाती है और उन्हे मेजिनी, गरीबाल्डी जगलुल पाशा सनयात सेन जैसे राष्ट्रीय आन्दोलनो के नेताओ की कोटि मे नही रखा जाता।

गांधीजी का धर्म तथा भगवान् की कल्पना—

जब गांधीजी कहते थे कि मेरे लिये धर्म के बिना राजनीति नहीं हो सकती, धर्म मेरी प्राणवायु है, मैं वायु और जल बिना जीवित रह सकता हूँ परन्तु भगवान् के बिना नहीं, यदि कोई मेरा भगवान् में से विश्वास हटा दे तो मैं मर जाऊँगा, तो वे धर्म और भगवान् दोनों शब्दों का साधारण व्यक्तियों से भिन्न बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग किया करते थे। धर्म से सामान्यतया हम लोगों का कुछ निश्चित सिद्धान्त और कर्मकाण्ड से युक्त किसी विशिष्ट मत का अर्थ हुआ करता है और हम उसे हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म अथवा अन्य किसी ऐतिहासिक धर्म का नाम देते हैं। गांधीजी का ऐसा कोई अर्थ नहीं होता था। इन सब विशिष्ट धर्मों को वे अपनी कल्पना के धर्म के साधनमात्र समझते थे। उन्होंने स्वयं अपने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है। जिस धर्म को मैं अन्य सभी धर्मों से अच्छा मानता हूँ वह हिंदू धर्म नहीं है परन्तु वह धर्म है जो हिन्दू धर्म का अतिक्रमण करता है जो मनुष्य की प्रकृति को बदल देता है जो उसका आन्तरिक सत्य से अभेद्य सम्बन्ध स्थापित करता है और जो सदा शुद्धि करता है। वह मानव प्रकृति का वह स्थायी तत्त्व है जो अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त करने में बड़े से बड़ा त्याग करने में नहीं झिझकता और जो आत्मा को उस समय तक चैन नहीं लेने देता जब तक कि उसे आत्म प्राप्ति नहीं हो जाती जब तक कि वह अपने सृष्टा को नहीं जान लेता और अपने सृष्टा के साथ तादात्म्य का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता।'* इस प्रकार धर्म ऐसी वस्तु है जो व्यक्ति के पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करता है और उसके रहन-सहन के ढङ्ग में

---

* Let me explain what I mean by religion It is not the Hindu religion which I prize above all other religions but the religion which transcends Hinduism which changes one s nature which binds one indissolubly to the truth within and which ever purifies It is the permanent element in human nature which counts no cost too great in order to find full expression and which leaves the soul restless until it has found itself known its Maker and appreciated the true correspondnce between the Maker and itself'

प्रकट होता है। इस कारण वह मौखिक शब्द द्वारा किसी दूसरे पर व्यक्त नहीं किया जा सकता, किन्तु वह दूसरों को प्रभावित कर सकता है।

धर्म की यह कल्पना धार्मिक जीवन की उस परम्परागत कल्पना को नष्ट कर देती है जिसके अनुसार सांसारिक जीवन के कर्तव्यों एवं दायित्वों से मुँह मोड़ कर तपस्या एवं ध्यान को ही सब कुछ समझना ही धार्मिक जीवन समझा जाता है। उनका मत था कि जो भगवान् की सेवा करना चाहता है उसे उसके जीवों की सेवा करनी चाहिये और उन्होंने स्वयं अपने जीवन एवं व्यवहार से प्रकट कर दिया कि सेवा के जीवन में अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा सामाजिक बन्धनों के त्याग की आवश्यकता नहीं है।*

इसी प्रकार महात्माजी की भगवान की कल्पना को ईश्वरवादी कल्पना नहीं समझना चाहिये। उनकी भगवान् की कल्पना में कई प्रकार की विभिन्न कल्पनाओं का सम्मिश्रण था। उन्होंने भगवान् का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। 'एक अनिर्वचनीय, निगूढ रहस्यमय सत्ता है जो प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। मैं उसे देख तो नहीं सकता परन्तु उसकी अनुभूति कर सकता हूँ। वह यही अदृश्य सत्ता है जो अपनी अनुभूति कराती है परन्तु जिसका प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि वह समस्त इन्द्रियगोचर पदार्थों से बिल्कुल भिन्न है। वह बाह्य प्रमाणों द्वारा नहीं बल्कि उन लोगों के लोकोत्तर व्यवहार एवं चरित्र द्वारा सिद्ध होती है जो अपने अन्दर भगवान् की वास्तविक सत्ता की अनुभूति करते हैं।† एक स्थल पर उन्होंने भगवान् की उसकी समग्र सृष्टि, समस्त सत्ता के रूप में व्याख्या की है। कभी उन्होंने उसे शक्ति कभी सर्वोच्च विधि (कानून) और कभी विधि निर्माता कह कर उसकी व्याख्या की है। ऐसी व्याख्याओं से मालूम होता है कि

---

† Horace Alexander and others Social and Political Ideas of Mahatma Gandhi p 69

* There is an indefinable mysterious power that pervades everything I feel it though I do not see it It is this unseen power which makes itself felt and yet defies all proof because it is so unlike all that I perceive through the senses It is proved not by extraneous evidence but in the transcendent conduct and character of those who have felt the real presence of God within '

गाधीजी भगवान् की साकार रूप म अर्थात् एक व्यक्ति के रूप में कल्पना नही करते थे। वे उसकी विश्व को धारण करनेवाली निराकार सत्ता के रूप में अथवा चेतन शक्ति अथवा सर्वव्यापी परमात्मा के रूप म कल्पना करते थे। फिर भी उन्हे विश्वास था कि शुद्ध हृदयवाले तथा अहङ्कार को त्याग देनेवाले व्यक्तियो के लिये भगवान् से सीधा सम्पर्क स्थापित करना सम्भव है। भगवान् उन लोगो के सामने प्रकट होते हैं जिनको 'अन्दर की छोटीसी मूक वाणी' सुनने का अभ्यास हो गया है। अपने विषय मे लिखते हुए गाधीजी कहते हैं कि मैंने कभी ऐसा नही देखा कि भगवान् ने मेरी प्रार्थना न सुनी हो। जब स्थिति मुझे सबसे अधिक अन्धकारमय दिखाई दी मैंने उसे अपने निकटतम पाया है। मुझे एक क्षण भी ऐसा याद नही पडता जबकि मुझे ऐसा मालूम हुआ हो कि भगवान् ने मुझे छोड दिया हो। मैं कह सकता हूँ कि सभी आध्यात्मिक परीक्षाओ म भगवान् ने मेरी रक्षा की है।' ऐसे वाक्यो से मालूम होता है कि गाधीजी भगवान् को केवल एक विश्वव्यापी निराकार सत्ता ही नही समझते थे। भगवान् परम सत्य, सत् चित् आनन्द है जो प्रत्येक वस्तु मे व्याप्त है और जिसमें हमम से प्रत्यक रहता है, गति करता है और जीवन धारण करता है। भगवान् विश्व का सृष्टिकर्ता, शासक तथा स्वामी हैं। उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नही हिलता। गाधीजी तो यहा तक मानते थे कि बिहार का भूकम्प, अकाल, बाढ़ आदि प्राकृतिक सङ्कट भी उसी की इच्छा से आते हैं और वे हमारे पापों के लिये दैवी दण्ड रूप होते है।

इस कल्पना का प्रभाव—

भगवान् मे ऐसी सुदृढ एव सजीव आस्था के कुछ परिणामो पर विचार करना आवश्यक है। प्रथम, इस आस्था के कारण गाधीजी जड चेतनमय समस्त विश्व मे परमात्मा का प्रकाश देखते थे। अत वे इस सिद्धान्त को मानते थे कि जीवमात्र एक है जिसके कारण वे अहिंसा को जीवन का सर्वोच्च विधान मानते थे। उन्होने लिखा है कि 'जब जीवमात्र एक है और मेरे सहित समस्त विश्व मे भगवान् का ही प्राकट्य है, तो मैं किसी को अपना शत्रु कैसे समझ सकता हू, किसी को दुष्ट कैसे मान सकता हूँ और किसी से घृणा कैसे कर सकता हूँ? मैं किसी से डर कैसे सकता हूँ या किसी म डर कैसे उत्पन्न कर सकता हू? मैं किसी एक को अन्य लोगो से अपने अधिक निकट कैसे मान सकता हूँ? मैं किसी को

इतना तुच्छ कैसे समझ सकता हूँ कि उसका किसी साध्य के लिये बलिदान कर दूँ ? यद्यपि सत्य तो यह है कि मैं उसी का हूँ, फिर भी उसके एक निगूढ विधान से मैं अपने शरीर से ऐसी आसक्ति द्वारा बँधा हुआ हूँ कि मैं स्वस्थ रहने और जीवित रहने की इच्छा का संवरण नहीं कर सकता। अपने मे बुराई देख कर भी मैं आत्महत्या नहीं करता और न उसे उचित ही समझता हू। तो फिर मैं दूसरे को उसकी बुराई के कारण मारने योग्य कैसे समझ सकता हूँ ?

द्वितीय, इस आस्था से यह उपलक्षित होता है कि व्यक्ति के जीवन का सर्वोच्च ध्येय और कुछ नहीं, केवल अपने अन्दर ईश्वर से साक्षात्कार करना, सर्वव्यापी परमात्मा से अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित करना ही है, अपने अन्दर ईश्वरीय जीवन बिताना है। भगवान् की प्राप्ति का उपाय आत्म शुद्धि है।

तृतीय, इससे हमारे लिये केवल यही समझना सरल नहीं हो जाता कि क्यों गांधीजी ने राजनीति मे प्रवेश किया, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के संग्राम का क्यो नेतृत्व किया, अस्पृश्यता के विरुद्ध जिहाद क्यो बोला, दीन दुखिया तथा पीडितों की पुकार क्यो सुनी और अपनी वसीयत से वंचित लोगों का पक्ष क्या लिया बल्कि यह भी समझ मे आ जाता है कि वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पाशविक बल, हिंसा, वर्ग-संघर्ष जैसे उपायों को त्याग कर केवल शान्तिमय एवं सत्यनिष्ठ साधना पर ही क्या जोर देते थे। किसी असत्यतापूर्ण साधन का वे कभी प्रयोग नहीं करते थे क्योंकि सत्य और अहिंसा एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते। सत्य अहिंसा मे निहित है और अहिंसा सत्य मे। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हिंसात्मक एवं असत्यतापूर्ण साधनों का त्याग करने के तीन मुख्य कारण थे—(१) ऐसे साधनो का प्रयोग जीवमात्र की एकता तथा विश्व के स्वामी एवं शासक के रूप मे भगवान् मे विश्वास से मेल नहीं खाता। जो व्यक्ति जीवमात्र मे भगवान को देखता है वह अहिंसा को जीवन का सर्वोच्च नियम मानने से रुक नहीं सकता। वह अपने मन, वचन कर्म का इसी सिद्धांत के अनुसार नियमन करेगा। (२) बहुत से लोगो का तो विचार है कि साध्य से साधन का औचित्य प्रमाणित होता है परन्तु वे उनके समान साध्य और साधन मे भेद नहीं करते थे। साम्यवादी जैसे लोगों के लिये साध्य ही सब कुछ है साधन कुछ नहीं अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे किसी प्रकार के साधन का प्रयोग करने मे

सकोच नही करत। उनके विपरीत महात्माजी को जितना ध्यान साध्य की नतिकता का रहता था उतना ही ध्यान व साधन की नैतिकता का भी रखत थे। उनके लिय दोनो स मिल कर ही एक अखण्ड पूर्ण का निमाण होता था। साधन के नैतिक गुणो का प्रभाव साध्य के नतिक गुणो पर पडता है और उनस साध्य की नतिकता निधारित हाती है। एक नैतिक साध्य की प्राप्ति अनैतिक साधन स नही हो सकती। यदि प्रयोग मे आनेवाले साधन की नतिकता मदिग्ध है ता उसक द्वारा प्राप्त साध्य को नैतिकता म भी कमी आजायगी। (३) हम आगे चलकर देखेगे कि महात्माजी व्यक्ति की स्वत त्रता का सर्वोच्च हित मानते थे और उनके विचार म समाज उसी की प्राप्ति करने तथा उसे सुरक्षित रखने के लिय ही था। यदि हिंसात्मक साधनो से एक नई सामाजिक व्यवस्था की गई ता उसमे इस लक्ष्य की प्राप्ति नही हा सकेगी। व्यक्ति सच्ची स्वत त्रता का ऐसे हा समाज मे प्राप्त कर सकता है जिसके सदस्य जीवन की एकता म विश्वास करत हे और अपने जीवन मे एक ऊची मात्रा म व्यक्तिगत स्वराज्य की प्राप्ति कर चुके ह। गाधीजी को पूर्ण विश्वास था कि मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण और वतमान समाज की अन्य सामाजिक एव आर्थिक बुराइया समाज के सङ्गठन का हिंसात्मक उपायो से परिर्वातित करके दूर नही की जा सकती, इसके लिये हृदय परिवतन की आवश्यकता है। यह काम केवल अहिंसात्मक एव नतिक साधनो द्वारा ही हो सकता है पाशविक बल के प्रयाग से नही। इस कारण उन्होंने शांतिमय तथा सत्यतापूर्ण साधनो के प्रयोग पर ज़ोर दकर राजनीति को आध्यात्मिक रूप द दिया। मानव जाति के लिये यह उनकी एक महान देन है।

नवीन सामाजिक व्यवस्था—

जब हम गाधीवाद के धार्मिक एव आध्यात्मिक आधारो के अध्ययन से हट कर उस नवीन सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करन लगत है जिसे वे उनके आधार पर स्थापित करना चाहत थे तो हमारे सामने आरम्भ म ही एक बडी कठिनाई आती है। महात्माजी नवीन समाज का विस्तत वर्णन करने के लिये कभी तैयार नही हुए। इसके कई कारण थ। सवप्रथम, कार्डिनल न्यूमेन के शब्दो म व कहत थ कि 'मैं दूरस्थ लक्ष्य को देखना नहीं चाहता, मेरे लिये तो एक कदम ही पर्याप्त

है।"* जो लोग विश्व की ईश्वरीय [illegible] जो इस बात मे अडिग विश्वास रखते है कि [illegible] एक पत्ता भी नही हिलता उन सब लोगों [illegible] होती है। गाधीजी मे यह विश्वास अडिग था। [illegible] पूर्ण विश्वास था कि वे केवल भगवान् के [illegible] इच्छा को कार्यान्वित कर रहे थे। द्वितीय, जिन [illegible] सचालन कर रहे थे और जिसके द्वारा [illegible] होना था उसका प्रयोगात्मक स्वरूप [illegible] उत्तरदायी था। अत मे, गाधीजी ने [illegible] विशद चित्र का निरूपण पहले ही [illegible] निर्माण तो जनता स्वय अपने नैतिक [illegible] करेगी। इस प्रकार अहिंसात्मक [illegible] पहले से निर्धारित न करना गाधीजी के [illegible] समाज की मोटी रूपरेखा तथा [illegible] का नियमन करनेवाले सिद्धान्त [illegible] निकल आते है।

रहा हो।* (आ) गांधीजी के मत के अनुसार जीवन का ध्येय आत्मोन्नति अर्थात् व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास है। इसके लिये व्यक्ति का पूर्ण स्वतन्त्रता का वातावरण चाहिये जो राज्य की उपस्थिति में प्राप्त नहीं हो सकता। राज्य की सत्ता दमनकारी होने के कारण नागरिकों के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिये घातक होती है। हम ऊपर बतला चुके है कि महात्माजी का विश्वास था कि राज्य ने व्यक्तित्व का विनाश करके मानवता को सबसे बडी क्षति पहुँचाई है। इस कारण अहिंसा के आधार पर स्थिर आदर्श समाज राज्यविहीन होगा। उसमें कहीं भी राजनीतिक सत्ता नहीं होगी। उसमें कई स्वाश्रयी, स्वयं संचालित तथा स्वशासी ग्राम होंगे जो एक ऐच्छिक संघ में परस्पर सम्बद्ध होंगे। अहिंसा तथा उसी से उत्पन्न अन्य सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से अनुकरण करने के कारण प्रत्येक नागरिक स्वयं अपना शासक होगा। वह इस प्रकार व्यवहार करेगा कि अपने पडोसी के लिये कभी बाधक नहीं बनेगा। 'अहिंसा के आधार पर स्थिर समाज गाँवों में बसे हुए ऐसे ही समुदायों का समूह हो सकता है जिनमें ऐच्छिक सहयोग ही शान्त एवं सम्मानित जीवन की शर्त है। उनमें लोग अहिंसा के ऊँचे स्तर पर पहुँचे हुए होंगे और पूर्ण आत्म संयम को प्राप्त हुए होंगे। व्यक्ति सदा ही आध्यात्मिक सत्य का ज्ञान रखते हुए सादगी और त्याग का जीवन व्यतीत करेगा।'† किन्तु

---

* 'The State represents violence to which it owes its very existence I look upon an increase in the power of the State with the greatest fear because, although while apparently doing good by minimising exploitation, it does the greatest harm by destroying individuality which lies at the root of all progress We know of so many cases where men have adopted trusteeship but none where the State has really lived for the poor (Nirmal Kumar Bose Studies in Gandhism p 202 204)

† 'Society based on non violence can only consist of groups settled in villages in which voluntary co operation is the condition of dignified and peaceful existence The individuals would have developed a high level of non violence and acquired almost complete self-control The individual continuously aware of Spiritual Reality will live a life of simplicity and renunciation (Gopinath Dhawan The Political *Philosophy of Mahatma Gandhi* p 318)

सिद्धात की दृष्टि से राज्य का अस्तित्व अहिंसा के नियम से कितना ही असगत क्यों न हो और दमनकारी सत्ता का प्रयोग व्यक्तित्व तथा नैतिक स्वतन्त्रता के लिये कितना ही विनाशकारी क्यो न हो, मनुष्य की अपूर्णता के कारण उसे सहना पडता है। यदि समाज के सभी सदस्य नतिक श्रेष्ठता की आवश्यक स्थिति को पहुँच सकें, यदि सभी सत्य एव अहिंसा के सिद्धाता के अनुकूल आचरण कर सकने की सामथ्य प्राप्त कर सके तो राज्य का क्षय हो जायगा। परन्तु इस ससार म इस आदश की पूरण सिद्धि कभी नही हो सकती। सभी व्यक्ति नैतिक श्रेष्ठता की उस कोटि को और आत्म सयम की उस अवस्था को नही पहुँच सकते जो उस आदर्श की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। कुछ मनुष्यों के लिये अपनी सग्रहात्मक तथा हिंसात्मक प्रवृत्तियों का पूरणतया दमन करना या नियन्त्रण करना सदा कठिन होगा अत अपूरण मनुष्यो के इस अपूरण ससार मे न्यूनतम शासन की सदा आवश्यकता रहेगी। इसके अतिरिक्त न्यूनाधिक स्वाश्रयी एव स्वशासी ग्राम गणतन्त्र पथक इकाइयो की तरह काय नही कर सकते। उन्हे किसी न किसी प्रकर के शिथिल सघ में सम्मिलित होना ही पडेगा। इस सघ म शासन की हैसियत से काय करने के लिये किसी प्रकार की केन्द्रीय सस्था आवश्यक होगी। महात्माजी व्यावहारिक आदशवादी थे। यह देख कर उन्हे राज्य के बने रहने मे कोई आपत्ति नहीं थी। इस प्रकार जिस आदश समाज का निर्माण करने की हम आशा कर सकते हैं वह प्रधानत अहिंसात्मक राज्य होगा, पूरणतया अहिंसात्मक तथा राज्यविहीन समाज नही। परन्तु अहिंसात्मक राज्य म विभिन समस्याओ का समाधान शासन अहिंसात्मक ढग से करेगा। वह अपराधो के सम्बन्ध में भी उसी भावना से काम करेगा। वह अनुनय से शासन करेगा, बल मे नही। उसके पास पुलिस होगी, वह सशस्त्र भी हो सकती है क्योकि उसका एक काम अपराधियो को गिरफ्तार करना होगा। परन्तु वह पुलिस आजकल की पुलिस स भिन होगी। वह अहिंसा मे विश्वास करनेवालो की होगी। पुलिस के लोग जनता के सेवक होंगे, स्वामी नही। लोग स्वभावत उनकी सहायता करेंगे और पारस्परिक सहयोग द्वारा वे निरन्तर कम होनेवाली गडबडिया को सरलता से ठीक कर सकेंगे। पुलिस के पास किसी प्रकार के शस्त्र अवश्य होंगे परन्तु यदि उनका प्रयोग हुआ भी तो कभी-कभी ही होगा। वास्तव म पुलिसवाले सुधारक होंगे। उनका पुलिस का काम डाकुओ और लुटेरा तक

ही सीमित रहेगा।' इसी प्रकार अहिंसात्मक राज्य मे कारागार भी होंगे परन्तु वे भी आजकल के कारागारो से भिन्न होंगे। अपराध को वे एक रोग और सामाजिक कुव्यवस्था का परिणाम समझते थे, अत वे कारागार को एक सुधारगृह, चिकित्सालय तथा पाठशाला तीनो का सम्मिलित रूप देना चाहते थे। उसका काम अपराधी को जीवन के अहिंसात्मक ढग म ला कर उसका सुधार करना होगा।

(२) विकेन्द्रीकरण—

अहिंसा के आधार पर स्थिर राज्य का दूसरा मुख्य लक्षण होगा राजनीतिक एव आर्थिक दोना ही क्षेत्रो मे विकेन्द्रीकरण। इसकी आवश्यकता इस कारण है कि केन्द्रीकृत व्यवस्था पर्याप्त बल क बिना टिकी नही रह सकती। इसका प्रमाण हमें रूस, अमेरिका, इङ्गलैण्ड आदि देशा में जो कुछ हो रहा है उससे मिलता है। एक व्यवस्था के रूप में केन्द्रीकरण का परिणाम होता है ऊपर के कुछ व्यक्तियो के हाथो म सत्ता का एकत्रित होना जो सामाजिक समानता तथा व्यक्तित्व के सिद्धान्तो से असगत है। गाधीजी के सामाजिक दशन में विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान निम्न अवतरण मे बडो सुन्दर रीति से वर्णित किया गया है। 'विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का समथन गाधीवाद मे इस अनुभूति के आधार पर किया जाता है कि केन्द्रीकृत उत्पादन की वतमान व्यवस्था तथा राजनीतिक सत्ता का एकत्रित होना ये दानो ही बातें व्यक्ति के विकास के लिय आवश्यक वातावरण के प्रतिकूल होती है। गाधीजी का विश्वास था कि मानव सुख का ध्येय, जो व्यक्ति के मानसिक, नतिक तथा आध्यात्मिक विकास की पूर्ण सुविधा पर निभर है, उत्पादन तथा सत्ता की विकेन्द्रीकृत व्यवस्था मे ही प्राप्त हो सकता है। राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण से व्यक्ति स्वतन्त्रता तथा स्वत काय करने की सामर्थ्य पर आधारित जनतन्त्र कारगर होता है और व्यक्ति अपने देश के शासन मे भाग ल सकता है। इससे मानव जीवन के लिय आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन तथा वितरण की अपने आप ही व्यवस्था हो जाती है। उत्पादन तथा उपभोग दोनो एक ही स्थान पर होंगे, ऐसा नही होगा कि उत्पादन किसी एक ही विशिष्ट स्थान पर केन्द्रित हो जिससे उपज तथा सम्पत्ति के वितरण के लिये नियमो के निर्माण की आवश्यकता पडे। विकेन्द्रीकरण से मशीनो के प्रयोग का नियमन भी हो सकेगा।

स्वार्थ सिद्धि के लिये मशीनो के वर्तमान अनियन्त्रित प्रयोग से असंख्य लोगो का जीवन नीरस तथा भार रूप हो गया है।*

राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह है कि ग्रामों को अपने कार्यों की व्यवस्था करने में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता और अपनी ओर से काम करने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिये। उसके ऊपर राष्ट्रीय अथवा संघीय सरकार का नियन्त्रण न्यूनतम होना चाहिये। यदि नियन्त्रण स्वरूप में दमनकारी न होकर केवल नैतिक रहे तो यह व्यवस्था आदर्श रहेगी। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह भी है कि राष्ट्रीय स्तर पर प्रातिनिधिक संस्थाएँ परोक्ष निर्वाचन के आधार पर सङ्गठित हो। प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्मित राष्ट्रीय विधान-सभा अपने हाथो मे अत्यधिक सत्ता ले लेगी और वह इस प्रकार व्यक्तित्व के विकास के लिये भयावह हो जायगी। अपने 'हिन्द स्वराज्य' में महात्माजी ने इङ्गलैण्ड की पार्लमेण्ट की बडी कडी आलोचना की थी।

आर्थिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ है बडे पैमाने पर कार्य करनेवाले कारखानो को बन्द करना और उनके स्थान पर कुटीर उद्योगो को स्थापित करना। अहिंसात्मक राज्य के जन्म के लिये यह अत्यधिक आवश्यक बात है। वर्तमान संसार मे जो हिंसा दिखाई देती है उसका अधिकांश अन्ततोगत्वा पश्चिमी देशो की अत्यन्त केन्द्रीकृत औद्योगिक व्यवस्था के ही कारण है। जीवन के भौतिक मूल्यो पर जोर देनेवाली पश्चिमी सभ्यता के अधिकांश दोषो का कारण भी वही है। अहिंसात्मक राज्य में जिस प्रकार की सभ्यता और जिन आध्यात्मिक मूल्यों का पोषण होगा, वे बडे और अत्यधिक केन्द्रीकृत उद्योग के वातावरण मे नहीं पनप सकते, उनके लिये कुटीर-उद्योग आवश्यक हैं जिनमे उत्पादन के साधन तथा उत्पादन दोनो पर मजदूर का ही स्वाम्य होता है। ऐसी व्यवस्था मे व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण नही हो सकता और राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण मे भी अधिक विषमता नही हो सकती।

किन्तु जहाजो, रेल के इंजिनो, ऊँची कोटि के इस्पात आदि का निर्माण बडे पैमाने पर काम करनेवाले कारखानो के बिना नही हो सकता। अत प्रश्न यह उठता है कि बडे कारखानोवाली व्यवस्था बिलकुल ही हटा दी जाय। महात्माजी रेलो, जहाजो आदि के त्याग के लिये तैयार थे,

---

* Theosophical Free Tract No 23, March 21, 1952

वे यह नही समझते थे कि इस्पात का युग पत्थर के युग से अधिक समुन्नत है। 'समय और दूरी को नष्ट करने, पाशविक इच्छाओं की वृद्धि करने तथा उनको पूरा करने के लिये जमीन आसमान एक कर देने की उन्मादपूर्ण इच्छा' से उन्हे हार्दिक घृणा थी। उनके आदर्श समाज मे रेलो, जहाजो आदि का अभाव होगा और इसी कारण बडे कारखाने भी नही होगे। बडे नगर, डॉक्टर, वकील, न्यायालय आदि नही होगे और विदेशी वाणिज्य व्यापार बहुत कम होगा। जीवन बडा सादा होगा और आवश्यकताएँ भी कम होगी जिनकी पूर्ति सरलता से हो सकेगी। ऐसे वातावरण मे उत्पन्न होनेवाली सभ्यता ग्राम-सभ्यता होगी। उसमे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की समस्या का भी समाधान हो जायगा। अहिंसा तथा विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्थिर सरल समाज से दूसरे समाजों की स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा को कोई भय नही होगा और न उस समाज को ही उनसे कोई भय रहेगा। किन्तु यहा यह शका होती है कि क्या आर्थिक क्षेत्र मे विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को इस प्रकार कार्यान्वित किया जा सकता है कि बडे-बडे कारखानो को पूर्णतया बन्द कर दिया जाय। इस विषय मे भी महात्माजी ने मनुष्य की दुर्बलताओ का लिहाज किया। वे जल्दी करना और तुरन्त ही भारी यातायात एव यान्त्रिक उद्योगो को बन्द कर देना नही चाहते थे। अहिंसात्मक राज्य मे भाप और बिजली के प्रयोग तथा न्यूनतम केन्द्रीयकृत उद्योग को बने रहने देने मे उन्हे कोई आपत्ति नही थी परन्तु इस शर्त पर कि नागरिक उद्योगवाद की बुराइयो से बचे रहे। सिद्धान्त यह है कि बडे-बडे कारखाने कुटीर उद्योग के प्रतिद्वन्द्वी न बन कर उसके हितो के ही साधक बनें।

(३) वर्ण-व्यवस्था—

अहिंसात्मक राज्य का सङ्गठन वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त पर होगा। महात्माजी के विचार मे इस सिद्धान्त का अर्थ केवल इतना ही है कि समाज मे व्यक्ति अपने पूर्वजो के परम्परागत पेशे को करे जहाँ तक कि उस पेशे से आधारभूत नैतिकता की कोई असगति नही है और वह भी केवल अपनी आजीविका कमाने के लिये। नवीन समाज का नैतिक सिद्धान्त यह होगा कि प्रत्येक व्यक्ति आजीविका के लिये अपने पूर्वजो के पेशे को कर्तव्य की भाँति करेगा। इस सिद्धान्त के पालन से प्रतिस्पर्धा तथा निजी लाभ की भावना का निराकरण हो जायगा और सामाजिक स्थिरता मे वृद्धि होगी। बच्चो को प्रौद्योगिक शिक्षा प्राप्त होने से उस पेशे की कला

मे भी उन्नति होगी। इस सिद्धात का समर्थन करते हुए महात्माजी ने लिखा है—'मेरा विश्वास है कि मनुष्य ससार मे कुछ प्राकृतिक प्रवृत्तियो को लेकर जन्म लेता है। प्रत्येक मनुष्य मे जन्म से ही कुछ कमिया होती हैं जिनके ऊपर वह विजय प्राप्त नही कर सकता। इन्ही कमियो का ध्यान पूर्वक विचार करके वर्ण के सिद्धान्त का निर्माण किया गया था। इससे कुछ प्रवृत्तियाँ स्थिर होती है। इसमे अयोग्य प्रतिस्पर्धा का निराकरण हो गया। कमिया को स्वीकार करते हुए भी वर्ण के सिद्धात ने ऊँच-नीच के किसी भेद को स्वीकार नही किया। एक ओर तो उसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम के पुरस्कार का आश्वासन मिला और दूसरी ओर उसने उसे अपने पडौसियो पर भार डालने से रोक दिया।'

वर्ण व्यवस्था से कई बाते उपलक्षित होती है और उसमे कई बात पहले से ही मान ली जाती है जिन्हे स्पष्ट रीति से समझ लेना चाहिये। प्रथम यह सिद्धात समस्त प्रकार के पेशो को समान मानता है। वर्ण की कल्पना मे कोई वस्तु श्रेष्ठ या निकृष्ट नही है। भारतवासी विभिन्न पेशो में ऊँचे नीचे का भेद करते हैं। इस विचार को त्याग देना चाहिये। गाधीजी वर्ण के सिद्धात को जैसा समझते थे उससे यह विचार असगत है। द्वितीय, जिस वशानुगत पेशे को करने की प्रत्येक व्यक्ति से सामान्यतया अपेक्षा की जाती है उसे अपनी आजीविका कमाने का साधन तथा समाज के प्रति कर्तव्य करने का साधन समझना चाहिये, धन एकत्रित करने का साधन नही। अन्त मे इस सिद्धात का यथोचित और सफलतापूर्वक पालन करवाने के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न पेशो की आमदनी यथासम्भव समान कर दी जाय। अधिकाश पेशो का वशानुगत रूप, जो हमारी जाति-प्रथा का एक प्रशसनीय लक्षण रहा है, वर्तमान प्रतिस्पर्धामूलक व्यवस्था मे बना नही रह सकता क्योकि विभिन्न पेशो की आमदनियो तथा सामाजिक प्रतिष्ठा मे बडा अतर पड गया है। आचार्य विनोबा भावे (अ) सब प्रकार के काम के लिये समान पारिश्रमिक (आ) समस्त प्रतिस्पर्धा का अभाव तथा (इ) लोगो की वशानुगत योग्यताओ का पूर्ण लाभ उठानेवाली शिक्षा व्यवस्था को वर्ण-व्यवस्था का सार समझते हैं।

(४) अपरिग्रह (Non Possession)—

अहिंसात्मक राज्य का एक दूसरा आधारभूत सिद्धात है—अपरिग्रह। किन्तु अपरिग्रह निरपेक्ष नही हो सकता। शरीर को जीवित एव स्वस्थ रखने के लिये विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति आवश्यक होती है

और इसके लिये कुछ वस्तुओं पर व्यक्ति का अधिकार होना चाहिये। परन्तु इन आवश्यकताओं को एक सीमा के बाहर नहीं जाने देना चाहिये और व्यक्ति को ऐसी कोई वस्तु अपने पास नहीं रखना चाहिये जिसकी उसे आवश्यकता नहीं है। गांधीजी किसी व्यक्ति के पास केवल आवश्यकता की वस्तुएँ रहने देना चाहते थे, उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं। भविष्य के लिये अभी से कुछ प्रबन्ध करने का अर्थ है भगवान् में अविश्वास और यह बात अपरिग्रह के सिद्धांत में असंगत है। सामान्य मनुष्यों के लिये इस आदर्श का पूर्ण पालन सरल या सम्भव न हो, 'किन्तु हम इस आदर्श को सदैव दृष्टि में रखना चाहिये और उसके प्रकाश में हम अपनी वस्तुओं की छानबीन कर उन्हें कम करने का प्रयत्न करना चाहिये। सच्चे अर्थ में सभ्यता आवश्यकताओं को जान-बूझ कर और अपनी इच्छा से कम करने में है, उनको बढ़ाने में नहीं।' अपरिग्रह के सिद्धांत का व्यावहारिक जीवन में क्या महत्व है यह गांधीजी के उपयुक्त शब्दों से अच्छी प्रकार प्रकट हो जाता है।

(५) न्यासित्व—

अपरिग्रह के सिद्धांत से घनिष्ट रूप से जुड़ा हुआ न्यासित्व (Trusteeship) का सिद्धांत है। वर्तमान संसार में धनियों के पास फालतू वस्तुओं का भण्डार भरा रहता है जिनकी उन्हें आवश्यकता नहीं है और जो इस कारण व्यर्थ नष्ट होते हैं जब कि करोड़ों आदमियों को भोजन के अभाव में अकथनीय कष्ट भोगने पड़ते हैं। 'यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने पास उतनी ही वस्तुएँ रखे जितनी की उसे आवश्यकता है तो किसी को अभाव नहीं रहेगा और सब संतुष्ट रह सकेंगे। अतः समस्या यह है कि धनियों से उनकी सम्पत्ति मर्यादित कैसे कराई जाय ? समस्या वर्तमान की ही नहीं है, अहिंसात्मक समाज में भी यह समस्या उठेगी, चाहे वह थोड़ी मात्रा में ही क्यों न उठे, क्योंकि यद्यपि हम न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था द्वारा उत्पन्न सम्पत्ति की असमानता को मिटा भी दें तो भी बुद्धि, शारीरिक बल आदि से उत्पन्न असमानताओं के कारण थोड़ी बहुत असमानता तो अवश्य रहेगी। गांधीजी धनियों को उनकी अतिरिक्त सम्पत्ति से वंचित करने के लिये हिंसा का प्रयोग पसन्द नहीं करते थे, हिंसात्मक कार्यवाही से समाज को लाभ नहीं पहुँच सकता। उस दशा में ऐसे व्यक्ति को खो कर जो धन एकत्रित करना जानता है, समाज अपनी क्षति कर लेगा।' वे अहिंसात्मक उपायों का प्रयोग पसन्द करते

थे। वे चाहते थे कि धनी अपनी सम्पत्ति अपने पास रखे और अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिये जितना वह उचित समझे खर्च करे, परन्तु अवशिष्ट सम्पत्ति को समाज का न्यास समझे जिसका उपयोग समाज के लिये ही होना है। इस प्रकार गाधीजी सम्पत्ति के असमान वितरण से उत्पन्न समस्या का समाधान न्यासित्व के सिद्धान्त द्वारा करना चाहते थे। समाज की वर्तमान अवस्था में ही नहीं, सभी अवस्थाओं में अपरिग्रह के आदर्श के अनुकूल जीवन व्यतीत करने का व्यावहारिक ढंग यही है कि हम में से प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को अपने लिये नहीं बल्कि समाज की ओर से न्यास की तरह धारण करे। इस सिद्धान्त के अनुसार निजी तथा अन्य सम्पत्ति में कोई भेद नहीं है। सभी सम्पत्ति, चाहे उसका स्वामी कोई हो न्यास समझी जानी चाहिये। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती कि इस सिद्धान्त को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिये व्यक्ति के उच्च कोटि के नैतिक विकास की आवश्यकता है। गाधीजी का विश्वास था कि यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों के बाद भी बना रहेगा। इसे हम ससार को भारतवर्ष की देन कह सकते हैं। यदि राष्ट्र और व्यक्ति इसके अनुसार आचरण करें तो व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण बन्द हो जायगा और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के कारण कम हो जायेंगे।

इस सिद्धान्त का बड़ा सुन्दर विवरण एक थियोसॉफिकल पत्रिका में इस प्रकार दिया हुआ है। आधुनिक सामाजिक दार्शनिकों द्वारा कल्पित सामाजिक क्रान्ति की दूसरी मुख्य बात आर्थिक समानता है जिसका अर्थ है व्यक्ति की चरम उन्नति के लिये समान अवसरों की सुविधा प्रदान करना। आजकल सम्पत्ति के उचित वितरण की समस्या का समाधान समाजवादी अथवा लोककल्याणवादी राज्य द्वारा करने की बातचीत की जाती है। यदि हम मान भी लें कि ये दोनों ही उपाय अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रभावकारी हो सकते हैं तो भी उसमें सामाजिक संगठन विकेन्द्रीकरण के प्रथम आधारभूत सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा। समाजवादी राज्य में उत्पादन के साधनों तथा वितरण के तरीकों का समाजीकरण किया जाता है। उनका सचालन प्रबन्धकों, विशेषज्ञों आदि की एक विशाल नौकरशाही के द्वारा किया जाता है। लोककल्याणवादी राज्य में भी गरीबों को मुफ्त सहायता सामाजिक बीमे तथा राजकीय अस्पताल, निःशुल्क पाठशालाओं आदि के रूप में अन्य प्रकार के

लाभदायक कामो के लिये बढ़ती हुई दर पर वसूल करने के लिये एक विशाल नौकरशाही सगठन की आवश्यकता होती है। सम्पत्ति के समान वितरण का समाजवादी तरीका निजी सम्पत्ति जब्त करना है। लोक कल्याणकारी राज्य यही काम ऊँची आमदनियो पर ऊँचे कर लगा कर करता है।

गाधीजी का विश्वास था कि सम्पत्ति के समान वितरण की समस्या के आधार म न्यासित्व का सिद्धात होना चाहिय। धनी लाग अपनी अतिरिक्त सम्पत्ति के न्यासी है अथवा उनको ऐसा होना चाहिये। इस सिद्धात के अनुसार अपनी उचित आवश्यकताओ से अधिक कुछ रखना या सग्रह करना चोरी है। यदि ऐसा है तो सम्पत्ति का समान वितरण किस प्रकार हो ? धनी की सम्पत्ति उसी के पास रहेगी और वह उसमे से अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओ के लिय खर्च करेगा, अवशिष्ट सम्पत्ति को वह अपने पास समाज का न्यास समझेगा और उसका उपयोग वह समाज के लिय ही करेगा। किन्तु यदि धनी लोग इस प्रकार गरीबो के सरक्षक न बन तो क्या किया जाना चाहिये ? महात्माजी के पास इसका एक ही उचित एव अचूक उपाय था—अहिंसात्मक असहयोग तथा सविनय अवज्ञा।

धनी लोगो का अपने गरीब भाइयो के प्रति अपनी जिम्मेदारी बतलाने के लिये गाधीजी कहते थे कि वे गरीबो के एच्छिक अथवा जबरदस्ती प्राप्त किय हुए सहयोग के बिना धन न प्राप्त कर सकत हैं और न उसे रख ही सकते हैं। पूँजीपतियो जमीदारो, मिल मालिकों, साहूकारो, मुनाफाखोरों आदि से उन गरीब लोगो के न्यासी बनने का अनुरोध किया जायगा जिनके ऊपर वे अपनी सम्पत्ति प्राप्त करने, अपने पास बनाये रखने तथा उसकी वद्धि करने के लिये निर्भर हैं। धनियो के इस विचार को ग्रहण करने तक के लिये प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नही है। यदि धन से शक्ति प्राप्त होती है तो श्रम से भी शक्ति प्राप्त होती है। दोनों परस्पर एक दूसरे पर निभर हैं। जब मजदूर अपनी शक्ति को पहचान लेता है तो वह गुलाम बने रहने की अपेक्षा पूँजीपति का सहभागी बनने की स्थिति मे पहुँच जाता है। मजदूर के असहयोग से पूँजीपति की आखें खुल जायँगी और उसे अपनी त्रुटिया मालूम हो जायँगी। यदि मजदूर लोग प्राय असफल होते हैं तो इसका कारण यह है कि वे पूँजीपतियो

को उनकी ज़िम्मेदारी का ज्ञान कराने की जगह अपने लिये सम्पत्ति प्राप्त करना और पूँजीपति बन जाना चाहते हैं।

मजदूरो को आवश्यकता के समय अहिंसात्मक असहयोग का प्रयोग करने की शिक्षा धीरे धीरे ही होगी परन्तु यह दावा किया जा सकता है कि यह उपाय सबसे असंदिग्ध और सबसे जल्दी फल देनेवाला है। यह बात सरलता से समझ म आ सकती है कि पूँजीपतियो के विनाश का अंत अन्त में मजदूरो का भी विनाश होगा। कोई भी सामान्य मनुष्य इतना बुरा नहीं होता कि उसका सुधार ही न हो सके और कोई भी साधारण मनुष्य ससार म इतना पूर्ण नही है जो यह जान सके कि दूसरा पूर्णतया बुरा है या नही।

न्यासित्व के सिद्धान्त की बडी आलोचना हुई है और कुछ लोग इसे केवल एक अल्पकालिक उपाय या धोखे की टट्टी समझते हैं कुछ लोग, जिन्होंने इसे स्वीकार कर लिया है, समझते हैं कि न्यासी की आवश्यकता केवल क्रान्ति के बाद के युग म उस समय तक ही है जब तक कि समाज स्वय अपनी वसीयत को अपने हाथो म लेकर उसका प्रबन्ध करना आरम्भ नही कर देता। यह सर्वहारावर्ग के साम्यवादी अधिनायकतन्त्र के समान है जो समाज के नेताओ को अपनी वसीयत को सम्हालने तक के लिये एक प्रकार के एक दल का न्यासित्व है। किन्तु जब तक हम इस सिद्धान्त के दार्शनिक आधार को ठीक ठीक न समझ लें तब तक उसकी ठीक ठीक कल्पना हमारे लिये सम्भव नहीं।*

(६) रोटी कमाने के लिये श्रम—

अन्त म हम 'रोटी कमाने के लिये श्रम' के सिद्धान्त का भी वर्णन करना है जिसे गांधीजी ने टॉल्स्टॉय से प्राप्त किया और जो टॉल्स्टॉय को भी एक दूसरे रूसी लेखक से प्राप्त हुआ था। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को अपने शरीर की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये अपने हाथ की महनत से किसी वस्तु का अवश्य उत्पादन करना चाहिये। यह नियम बुद्धजीवी लोगो के साथ भी लागू होता है। गांधीजी रमण या रवीन्द्रनाथ जैसे व्यक्तियो के लिये भी प्रतिदिन कुछ हाथ की महनत करने पर जोर देते थे क्योंकि उनकी दृष्टि मे बौद्धिक काम हाथ के काम का स्थान कभी नहीं ले सकता। ऐसे लोगो के लिये शारीरिक

*Theosophical Free Tract No 23 March 21 1952

श्रम व्यय नही होता, उसमे बौद्धिक कार्य के गुण मे वृद्धि होती है। गाधीजी सभी प्रकार के लोगो के लिये शारीरिक श्रम की आवश्यकता पर जोर देते थे और इसके साथ ही जीवन की व्यवस्था मे बौद्धिक कार्य के महत्व एव स्थान को भी समझते थे। उनका कहना था कि 'यदि प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह धनी हो या गरीब, किसी रूप मे व्यायाम करना है तो उसका कोई उत्पादक रूप अथवा 'रोटी कमाने के लिये श्रम' का रूप क्यो नही हो सकता। मनुष्य मात्र मे १०० मे से ९० आदमी भूमि जोत कर जीविका कमाते हैं। यदि शेष बचे हुए व्यक्ति भी बहुसख्यक लोगो का अनुकरण करने लगें, कम से कम अपने भोजन के लिये पर्याप्त श्रम करने लगें तो ससार कितना सुखी, स्वस्थ एव सुन्दर बन जायगा और यदि ऐसे लोग कृषि मे हाथ बटाने लगे तो उससे सम्बन्ध रखनेवाली कई कठिनाइयो का सरलता से निराकरण हो जायगा। इसके अतिरिक्त जब बिना किसी अपवाद के सभी 'रोटी कमाने के लिये श्रम' के दायित्व को स्वीकार कर लेंगे तो ईर्ष्योत्पादक श्रेणि भेद भी मिट जायेंगे। यह सिद्धान्त सभी वर्णों के लिये समान होगा।' यह श्रम कृषि, बुनाई, बढईगीरी अथवा लुहारगीरी आदि मे से किसी क्षेत्र मे किया जा सकता है, हालांकि गाधीजी कृषि को पसन्द करते थे।

विकेन्द्रीयकरण, वर्ण व्यवस्था, अपरिग्रह, न्यासित्व तथा रोटी के लिये श्रम के सिद्धान्तो के पालन से ऐसे आध्यात्मिक प्रजातन्त्र की स्थापना सुनिश्चित हो जायगी जिसमे अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुकूल समाजसेवा करके अपना विकास करने की प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। उसमे किसी प्रकार का शोषण नही होगा और सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रो मे समानता का राज्य होगा जो 'अहिंसात्मक स्वतन्त्रता की कुञ्जी' है। ऐसे समाज मे उत्पन्न होनेवाली सभ्यता ग्राम्य तथा कृषि प्रधान होगी कोई बडे नगर नही होगे, न कारखाने होगे, न उसमे पूँजीवाद होगा, न जमीदारी होगी। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वामी होगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नगण्य सा होगा, बल्कि यों कहिये कि जिले जिले मे या प्रान्त प्रान्त मे भी अधिक व्यापार न होगा। स्वाश्रयी ग्राम्य गणतन्त्रो मे आन्तरिक या बाह्य व्यापार की सभावना नही हो सकती।

यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि वास्तविक समाज मे उपयुक्त सिद्धान्तो का पूर्ण रूप से पालन नही हो सकता। अहिंसात्मक समाज एक आदर्श है जिस तक पहुँचने का हम निरन्तर प्रयत्न करते रहेंगे, किन्तु

उसे पूरी तरह से प्राप्त नही कर सकेंगे। श्री मश्रुवाला लिखते हैं कि 'गाधीवाद एक आदर्श की तरफ प्रगति करने का एक तरीका है। गाधीजी की प्रिय उपमा के अनुसार स्वय आदर्श तो यूक्लिड का बिन्दु है जिसकी मन कल्पना कर सकता है किन्तु जिसे सुई की बारीक से बारीक नोक तक बना नही सकती। यह हिमालय की एक ऊँची चोटी के समान भी है। सत्यवादिता, अहिंसा, पद, अवसर, सम्पत्ति के वितरण तथा जीवन की आवश्यकताओ एव सुखो की समानता राज्य के नियन्त्रण का अभाव, विकेन्द्रीयकरण, अयन्त्रीकरण, शाति, मत्री, अविरोध, युद्ध, सैन्य नियन्त्रण एव स्पर्धा से मुक्ति तथा व्यवस्थित समाज की आवश्यकताओ के अनुकूल अधिक से अधिक स्वतन्त्रता—ये सब उसकी अभीष्ट वस्तु है।* व्यवहार के इन आदर्श नियमो म स किसी का भी पालन पूर्णतया नही हो सकता, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति दूसरो की प्रतीक्षा किये बिना अपने जीवन मे उनम स प्रत्यक को न्यूनाधिक कार्यान्वित कर सकता है। जीवन की गाधीवादी पद्धति की यही सुन्दरता है। पुन, यदि एक व्यक्ति उन पर आचरण कर सकता है तो एक व्यक्ति-समूह भी वसा ही कर सकता है। अत किसी को इस भय से कि आदर्श को पूर्णतया प्राप्त करना असम्भव है, प्रारम्भ करने म सकोच नही करना चाहिये। ऐसी मनोवृत्ति प्रगति मे बाधक होती है।

प्रधानत अहिंसात्मक समाज मे शासन—

जसा हम ऊपर बतला चुके हैं, महात्माजी मानते थे कि एक पूर्णतया

---

* Gandhism is the method of progressing towards an ideal The ideal itself to give Gandhiji s favourite simile is like Euclid s point capable of being conceived by the mind but incapable of being perfectly drawn with the finest point of a needle It is also like a high peak of the Himalayas truthfulness non violence equality of status of opportunities of distribution of wealth and necessities and comforts of life , absence of state control decentralization, non mechanization peace amity harmony freedom from war regimentation and competition and the largest measure of freedom consistent with orderly society are its several desiderata ' Mashruwala Gandhi and Marx pp 87 88

अहिंसात्मक समाज, जिसमें राज्य, बडे कारखाने, भारी यातायात, डॉक्टर, वकील, न्यायालय आदि नही होंगे, एक अप्राप्य एव अप्राप्त आदर्श है, वह एक आदर्श है जिसे हमें लक्ष्य में रखना है, एक दिशा है जिस ओर हमें जाना है परन्तु वह लक्ष्य नही है। जो बात सभव है, जिस वस्तु को दुर्बल मानव प्रकृति प्राप्त कर सकती है वह है एक प्रधानत अहिंसात्मक समाज। इसका प्रतिपादन करने मे गाधीजी ने मानव दुर्बलता का लिहाज किया है। वह आदर्श तथा वास्तविक राज्य के बीच की वस्तु है। इस समाज मे प्रातिनिधिक सस्थाएं एव शासन होगा। वह एक प्रजातन्त्र होगा परन्तु पाश्चात्य प्रजातन्त्रो से, जो गाधीजी के विचार मे, जहाँ तक वे हिंसा तथा केन्द्रीकरण के आधार पर स्थिर हैं, असफल हो चुके हैं, भिन्न होगा। प्रजातन्त्र की सच्ची कसौटी चुनाव मे भाग लेने-वालो की सख्या तथा प्रातिनिधिक सस्थाओ का आकार नही है, उसकी कसौटी तो यह है कि जनता अहिंसा सत्य तथा सेवा की भावनाओ को कहाँ तक ग्रहण करती है। एक मतदाता को अपना मत उम्मेदवार की प्रार्थना एव खुशामद पर नही वरन् उस सेवा के आधार पर देना चाहिये जो उसने व्यक्तिगत पुरस्कार की आशा त्याग कर की हो। मताधिकार भी उन्ही को मिलना चाहिये जो रोटी के लिये श्रम करते हो अर्थात् उसका आधार हाथ का श्रम होना चाहिये, सम्पत्ति अथवा शिक्षा की योग्यता नही उन सब लोगो को जो शासन तथा राज्य के कल्याण मे भागी होना चाहते है, हाथ के श्रम से उसके लिये अवसर मिलता है। इस प्रकार के श्रम के सिद्धांत के प्रयोग से मतदाता राजनीतिज्ञो के चक्कर मे पडने से बच जायेंगे। इसके परिणामस्वरूप एक आध्यात्मिक प्रजातन्त्र की उत्पत्ति होगी जिसमे प्रत्येक नागरिक मे उच्च कोटि का आत्म सयम तथा अपने कामो का प्रबंध करने की योग्यता होगी और जनता के प्रतिनिधि शुद्ध-चित्त, निस्स्वार्थ एव ईमानदार होंगे। ऐसे समाज मे लोग सार्वजनिक पद समाज सेवा की भावना से ग्रहण करेंगे, व्यक्तिगत उन्नति अथवा लाभ के साधन की तरह नही।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण—

अन्त मे, हमे यह देखना है कि गाधीजी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण के समन्वय की समस्या का, जो राजविज्ञान की सदा से स्थायी समस्या रही है, किस प्रकार समाधान करना चाहते थे।

यह बात हमे ध्यान मे रखनी चाहिये कि गाधीजी महान् व्यक्तिवादी

थे। उनके दशन म व्यक्ति सवप्रथम है व्यक्ति साध्य है और राज्य उसकी आत्मोन्नति का साधन है, किन्तु व्यक्तिवादी होत हुए भी गाधीजी इस बात को कभी नही भूले कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और वह सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओ के साथ अपने व्यक्तिवाद का समन्वय करना सीख कर अपनी वतमान् अवस्था म पहुँचा है। 'अनियन्त्रित व्यक्तिवाद जगल का पाशविक नियम है। हम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण के बीच का माग जान गये है। समस्त समाज के कल्याण के लिये सामाजिक नियन्त्रण को स्वच्छा स स्वीकार करने से व्यक्ति तथा समाज, जिसका वह सदस्य है दोनो का ही उत्कष होता है।' वतमान् राज्य म व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण का समन्वय अततोगत्वा दमनकारी सत्ता क प्रयोग द्वारा होता है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति गाधीजी धम पालन द्वारा अहिंसात्मक ढग से करना चाहते थे।

गाधीजी का विचार था कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण का विरोध वतमान राज्य के हिंसात्मक रूप के कारण है। वह इस बात का परिणाम है कि एक वग दूसरे वग का शोषण करने पर तुला हुआ है। अहिंसा के आधार पर स्थिर समाज म इस प्रकार के सघष के अवसर अपने आप ही कम हो जायँगे। लोग जितना अधिक अपने जीवन का नियमन अहिंसा, सत्य प्रेम, तथा सहयोग के सिद्धान्तो द्वारा एव समाज-सेवा की भावना स करेंगे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण के विरोध के अवसर उतन ही कम होगे। यदि एक समाज के सदस्य व्यक्तिगत स्वराज्य प्राप्त कर लें तो उन्हें पता चलेगा कि सबके अधिकतम हित की वद्धि म स्वाथरहित भावना से अपने जीवन को लगा देना आत्मोन्नति का सर्वोत्तम साधन है। एक अहिंसात्मक समाज मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक दायित्वो के स्वेच्छा से निर्वाह करने का ही दूसरा नाम है। प्राचीन काल मे समाज तथा व्यक्ति के सम्बन्ध का आधार धम था और यह धम के उसी प्राचीन हिन्दू आदश को पुन जीवित करने के प्रयत्न के अतिरिक्त और कुछ नही है। धम स किसी मत अथवा विधि विधान का आशय नही है। वह तो एक सजीव भावना है जो समाज के विकास के साथ बढती है और चलती है। धम का काय सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार बनाय रखना है कि उसमे सामजस्य

अहिंसात्मक समाज, जिसमें राज्य, बड़े कारखाने, भारी यातायात, डॉक्टर, वकील, न्यायालय आदि नहीं होंगे, एक अप्राप्य एवं अप्राप्त आदर्श है, वह एक आदर्श है जिसे हमें लक्ष्य में रखना है, एक दिशा है जिस ओर हमें जाना है परन्तु वह लक्ष्य नहीं है। जो बात सम्भव है, जिस वस्तु को दुर्बल मानव प्रकृति प्राप्त कर सकती है वह है एक प्रधानतः अहिंसात्मक समाज। इसका प्रतिपादन करने में गांधीजी ने मानव दुर्बलता का लिहाज किया है। वह आदर्श तथा वास्तविक राज्य के बीच की वस्तु है। इस समाज में प्रातिनिधिक संस्थाएँ एवं शासन होगा। वह एक प्रजातन्त्र होगा परन्तु पाश्चात्य प्रजातन्त्रों से, जो गांधीजी के विचार में, जहाँ तक वे हिंसा तथा केन्द्रीकरण के आधार पर स्थिर हैं, असफल हो चुके हैं, भिन्न होगा। प्रजातन्त्र की सच्ची कसौटी चुनाव में भाग लेने वालों की संख्या तथा प्रातिनिधिक संस्थाओं का आकार नहीं है, उसकी कसौटी तो यह है कि जनता अहिंसा, सत्य तथा सेवा की भावनाओं को कहाँ तक ग्रहण करती है। एक मतदाता को अपना मत उम्मेदवार की प्रार्थना एवं खुशामद पर नहीं वरन् उस सेवा के आधार पर देना चाहिये जो उसने व्यक्तिगत पुरस्कार की आशा त्याग कर की हो। मताधिकार भी उन्हीं को मिलना चाहिये जो रोटी के लिये श्रम करते हों अर्थात् उसका आधार हाथ का श्रम होना चाहिये, सम्पत्ति अथवा शिक्षा की योग्यता नहीं। उन सब लोगों को जो शासन तथा राज्य के कल्याण में भागी होना चाहते हैं, हाथ के श्रम से उसके लिये अवसर मिलता है। इस प्रकार के श्रम के सिद्धान्त के प्रयोग से मतदाता राजनीतिज्ञों के चक्कर में पड़ने से बच जायेंगे। इसके परिणामस्वरूप एक आध्यात्मिक प्रजातन्त्र की उत्पत्ति होगी जिसमें प्रत्येक नागरिक में उच्च कोटि का आत्म संयम तथा अपने कामों का प्रबन्ध करने की योग्यता होगी और जनता के प्रतिनिधि शुद्ध चित्त, निस्स्वार्थ एवं ईमानदार होंगे। ऐसे समाज में लोग सार्वजनिक पद समाज सेवा की भावना से ग्रहण करेंगे, व्यक्तिगत उन्नति अथवा लाभ के साधन की तरह नहीं।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण—

अन्त में, हमें यह देखना है कि गांधीजी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण के समन्वय की समस्या का, जो राजविज्ञान की सदा से स्थायी समस्या रही है, किस प्रकार समाधान करना चाहते थे।

यह बात हमें ध्यान में रखनी चाहिये कि गांधीजी महान् व्यक्तिवादी

सामाजिक एवं आर्थिक संगठन—

पुनरावृत्ति होते हुए भी अहिंसात्मक राज्य के सामाजिक एवं आर्थिक संगठन के विषय में कुछ लिखना आवश्यक है क्योंकि वह वर्तमान् राज्य के सङ्गठन से बिलकुल भिन्न है। राजनीतिक सङ्गठन के समान उसका सङ्गठन भी विकेन्द्रीयकरण के आधार पर होगा और उसका उद्देश्य सामाजिक न्याय तथा सब के लिये आर्थिक सुविधाओं की समानताओं की स्थापना होगा।

सामाजिक न्याय वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त का ही स्वाभाविक उपसिद्धान्त है जो पहले ही से समस्त पेशों एवं धन्धों के समान पद को स्वीकार करता है। 'रोटी के लिये श्रम, अपरिग्रह तथा न्यासित्व के सिद्धान्तों से राष्ट्रीय सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण हो सकेगा और आर्थिक सुविधाओं की समानता स्थापित हो सकेगी। लोगों की प्राथमिक आर्थिक आवश्यकताएँ कुटीर उद्योगों के उत्पादन से पूरी होंगी। प्रयत्न यह होगा कि ग्राम यथासम्भव स्वाश्रयी बनें अर्थात् अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सकें।

गांधीजी केवल काल्पनिक जगत में ही विचरण करनेवाले नहीं थे, वे व्यावहारिक आदर्शवादी थे। वे अच्छी तरह समझते थे कि आधुनिक नागरिकों का काम रेलों, जहाजों आदि के बिना नहीं चल सकता। इस कारण बड़े पैमाने पर तथा केन्द्रीयकृत उत्पादन और भारी यातायात को अहिंसा के सिद्धान्त के प्रतिकूल मानते हुए भी वे मानव दुर्बलता का लिहाज करके रेलों तथा यातायात के द्रुत साधनों को उस समय तक बने रहने देने के लिये तैयार थे जब तक कि लोग उनके बिना काम चलाना नहीं सीख जायें। उनके उत्पादन के लिये केन्द्रीयकृत तथा बड़े बड़े उद्योगों के बने रहने में उन्हें आपत्ति नहीं थी। यदि पूँजीपति उत्पादन के कार्य में मजदूरों को अपने सहभागी बनाने के लिये तैयार हों और पूँजीपति तथा मजदूर दोनों ही उपभोक्ताओं (Consumers) के न्यासी की तरह काम करने के लिये तैयार हों तो ऐसे उद्योगों के निजी स्वाम्य (Private ownership) में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु यदि यह सम्भव न हो तो बड़े-बड़े उद्योगों पर राज्य का स्वाम्य स्थापित करने और राज्य द्वारा ही उन पर नियन्त्रण रखने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। राज्य जंगलों प्राकृतिक साधनों तथा शक्ति के साधनों का भी जनता के हित में नियन्त्रण एवं प्रबन्ध करेगा। यदि कुछ व्यक्ति समाज की ओर से न्यासी की तरह काम करने के लिये तैयार हों तो

बना रहे और व्यक्ति के अन्तःकरण का इस प्रकार मार्ग-दर्शन करना है कि वह अपनी उन्नति करने की क्षमता को सार्थक करना सीख सके।*

परन्तु एक प्रधानतः अहिंसात्मक समाज में भी कुछ व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जो आवश्यक मात्रा में व्यक्तिगत स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सके हों और जो आत्म-संयम के अभाव के कारण अपराध तथा समाज विरोधी कार्य करते हों। ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो अहिंसात्मक राज्य के विरोधी हों और उसे बलपूर्वक नष्ट करना चाहते हों। गांधीजी मानते थे कि कोई समाज या सरकार अपराध की अथवा अपनी सुरक्षा तथा अपने अस्तित्व के लिये जो संकट हो उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती। 'अपने नाम को सार्थक करने की इच्छा रखनेवाली कोई सरकार अराजकता का प्रसार नहीं सहन कर सकती।' परन्तु सभी कल्पनीय मामलों में दण्ड तथा दण्डात्मक नियन्त्रणों के प्रयोग से बचने का उन्हें कोई उपाय नहीं मिला। इस कारण मानव दुर्बलता का विचार करके उन्होंने राज्य द्वारा दण्ड-व्यवस्था को स्वीकार किया परन्तु वे चाहते थे कि राज्य दमन का कम से कम प्रयोग करे। ऐसे सभी मामलों में राज्य का उद्देश्य केवल कानून की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये अथवा अपराधियों और दूसरे व्यक्तियों को समाज विरोधी कार्य करने से रोकने के लिये दण्ड देना नहीं वरन् अपराधी का इस प्रकार सुधार करना है कि वह समाज का सम्माननीय एवं उपयोगी सदस्य बन सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये गांधीजी कारागारों को संशोधनशालाओं तथा कारखानों में परिवर्तित कर देना चाहते थे जहाँ अपराधियों की सामाजिक भावना का विकास किया जा सके और उन्हें समाज के स्वस्थ जीवन की आवश्यकताओं की स्वतः पूर्ति करने की शिक्षा दी जा सके अथवा यों कहिये कि अहिंसात्मक राज्य अपराधों का प्रतिकार भी अहिंसात्मक ढंग से करेगा। सामाजिक शिक्षा की उन्नति के साथ ऐसे समाज में अपराधों के कम होते जाने की आशा है।

---

* Dharma is a living spirit which grows and moves in response to the development of society. The function of Dharma is to hold together harmoniously the social order and to act as a guide to the individual's conscience so as to train him to realize his potentialities. Dhawan: The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p. 324.

सामाजिक एवं आर्थिक सगठन—

पुनरावृत्ति होते हुए भी अहिंसात्मक राज्य के सामाजिक एव आर्थिक सगठन के विषय मे कुछ लिखना आवश्यक है क्योंकि वह वर्तमान राज्य के सङ्गठन से बिलकुल भिन्न है। राजनीतिक सङ्गठन के समान उसका सङ्गठन भी विकेन्द्रीयकरण के आधार पर होगा और उसका उद्देश्य सामाजिक न्याय तथा सब के लिये आर्थिक सुविधाओ की समानताओ की स्थापना होगा।

सामाजिक न्याय वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त का ही स्वाभाविक उपसिद्धान्त है जो पहले ही से समस्त पेशो एव धन्धो के समान पद को स्वीकार करता है। 'रोटी के लिये श्रम' अपरिग्रह तथा ट्रस्टित्व के सिद्धान्तो से राष्ट्रीय सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण हो सकेगा और आर्थिक सुविधाओ की समानता स्थापित हो सकेगी। लोगो की प्राथमिक आर्थिक आवश्यकताएं कुटीर उद्योगों के उत्पादन से पूरी होंगी। प्रयत्न यह होगा कि ग्राम यथासम्भव स्वाश्रयी बनें अर्थात् अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति स्वय कर सकें।

गाधीजी केवल काल्पनिक जगत मे ही विचरण करनेवाले नही थे, वे व्यावहारिक आदर्शवादी थे। वे अच्छी तरह समझते थे कि आधुनिक नागरिको का काम रेलो, जहाजो आदि के बिना नहीं चल सकता। इस कारण बडे पैमाने पर तथा केन्द्रीयकृत उत्पादन और भारी यातायात को अहिंसा के सिद्धान्त के प्रतिकूल मानते हुए भी वे मानव दुर्बलता का लिहाज करके रेलो तथा यातायात के द्रुत साधनो को उस समय तक बने रहने देने के लिये तैयार थे जब तक कि लोग उनके बिना काम चलाना नही सीख जाय। उनके उत्पादन के लिये केन्द्रीयकृत तथा बडे बडे उद्योगो के बने रहने मे उन्हे आपत्ति नही थी। यदि पूँजीपति उत्पादन के काय मे मजदूरो को अपने सहभागी बनाने के लिये तयार हो और पूँजीपति तथा मजदूर दोनो ही उपभोक्ताओं (Consumers) के न्यासी की तरह काम करने के लिये तयार हो तो ऐसे उद्योगो के निजी स्वाम्य (Private ownership) मे भी उन्हे कोई आपत्ति नही थी। किन्तु यदि यह सम्भव न हो तो बडे बडे उद्योगो पर राज्य का स्वाम्य स्थापित करने और राज्य द्वारा ही उन पर नियन्त्रण रखने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है। राज्य जगलो, प्राकृतिक साधनो तथा शक्ति के साधनो का भी जनता के हित मे नियन्त्रण एव प्रबंध करेगा। यदि कुछ व्यक्ति समाज की ओर से न्यासी की तरह काम करने के लिये तयार हो तो

राज्य उन्हें उनका प्रबन्ध सौंप सकता है और उनका पुरस्कार भी नियत कर सकता है। गांधीजी न्यासित्व के सिद्धांत के अंतर्गत उत्पादन के साधनों के निजी स्वाम्य को पसन्द करते थे क्योंकि उन्हें 'निजी स्वाम्य की हिंसा राज्य की हिंसा से कम हानिकारिक' मालूम होती थी।

अहिंसात्मक राज्य में मदिरा तथा अन्य मादक पदार्थों से राज्य की आय नहीं होगी। उसमें मादक पदार्थों का पूर्ण निषेध होगा।

महात्माजी इस बात को अधिक पसन्द करते थे कि जनता अपने कर मुद्रा के रूप में न देकर 'श्रम' के रूप में दे। इससे कर वसूल करने और हिसाब रखने में राज्य का जो व्यय होता है वह बच जायगा। इससे राष्ट्र के बल की वृद्धि होगी और यह बात सुनिश्चित हो जायगी कि करों से उसी प्रदेश को लाभ पहुँचे जहाँ से वे वसूल किये जायें।

गांधीजी ७ से १४ वर्ष की आयु तक के सभी बालक-बालिकाओं के लिये अनिवार्य शिक्षा चाहते थे। उनकी बुनियादी शिक्षा अर्थात् किसी शिल्प के द्वारा शिक्षा देने की योजना से उन्हें शिक्षा के स्वाश्रयी बन जाने की आशा थी।

गांधीवाद और अन्य सिद्धान्त—

गांधीजी के सामाजिक एवं आर्थिक नवनिर्माण सम्बन्धी उपर्युक्त विचार समाजवादियों तथा साम्यवादियों के विचारों से कुछ मिलते हैं, अतः यहाँ उनके सादृश्य तथा भेदों पर विचार करना आवश्यक है।

गांधीजी को 'समानता का समाजवादी आदर्श बहुत पसन्द था और उन्होंने धनियों द्वारा गरीबों के सब प्रकार के शोषण को मिटाने के लिये अविरत प्रयत्न किया। उनका हृदय गरीबों की दुर्दशा देखकर रोता था और वे किसी भी साम्यवादी अथवा समाजवादी के समान बड़े उत्साह से उनके पक्ष का समर्थन करते थे। 'यंग इण्डिया' के अंक में उन्होंने लिखा था कि मैं सर्वोत्कृष्ट अर्थ में साम्यवाद के आदर्श के अनुकूल रहने का यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा हूँ। उनके आश्रमों को 'साम्यवादी प्रयोगों' का नाम ठीक ही दिया गया है। उनमें केवल समानता तथा अपरिग्रह के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का ही नहीं अपितु 'प्रत्येक अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करे और प्रत्येक को अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्त हो' इस साम्यवादी सिद्धांत पर भी आचरण करने का प्रयत्न किया गया। उनकी कल्पना के समाज में सभी व्यक्ति समान हैं, कोई ऊंचा और कोई नीचा नहीं है। राजा और किसान, धनी और गरीब, स्वामी और सेवक

एक ही स्तर पर है। जहां तक उनका यह मत था कि प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक सामग्री हो और उससे अधिक नहीं, वहां तक हम उन्हें सम्पत्ति के समान वितरण का समर्थक मान सकते हैं। उनका आचरण अपनी शिक्षाओं के अनुकूल ही होता था, अतः हम उन्हें उन बहुत से लोगों में, जो अपने आपको समाजवादी या साम्यवादी कहते हैं, श्रेष्ठ समाजवादी या साम्यवादी मान सकते हैं।

किन्तु महात्माजी तथा समाजवादियों और साम्यवादियों का सादृश्य यहीं समाप्त हो जाता है। दोनों में अपने आधारभूत दर्शन तथा लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों में आकाश पाताल का अंतर है। ऐसा कौन समाजवादी या साम्यवादी है जो यह स्वीकार करेगा कि एक अशोषणमूलक एवं समानतामूलक समाज के आदर्श की प्राप्ति जिसमें व्यक्ति की संग्रह प्रवृत्ति पर तथा केवल अपने ही कल्याण की इच्छा पर नियंत्रण रहेगा, विशुद्ध अहिंसात्मक एवं सत्यतापूर्ण साधनों द्वारा हो सकती है। यह मान कर कि सत्य एवं अहिंसा ही समाजवाद अथवा साम्यवाद में मूर्तरूप धारण कर सकती है गांधीजी ने समाजवादी अथवा साम्यवादी कहलानेवालों से अपनी भिन्नता प्रकट कर दी। महात्माजी का यह दृढ़ विश्वास था कि राजा और किसान को राजा का सिर काट कर बराबर करने की तथा स्वामी और सेवक को स्वामी के विनाश द्वारा बराबर करने की साम्यवादी पद्धति कभी सफल नहीं हो सकती। इस बात का विश्वास करते हुए कि सत्य की प्राप्ति असत्यतापूर्ण साधनों से नहीं हो सकती, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे ही लोग जो सत्य एवं अहिंसा के पुजारी हैं और हृदय से शुद्ध हैं ऐसे सच्चे समाजवादी अथवा साम्यवादी समाज की स्थापना कर सकते हैं जिसके आधार में 'प्रत्येक सबके लिये और सब प्रत्येक के लिये' का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो, जिसमें उत्पादन सामर्थ्य के अनुसार तथा वितरण आवश्यकता के अनुसार हो और जहां निजी लाभ की भावना के स्थान पर समाज सेवा की भावना कार्य करती हो। इस कारण वे वर्ग संघर्ष, वर्ग द्वेष, पाशविक बल, सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तंत्र आदि की जिनका समाजवादी तथा साम्यवादी कार्यक्रमों में प्रमुख स्थान होता है बात भी नहीं करते थे और केवल शान्तिमय एवं सत्यतापूर्ण साधनों का प्रयोग ही उचित समझते थे।

इसी कारण कुछ लोग कहते हैं कि गांधीवाद हिंसारहित साम्यवाद है और साम्यवाद हिंसासहित गांधीवाद है। इन दोनों वादों में इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करना गलत ही नहीं भयावह भी है। यह भयावह इस कारण है कि उसमें गांधीवाद की बिल्कुल अशुद्ध कल्पना होती है और मनुष्य तथा संसार के आध्यात्मिक स्वरूप तथा भगवान की सर्वशक्तिमत्ता में उनके विश्वास की जो उनके दर्शन का प्रधान एवं आवश्यक आधार है, उपेक्षा होती है। यह गलत इस कारण है कि इसका तात्पर्य यह होता है कि दोनों में भेद केवल साधन का ही है, साध्य का नहीं। वास्तविक बात यह है कि गांधीवाद साम्यवाद से साध्य की दृष्टि से भी उतना ही भिन्न है जितना साधन की दृष्टि से।

गांधीवाद ने गरीबों तथा दलितों की अवस्था में सुधार करने तथा उनके जीवन में प्रसन्नता एवं आशा का संचार करने का कठिन परिश्रम तो किया परन्तु उनकी दृष्टि में जनता के भौतिक कल्याण की वृद्धि ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं था। चरम लक्ष्य तो आत्म प्राप्ति अथवा भगवान से साक्षात्कार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उनकी दृष्टि में सत्य और भगवान् दोनों एक ही थे, अत: वे केवल सत्य की ही अविरत खोज को ही मानव प्रयत्न का समुचित लक्ष्य मानते थे। इसके साथ ही, चूँकि शुद्ध हृदयवाला व्यक्ति ही सत्य के रूप में भगवान की प्राप्ति कर सकता है वे प्रत्येक व्यक्ति से अपने चरित्र को उन्नत बनाने तथा अहिंसा सत्य, आत्म-संयम, आत्मानुशासन अभय, संतोष एवं सहयोग आदि नैतिक गुणों को प्राप्त करने का अनुरोध करते थे। प्रत्येक व्यक्ति इतना कर ले तो शेष बातें अपने आप ही प्राप्त हो जायेंगी। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था जिसमें बहुसंख्यक गरीबों तथा अल्पसंख्यक धनियों का भेद धनियों द्वारा गरीबों का शोषण मशीनों के लिये आसक्ति आदि अनेक दोष विद्यमान हैं, गरीबों तथा धनियों दोनों में नैतिक गुणों के विकास के लिये बिलकुल अनुपयुक्त है। इस कारण गांधीजी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था चाहते थे जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्मोन्नति के लिये अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त हों। संक्षेप में, गांधीजी का लक्ष्य व्यक्ति का नैतिक अथवा आध्यात्मिक विकास था, नवीन सामाजिक व्यवस्था तो उसका साधन मात्र थी।

साम्यवाद में यह सम्बन्ध उलटा है। उसके लिये लक्ष्य नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना है व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति अथवा

भगवान् से साक्षात्कार नही, जिसे वह व्यर्थ की बकवाद समझता है। उसके लिये मन म भिन्न आत्मा जसी कोई वस्तु नही है और मन प्रकृति (Nature) से उत्पन्न है। इतिहास की भौतिक व्याख्या क अनुकूल वह मानता है कि यदि सामाजिक एव आर्थिक व्याख्या उचित ढङ्ग की हो तो नतिक चरित्र की उन्नति तो अपने आप ही हो जायगा। इसक कारण वह लोगो की नतिक उन्नति करने म अपनी शक्ति का अपव्यय नही करता और उचित ढङ्ग की सामाजिक व्यवस्था क निर्माण पर ही अपना समग्र ध्यान केन्द्रित करता है। भौतिक शक्तिया की प्रधानता मे विश्वास होने तथा साध्य को ही सब कुछ और साधन का कोई नतिक महत्व न समझने क कारण साम्यवादी लोगो को हिंसा कपट, असत्य आदि के प्रयोगा म यदि उसस उसक लक्ष्य की प्राप्ति शीघ्र होती हो, कोई सकोच नही होता। इस कारण यह मानना मूलत गलत होगा कि गाधीवाद और साम्यवाद का लक्ष्य तो एक ही है, कवल उनक साधना मे भेद है।

इन दोनो म एक और आधारभूत अतर है। गाधीजी ने अपने करोडो दरिद्र देशवासियो की दशा सुधारने का तो यथाशक्ति प्रयत्न किया परन्तु जीवन क प्रति उनका दृष्टिकोण सन्यासी का था। उनकी दृष्टि म ससार के भौतिक सुखो एव भोगविलास का कोई महत्व नही था और वे पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य स्थापित करना चाहते थ। व सादे जीवन तथा आवश्यकताओ म कमी करा का उपदेश देते थे साम्यवादियो क समान उन्ह बढाने का नहा। आधुनिक सभ्यता क प्रति गाधीजी की मनोवृत्ति साम्यवादिया म भिन्न थी। गाधीजी का दृढ मत था कि भारतवष का वास्तविक शत्रु पाश्चात्य सभ्यता थी अग्रेज नही जो व्यक्तिक रूप से बुरे नही थ परन्तु अपनी सभ्यता क हानिकारक परिणामो से पीडित थ। साम्यवादी लोग जीवन क नैतिक मूल्यो का उपहास करत है और मानत हैं कि जीवन का स्तर ऊचा उठा कर तथा विज्ञान क आविष्कारो का मनुष्य की सेवा म प्रयोग करके जीवन न केवल एक अधिक सुखी बनाया जा सकता है। इस प्रकार आधुनिक सभ्यता के प्रति दोनो की मनोवृत्ति मे आधारभूत अतर है।

गाधीजी के विचारो म व्यक्ति का केन्द्रीय स्थान है वह हमेशा साध्य बना रहता है और राज्य की अधीनता म कभी नहा पहुंचाया जाता। इसके विपरीत साम्यवाद व्यक्ति को मान्य नही मानता है उसकी दृष्टि म

इसी कारण कुछ लोग कहते है कि गाधीवाद हिंसारहित साम्यवाद है और साम्यवाद हिंसासहित गाधीवाद है। इन दोनो वादो मे इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करना गलत ही नही भयावह भी है। यह भयावह इस कारण है कि उसमे गाधीवाद की बिल्कुल अशुद्ध कल्पना होती है और मनुष्य तथा समाज के आध्यात्मिक स्वरूप तथा भगवान की सर्वशक्तिमत्ता मे उनके विश्वास की, जो उनके दर्शन का प्रधान एव आवश्यक आधार है, उपेक्षा होती है। यह गलत इस कारण है कि इसका तात्पर्य यह होता है कि दोनो मे भेद केवल साधन का ही है, साध्य का नही। वास्तविक बात यह है कि गाधीवाद साम्यवाद से साध्य की दृष्टि से भी उतना ही भिन्न है जितना साधन की दृष्टि से।

गाधीवाद ने गरीबो तथा दलितो की अवस्था मे सुधार करने तथा उनके जीवन मे प्रसन्नता एव आशा का सचार करने का कठिन परिश्रम तो किया परन्तु उनकी दृष्टि मे जनता के भौतिक कल्याण की वृद्धि ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य नही था। चरम लक्ष्य तो आत्म प्राप्ति अथवा भगवान से साक्षात्कार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उनकी दृष्टि मे सत्य और भगवान दोनो एक ही थे, अत वे केवल सत्य की ही अविरल खोज को ही मानव प्रयत्न का समुचित लक्ष्य मानते थे। इसके साथ ही, चूँकि शुद्ध हृदयवाला व्यक्ति ही सत्य के रूप मे भगवान की प्राप्ति कर सकता है वे प्रत्येक व्यक्ति से अपने चरित्र को उन्नत बनाने तथा अहिंसा, सत्य, आत्म-सयम, आत्मानुशासन अभय, सतोष एव सहयोग आदि नैतिक गुणो को प्राप्त करने का अनुरोध करते थे। प्रत्येक व्यक्ति इतना कर ले तो शेष बातें अपने आप ही प्राप्त हो जायेंगी। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था, जिसमे बहुसख्यक गरीबो तथा अल्पसख्यक धनियो का भेद, धनियो द्वारा गरीबो का शोषण, मशीनो के लिये आसक्ति आदि अनेक दोष विद्यमान हैं, गरीबो तथा धनियो दोनो मे नैतिक गुणो के विकास के लिये बिलकुल अनुपयुक्त है। इस कारण गाधीजी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था चाहते थे जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को आत्मोन्नति के लिये अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त हो। सक्षेप मे, गाधीजी का लक्ष्य व्यक्ति का नैतिक अथवा आध्यात्मिक विकास था, नवीन सामाजिक व्यवस्था तो उसका साधन मात्र थी।

साम्यवाद मे यह सम्बन्ध उल्टा है। उसके लिये सत्य नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना है व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति अथवा

४ गांधीजी ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक नियन्त्रण मे किस प्रकार समन्वय किया ?

५ गांधीजी का सत्याग्रह से क्या आशय था ? उसका प्रयोग किन अवस्थाओं मे हो सकता है ?

६ क्या गांधीवाद की व्याख्या हिंसारहित साम्यवाद की तरह और साम्यवाद की व्याख्या हिंसासहित गांधीवाद की तरह की जा सकती है ?

७ गांधीजी के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारों की समाजवादियों के विचारों से तुलना कीजिये।

वह एक साधन है और राज्य के अधीन है। गांधीवाद तथा साम्यवाद में यह भी एक आधारभूत अन्तर है।

इसी प्रकार गांधीवाद तथा राज्य-समाजवाद में भी अमिट अन्तर है। राज्य समाजवादी लोग उत्पादन के साधनों के निजी स्वाम्य का अन्त करके उसे राज्य के हाथों में दे देते हैं। गांधीजी पूँजीपति को बनाये रख कर उसे राष्ट्र की ओर से स्वामी बना कर उनसे समाज सेवा करवाना चाहते थे। वे उद्योगों के केन्द्रीयकरण और उन पर राज्य के नियन्त्रण के सर्वथा विरुद्ध थे। राज्य की सत्ता की वृद्धि से उन्हें बड़ा डर लगता था। समाजवादी लोग जनता को धनियों के शोषण से बचाने के लिये राज्य को अधिक शक्ति देना चाहते हैं। समाजवाद तथा साम्यवाद दोनों का ही परिणाम सम्भवतः निजी पूँजीवाद के स्थान पर राज्य पूँजीवाद को प्रतिष्ठित कर देना होगा। इस प्रकार इन दोनों में से कोई भी पूँजीवाद के दोषों का निराकरण नहीं कर सकता। गांधीजी के न्यासित्व के सिद्धान्त से हम पूँजीवाद के सभी लाभ प्राप्त होते हैं और उसके दोष से हम बच जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त उनसे श्रेष्ठ है।

दुर्भाग्यवश स्वतन्त्र भारत महात्माजी के आदर्शों से दूर हटता जा रहा है और इस प्रकार संसार को वह वस्तु देने का अवसर खो रहा है जिसकी उसे अत्यन्त आवश्यकता है और केवल जो ही उसकी दूसरे विश्व युद्ध से रक्षा कर सकती है। शायद संसार को अहिंसा एवं प्रेम के मार्ग का पथिक बन सकने के पहले एक और विश्व युद्ध के आघात की आवश्यकता है।

प्रश्न

१ महात्मा गांधी की धर्म तथा भगवान की कल्पना का उनके सामाजिक विचारों पर क्या प्रभाव पड़ा ?

२ महात्मा गांधी द्वारा कल्पित अहिंसात्मक समाज के लक्षण बतलाते हुए इस उक्ति पर कि 'गांधीजी एक व्यावहारिक आदर्शवादी थे' अपने विचार प्रकट कीजिये।

३ 'महात्मा गांधी ने राजनीति को आध्यात्मिक और धर्म को सांसारिक बना दिया।' इस कथन पर अपने विचार प्रकट करते हुए वर्तमान शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन को गांधीजी की देन पर प्रकाश डालिये।

शांति काल मे साधारणतया रहती है, परन्तु अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष के समय मे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। 'योरोप मे सन् १९१४ ई० म मजदूर नेता अपनी वर्गीय एकता को भूल गये, शांतिवादी युद्ध के अपने विरोध को भूल गये, धर्माचार्य भी 'शांति के दूत' को भूल गये, समाजवादी ससार के मजदूरो की साधारण हडताल को भूल गये, जिससे वे युद्ध को असम्भव करने का स्वप्न देखते थे।'* यह बात उस संघर्ष के सम्बन्ध मे भी लागू है जो मित्र राष्ट्रो तथा धुरी राष्ट्रो के बीच अभी अभी हुआ है। सब श्रेणियो एव वर्गों के व्यक्तियो ने इस युद्ध म भाग लिया और उन्होने अपनी मातृभूमि की राष्ट्रीय शत्रु से रक्षा करने म बडे से बडे बलिदान को भी कुछ नही समझा। अतीत काल म धार्मिक भावना अपने भक्तो मे बलिदान की जैसी भावना को जन्म देती थी, आज के युग मे राष्ट्रीयता भी त्याग या बलिदान की वैसी ही भावना को जन्म देना है। यह आधुनिक मनुष्य के लिये धर्म बन गई है।"†

राष्ट्रीयता का विकास—

राष्ट्रीयता एक सर्वथा नवीन भावना ह, यह आधुनिक राष्ट्र राज्य प्रणाली का आवश्यक परिणाम है। इसका प्रादुर्भाव राष्ट्र राज्यो के उदय के साथ हुआ जब कि वह अपने रूप को पहचानने लगी और प्रभुत्व का दावा करने लगी। प्राचीन राज्यो मे सामुदायिक एकता और नागरिक भक्ति भी होती थी परन्तु उनका 'राष्ट्रीय आधार' नही होता था। पूर्व समय मे देश भक्ति और नागरिक भक्ति स्थानिक होती थी, उदाहरणार्थ

---

* 'In 1914, throughout the European continent labour leaders forgot their slogans of class solidarity, pacifists forgot their crusade against war churchmen forgot the Prince of Peace, socialists forgot the general strike of workers of the world which would *make war impossible*

† In this demand for absolute and unconditional loyalty modern nationalism also reveals its religious character and the passion with which men have devoted themselves to nationalistic enterprises and to the furtherance of nationalistic causes further attests to its character as a substitute for loyalty to God (Hallowell Main Currents in Modern Political Thought p 560)

अध्याय १३

विश्व-राजनीति पर प्रभाव डालनेवाली शक्तियाँ

परिशिष्ट के रूप में हम यहां विश्व राजनीति पर प्रभाव डालनेवाली उन शक्तियों के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना उचित समझते हैं जो राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं दृष्टिकोणों का निर्माण करती है। गत शताब्दी के राजनीतिक विकास क्रम तथा वर्तमान युग की अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि का समझने के लिये इनका अध्ययन आवश्यक है। ये शक्तियां है—राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता।

राष्ट्रीयता

वर्तमान विश्व व्यवस्था में राष्ट्रीयता का स्थान—

राष्ट्रीयता आधुनिक राजनीति में सबसे महान् शक्तियों में से एक है जो संसार के १०० से ऊपर देशों या राष्ट्रों के पारस्परिक संबंधों एवं दृष्टिकोणों के निर्धारण में महत्वपूर्ण कार्य करती है। योरोप एवं अमेरिका तथा एशिया एवं अफ्रीका के लोग अपने का किसी न किसी राष्ट्र राज्य के नागरिक या ऐसे उपराष्ट्र के नागरिक मानते हैं जो राज्य बनने की चेष्टा कर रहा है। अपने मनोभावों एवं आचरणों में वे राष्ट्रीयता की भावना अर्थात् किसी विशिष्ट राज्य के होने की चेतना से धार्मिक या वर्गीय हितों की अपेक्षा अधिक प्रभावित है। राष्ट्र राज्य के प्रति निष्ठा भक्ति को अन्य प्रकार की निष्ठाओं की अपेक्षा उच्च स्थान प्राप्त है और उसके हितों को अन्य हितों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाती है।* यह बात

* Nationalism denotes ' a condition of mind among members of a nationality, perhaps already possessed of a national state a condition of mind in which loyalty to the ideal or to the fact of one s national state is superior to all other loyalties and of which pride in one s nationality and belief in its intrinsic excellence and its 'mission are integral parts (Hayes Essays on Nationalism p 6)

शान्ति काल म साधारणतया रहती है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मघप के समय मे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। 'योरोप मे सन् १६१४ ई० मे मजदूर नेता अपनी वर्गीय एकता का भूल गये, शान्तिवादी युद्ध के अपन विरोध को भूल गये, धर्माचाय भी 'शान्ति के दूत' को भूल गये समाजवादी ससार के मजदूरो की साधारण हडताल को भूल गये, जिससे वे युद्ध को असम्भव करने का स्वप्न दखते थे। * यह बात उस मघप के सम्बन्ध मे भी लागू है जो मित्र राष्ट्रो तथा धुरी राष्ट्रो के बाच अभी अभी हुआ है। सब श्रेणिया एव वर्गों के व्यक्तियो ने इस युद्ध म भाग लिया और उन्हाने अपनी मातृभूमि की राष्ट्रीय शत्रु से रक्षा करन मे बडे से बडे बलिदान को भी कुछ नही समझा। अतीत काल मे धार्मिक भावना अपने भक्तो म बलिदान की जैसी भावना को जन्म देती थी, आज के युग मे राष्ट्रीयता भी त्याग या बलिदान की वसी ही भावना को जन्म देता है। यह आधुनिक मनुष्य के लिये धम बन गई है। †

राष्ट्रीयता का विकास—

राष्ट्रीयता एक सवथा नवीन भावना है, यह आधुनिक राष्ट्र राज्य प्रणाली का आवश्यक परिणाम है। इसका प्रादुर्भाव राष्ट्र राज्यो के उदय के साथ हुआ जब कि वह अपन रूप को पहचानने लगी और प्रभुत्व का दावा करने लगी। प्राचीन राज्या मे सामुदायिक एकता और नागरिक भक्ति भी होती थी परन्तु उनका 'राष्ट्रीय आधार' नही होता था। पूव समय म देश भक्ति और नागरिक-भक्ति स्थानिक होती थी, उदाहरणाथ

---

* 'In 1914 throughout the European continent labour leaders forgot their slogans of class solidarity pacifists forgot their crusade against war churchmen forgot the Prince of Peace socialists forgot the general strike of workers of the world which would make war impossible'

† In this demand for absolute and unconditional loyalty modern nationalism also reveals its religious character and the passion with which men have devoted themselves to nationalistic enterprises and to the furtherance of nationalistic causes further attests to its character as a substitute for loyalty to God (Hallowell Main Currents in Modern Political Thought p 560)

नगर राज्यों में अथवा वह योद्धाओं या राजाओं के प्रति अधीनता मात्र थी, जैसे पूर्वी साम्राज्यों में।

इटली में मेकियावेली आधुनिक ढङ्ग का सबसे पहला राष्ट्रीयतावादी था जो विभक्त इटली को संयुक्त करके उसे एक ऐसा सुदृढ शक्तिशाली राज्य बनाने का स्वप्न देखता था जो फ्रेञ्च तथा स्पेनिश लोगों के हमलों से अपनी रक्षा कर सकता। वह अपने नगर राज्य को इटली के बड़े राज्य में मिला देने के लिये तयार था। परन्तु सबसे प्रथम राज्य जिसे राष्ट्र राज्य (Nation state) बनने का गौरव प्राप्त हुआ वह इङ्गलैंड था, जहां ट्यूडर राजाओं ने राष्ट्रीय भावना को जगाया था।

योरोप में नेपोलियन ने सारे महाद्वीपों का फ्रेञ्च आधिपत्य में लाने का प्रयत्न करके राष्ट्रीय भावना को जगाया। पोलैंड को जर्मनी, रूस तथा आस्ट्रिया ने परस्पर बांटकर भी इस भावना को उत्तेजना दी। इस प्रकार नेपोलियन युग में योरोप में राष्ट्रीयता का पुष्प विकसित होने लगा और उसका पूर्ण विकास उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में हुआ। वार्साई की सन्धि ने केन्द्रीय योरोप में अनेक छोटे छोटे राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना करके राष्ट्र राज्य की भावना पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी।

राष्ट्रीयता की परिभाषा एवं प्रकृति—

राष्ट्रीयता की ऐसी परिभाषा करना कोई सरल कार्य नहीं है, जिसमें उसके सभी पक्षों का समावेश हो सके। यह कोई एकाकी शक्ति नहीं है जो एक मन्तव्य से या एक ही दिशा में काम करती हो। यदि ट्यूडर राजाओं ने पोप के बन्धन से मुक्ति पाने के लिये उसका प्रयोग किया तो इङ्गलैंड की जनता ने राजा के विरुद्ध अपने अधिकारों की स्थापना के लिये उसकी सहायता ली और अपने देश में प्रजातन्त्रात्मक शासन की प्रतिष्ठा की। यदि एक समय जर्मनी तथा इटली ने राष्ट्रीयता की भावना की सहायता से अपने देशों की एकता की प्रतिष्ठा की तो दूसरे समय उसी के आधार पर ऑस्ट्रिया हंगरी साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया गया।

१५ अगस्त सन् १९४७ ई० के पूर्व भारत की भांति पराधीन तथा ब्रिटिश सेना के हटने से पूर्व मिस्र की भाँति अर्द्ध पराधीन देशों को उसने विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये विद्रोही राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया। अतः राष्ट्रीयता एक ऐसी शक्ति है जिसने कभी तो प्रजातन्त्र तथा मानव अधिकारों की प्रतिष्ठा

की और कभी बडे क्रांतिकारी विद्रोहों को उत्तेजना दी। राष्ट्रीयता ने उग्र रूप धारण करके साम्राज्यवाद की पुष्टि भी की है और कई साम्राज्यों को जन्म दिया है। सन १९१४-१८ तथा सन १९३९-४५ के विश्व-युद्ध योरोप के महान राष्ट्रों के बीच प्रतिस्पर्द्धा के परिणामस्वरूप ही हुए। अत राष्ट्रीयता की यह परिभाषा सवश्रेष्ठ मालूम होती है राष्ट्रीयता "एक ऐसी शक्ति है जो एक राज्य के भीतर निरकुश सत्ता के विरुद्ध मानव-अधिकारों को कायम रखने के लिये तथा बाहरी शत्रु से उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु समाज का सङ्गठित रखती है। इस परिभाषा मे उसकी साम्राज्यवादी प्रवत्ति को स्थान देना उचित नही है क्योंकि साम्राज्यवादी प्रवत्ति राष्ट्रीयता का कोई सारभूत तत्व नही है।

राष्ट्रीयता की प्रकृति को भली-भाति समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसे एक ऐसे आदर्श के रूप मे जिसमे मानवता के लिये एक महान् मूल्यवान सिद्धान्त का समावेश है तथा इसके साथ साथ उसे एक मानसिक दृष्टिकोण तथा आचार व्यवहार के आदर्श के रूप मे भी समझने का प्रयास करे। एक आदर्श के रूप मे वह इस तथ्य पर जोर देती है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय का अपना व्यक्तित्व होता है और अनुकूल अवस्थाएँ प्राप्त हो जाने पर वह मानव-सस्कृति के लिये एक अनुपम अनुदान दे सकता है। किसी एक राष्ट्र मे मानव विकास के लिये सभी सभावनाएँ नही होती। प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय मे कुछ विशिष्ट गुण एव लक्षण होते हैं जो मानवता के लिये बडे महत्व के होते हैं। भारत, चीन, जापान इङ्गलैंड, जर्मनी फ्रान्स, रूस आदि प्रत्येक राष्ट्र मे कुछ अनुपम गुण हैं जिनसे वे मानव-सस्कृति एव सभ्यता को विशिष्ट अनुदान दे सकते हैं। अत प्रत्येक राष्ट्र को अपने अपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिये अधिकार तथा सुयोग मिलना चाहिये जिससे वह मानव-सभ्यता की प्रगति मे योगदान दे सके। दूसरे शब्दो मे, उसे अपनी न्याय प्रणाली तथा अपनी सस्थाएं स्थापित करने और अपने भाग्य का निर्माण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। अनुभव से यह सिद्ध है कि यदि प्रजा को अपने मामलो का प्रबन्ध करने के अधिकार से वचित कर दिया जाय, तो उसके स्वाभाविक गुण निश्चेष्ट रह जाते हैं और मानवता की प्रगति मे उसको अनुदान करने की शक्ति भी प्रभावहीन हो जाती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता का तकाजा है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय के लिये आत्म निर्णय का सिद्धान्त (Principle of Self determination) लागू होना

उससे प्रेम करना ही उसका कर्तव्य है। उसके लिये सब प्रकार का बलिदान श्रेष्ठतम एव वीरतापूर्ण है।

राष्ट्रीयता के गुण—

देशभक्ति के पर्याय के रूप मे राष्ट्रीयता मे बहुत सी अच्छी बाते हैं। यह एक बहुत ही उन्नयनकारी एव आध्यात्मिक अनुभूति है जो व्यक्ति को एक स्वार्थमय वातावरण मे से ऊँचा उठा देती है और उसे समाज के व्यापक एव उच्चतम जीवन मे प्रवेश कराती है। देश-प्रेम का उसके लिये क्या अर्थ है, इसकी कोई सीमा ही नहीं रह जाती। इस प्रकार व्यक्ति के सर्वश्रेष्ठ गुण प्रकट होते हैं और उसे अपने गुणों की अभिव्यक्ति के लिये ऐसे सुयोग मिलते हैं, जो अन्यथा प्रसुप्त अवस्था मे ही पडे रहेंगे। प्रत्येक देश के इतिहास के पृष्ठ राष्ट्रीयता से अनुप्रेरित वीरतापूर्ण बलिदानो की कथाओ से भरे पडे हैं। यह उन्नयनकारी प्रभाव किसी एक जाति के व्यक्तिगत सदस्यो तक ही सीमित नही रहता, उसका प्रभाव समूचे समुदाय के जीवन पर भी पडता है। समुदाय अपने राष्ट्रीय चरित्र एव परम्परा की भली भाति अनुभूति करता है और मानवता के कल्याण के लिये उनका विकास करने के हेतु उसे उत्तेजना मिलती है। देशभक्त अपने देश के लिये ही देश की स्वतन्त्रता, महानता एव गरिमा नहीं चाहता वरन् वह इसलिये चाहता है कि वह (देश) मानवता की संस्कृति के लिये कुछ मूल्यवान् और श्रेष्ठ अनुदान दे सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीयता राष्ट्रीय संस्कृति की विविधताओ का रक्षण करती है। विविध राष्ट्रीय समुदायो का रक्षण करने से मानवता को लाभ ही होता है। यदि प्रत्येक समुदाय एक दूसरे की अनुकृति या नकल मात्र हो, तो मानव जाति अपनी श्रेष्ठतम अवस्था को प्राप्त नही हो सकती। यह ठीक ही कहा गया है कि सभ्यता हितो एव लक्षणो की विविधता तथा उनके समीकरण के कारण ही प्रगति करती है। हम उस सिद्धात की उपेक्षा नहीं कर सकते जो ऐसे ससार मे मतभेदो के विकास को उत्तेजना देता है 'जिसमे यातायात और सस्ते उत्पादन के कारण शनै शनै जातियो की समस्त विविधताओ का नाश हो जायगा।'

एक समय ऐसी आशा की जाती थी कि राष्ट्रीयता की अभिवृद्धि से अन्तर्राष्ट्रीय सामञ्जस्य एव सहयोग की अभिवृद्धि होगी। यदि प्रत्येक राष्ट्र अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के अनुसार अपना विकास करे, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के लिये तुलना की

दृष्टि से मूल्यवान सिद्ध होगा, वह एक प्रतिद्वन्द्वी नहीं बनेगा जिससे भय और सन्देह उत्पन्न हो। राष्ट्रीय समुदाय के विकास का यह तात्पर्य नहीं है कि किसी दूसरे समुदाय से उसका आवश्यक रूप मे संघर्ष हो। किन्तु ऐसा नहीं हुआ है। संसार के विभिन्न राष्ट्रीय राज्यो के बीच अधिक सामंजस्य एवं सहयोग की अभिवृद्धि कर मानव जाति के शान्तिमय एवं प्रगतिशील विकास की वृद्धि करने के स्थान मे राष्ट्रीयता की भावना का वास्तविक परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा, कटुता एवं संघर्ष रहा है।

राष्ट्रीयता के दोष—

राष्ट्रीयता का तकाजा है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय को अपने कार्य करने तथा अपने भाग्य का निर्णय करने का निर्बाध अधिकार हो। उसके इस अधिकार पर कोई बाधा नहीं है और न कोई उसमे हस्तक्षेप ही कर सकता है। किन्तु दुर्भाग्य से समस्त राष्ट्रीय समुदाय समान रूप से उन्नत एवं उन्नतिशील नहीं है। यह कहा जा सकता है कि दक्षिणी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया की निम्न पिछड़ी हुई जातियो के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यो के रक्षण की आवश्यकता नहीं है और ऐसी जातियाँ आत्मनिर्णय के अधिकार के योग्य नहीं है। इस विचार के अनुसार ब्रिटिश अमरिकन, फ्रेन्च तथा जर्मन जैसी संसार की उच्चतम जातियों को ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अधिकार है। कुछ लोग इससे एक पग और आगे बढ़कर यह दावा भी करते हैं कि ऐसी उच्च एवं प्रगतिशील सभ्य जातियो का यह केवल अधिकार ही नहीं है वरन कर्तव्य भी है कि वे अपने आधिपत्य का विस्तार करें और संसार की पिछड़ी जातियो को अपने संरक्षण मे लेकर अपनी उच्च सभ्यता का उन्हें लाभ पहुँचावें। ऐसा नहीं करना स्वार्थ-पूर्ण कार्य होगा इससे मानव जाति अपने सदस्यों की योग्यता एवं प्रतिभा के लाभो से वंचित रह जायगी। उन्नीसवीं शताब्दी मे एशिया, अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपो और अमेरिका मे योरप के राष्ट्रों ने जो औपनिवेशिक साम्राज्यो का विस्तार किया उनके समर्थन मे यही सैद्धान्तिक तर्क दिया जाता है। इसी तर्क के आधार पर हमारे प्राचीन तथा गौरवान्वित देश पर ब्रिटेन ने इतने वर्षों तक राज्य किया। पाश्चात्य सभ्यता के लाभो मे चीनी जनता को लाभ पहुँचाने के हेतु योरप तथा अमेरिका के राज्यों ने अप्रगतिशील चीन को उनके लिए अपना द्वार खोल देने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार राष्ट्रीयता, जिसके अनुसार समस्त

राष्ट्रों को एक दूसरे के मित्र होना चाहिये, शत्रु नहीं, परन्तु प्रसरणशील तथा आक्रमणशील बन जाती है और साम्राज्यवाद मे परिणत हो जाती है। चूँकि प्रत्येक साम्राज्य अपना विस्तार चाहता है और शक्तिशाली बनना चाहता है, इसलिये साम्राज्यवादी राष्ट्रों मे परस्पर प्रतिद्वन्द्विता एव प्रतिस्पर्द्धा बढती है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपना शत्रु समझने लगता है, वह उससे भयभीत होने लगता है और उसे जीतने तथा शक्तिहीन बनाने की चेष्टा करता है। स्वार्थमयी तथा सकीर्ण राष्ट्रीयता इस प्रकार युद्ध को उत्तेजना देती है और अन्त मे राष्ट्र को सैनिकवाद की ओर अग्रसर करती है।* वह राष्ट्रों मे सङ्कीर्ण मनोवृत्ति ही पैदा नही करती वरन् नागरिकों मे बर्बरता भी पैदा करती है। उन्हे दूसरे राष्ट्रो मे जिनकी सभ्यता एव सस्कृति उनकी सभ्यता से भिन्न होती है, कोई अच्छाई नही दिखाई देती। वे, दूसरी ओर, अपनी राष्ट्रीय सस्कृति का औचित्य सिद्ध करने और उसके गौरव की प्रतिष्ठा के लिये चेष्टा करते हैं। उसके गुणों की प्रशसा की जाती है और उसे समस्त सस्कृतियो से श्रेष्ठतम बताया जाता है। इस प्रकार पार्थक्य तथा असहिष्णुता की भावना का प्रादुर्भाव होता है जो मानवता के हित मे सहयोग को असम्भव नही तो कठिन अवश्य बना देती है। सकीर्ण राष्ट्रीयता के प्रभाव मे स्वदेश प्रेम का अर्थ दूसरे देशवासियो के प्रति घृणा हो जाता है।

राष्ट्रवादी के लिये इससे अधिक और कोई सत्य नही कि उसका राष्ट्र स्वय अपना शासन करने मे स्वतन्त्र होना चाहिये। राष्ट्रीय राज्य की एकता एव दृढता और उसकी शक्ति तथा गौरव ही उसकी इच्छा और विचार के विषय है। यदि कोई राज्य एक राष्ट्र राज्य है, तो राष्ट्रवादी को अपने उद्देश्य की सिद्धि मे कोई कठिनाई नहीं होगी किन्तु यदि वह बहु राष्ट्र राज्य है, अर्थात् यदि उसमे अल्पमत समुदाय भी है तो राष्ट्रीय एकता एव दृढता की प्राप्ति के मार्ग मे राष्ट्रवादी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पडेगा। उनमे एकता स्थापित करने तथा उन पर एक राष्ट्रभाषा एव एक सस्कृति को लादने के प्रयत्न का उनकी ओर से विरोध होगा। इस

---

* 'Nationalism is nourished not on love but on hate it inculcates not trust but fear and in its fearful insecurity it is driven inexorably to more and more extravagant claims and enterprises (Hallowell Op Cit, p 590)

प्रकार राष्ट्रीय 'अल्पजनों' (Minorities) की समस्या खड़ी हो जाती है। राष्ट्रवादियों की अल्पजनों को मिला कर एक करने की चेष्टा और राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित अल्पजनों द्वारा उस चेष्टा के विरोध से ही यह समस्या खड़ी होती है। राष्ट्रवादी अपने समुदाय के लिये आत्मनिर्णय के अधिकार चाहता है, परन्तु समुदाय के भीतर जो अल्पजन है, उन्हें वह यह अधिकार नहीं देता। राज्य के भीतर जो अल्पजन बहुजन से मिल नहीं जाते उनके प्रति वह बड़ा सजग एवं सशंक रहता है और उनके अस्तित्व को राष्ट्र के लिये दुर्बलता का एक कारण मानता है। वह जितना अधिक दबाव डालता है उनका विरोध भी उतना ही अधिक होता जाता है। इसका परिणाम होता है दमन विद्रोह तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का कुचक्र।

एक राज्य में अल्पजनों के अस्तित्व से पड़ोसी राज्यों द्वारा उसमें से अपने भाषाभाषी अल्पजनों के उद्धार (Irredentism) की एक दूसरी समस्या का जन्म होता है। राष्ट्रीय एकता के नाम पर राष्ट्रवादी अपने राज्य के सभी अल्पजनों को मिला कर एक राष्ट्र बना लेना चाहता है। परन्तु पड़ोसी राज्य इस कार्य को विरोधी दृष्टिकोण से देखते हैं, विशेष कर उस समय जब कि वे अल्पजन उनकी भाषा बोलते हों। तब वे पड़ोसी राज्य द्वारा अपने अल्पजनों पर होनेवाले वास्तविक या कल्पित अत्याचार की बातों का प्रचार करते हैं और उन्हें (अल्पजनों को) उस राज्य के अत्याचार से मुक्त कर अपने राज्य में मिला लेने की चेष्टा करते हैं। इटली के राष्ट्रवादी उस समय तक बहुत बेचैन रहे, जब तक कि इटालियन भाषाभाषी ट्रेंटिनो और टाइरोल आस्ट्रो हङ्गरी साम्राज्य के भाग बने रहे। अन्त में वे उन प्रदेशों को इटली में सम्मिलित करने में सफल हुए। इस प्रकार के अल्पजनों का, जिनका उद्धार नहीं हुआ हो (Irredenta), राज्य की वैदेशिक नीति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। हिटलर का समस्त जर्मन भाषी जनता को जर्मन राज्य के अन्तर्गत कर लेना एक ध्येय था। इस प्रकार आधुनिक राष्ट्रीयता ने दो अत्यन्त जटिल समस्याओं को जन्म दिया है, एक है अल्पजनों की समस्या और दूसरी पड़ोसी राज्यों द्वारा अपने अल्पजनों के उद्धार की इच्छा। प्राचीन काल में विविध जातियों के तथा विविध भाषा भाषी लोग एक ही राजा के अधीन शान्ति पूर्वक रह सकते थे जैसे रोम साम्राज्य में। न तो राज्य की ओर से उन पर सामान्य भाषा लादने की कोशिश की जाती थी और न वे जातियाँ ही अपनी भाषा आदि के प्रयोग के अपने अधिकार का प्रश्न उठा-

इसके साथ ही किसी राज्य के अपने पड़ोसी राज्य के अत्याचार से अपने अल्पजनों के उद्धार का प्रश्न भी नहीं उठता था। राष्ट्रीयता के उदय ने इस प्रकार की व्यवस्था को असम्भव कर दिया है।

राष्ट्रीय अल्पजनों की समस्या का एक दूसरा परिणाम यह है कि कुछ अल्पजन अपनी मृत भाषाओं के पुनर्जीवन का प्रयत्न करने लगते हैं जो मानवीय सम्पर्क के मार्ग में एक बड़ी बाधा सिद्ध होगा।

राष्ट्रीयता के एक दूसरे भयङ्कर दोष की ओर भी ध्यान देना उचित होगा। 'एक राष्ट्र और एक राज्य' के सिद्धान्त के कारण संसार में अनेक छोटे राज्य स्थापित हो जायेंगे जैसा कि केन्द्रीय योरोप में हो चुका है। इन छोटे राज्यों के अस्तित्व के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कायम रखने का कार्य और भी कठिन हो जाता है। पड़ोसी महान् राष्ट्रों को उन पर विजय प्राप्त करने की लालसा होती है। अन्त में, उन्हें किसी न किसी महान् राष्ट्र के अधीन हो जाना पड़ता है। यह बात प्रथम विश्वयुद्ध के बाद खड़े किये गये केन्द्रीय योरोप के राज्यों की अवस्था से स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह बात भी सन्देहास्पद है कि छोटे समुदायों को स्वतन्त्र राष्ट्र बना देने से सदा लाभ ही होता है। वास्तव में छोटे समुदायों के लिये यह बात अधिक लाभप्रद होगी कि वे बड़े समुदायों के साथ एक शासन तथा एक कानून के अन्तर्गत शामिल रहें।

यदि राष्ट्रीयता की भावना को विशुद्ध तथा नैतिक धरातल पर ही रखा जाय तो यह एक मूल्यवान् आदर्श है। यह एक स्वाभाविक मनोवृत्ति है। इसे नष्ट करना न तो सम्भव ही है और न वाञ्छनीय ही है। दुर्भाग्य से इसका सम्बन्ध सैनिकवाद, प्रगतिवाद, पूँजीवाद आदि दूषित भावनाओं से जुड़ गया है। इन दूषित भावनाओं से सम्बन्ध विच्छेद होने पर विशुद्ध राष्ट्रीयता एक वरदान बन सकती है। हेज का कथन है कि 'यदि राष्ट्रीयता विशुद्ध देश प्रेम का पर्यायवाची बन जाय तो वह मानवता एवं संसार के लिए एक अनुपम वरदान सिद्ध होगी। * यदि किसी प्रकार संसार के विविध राष्ट्रों को यह ज्ञान हो जाय कि वे परस्पर सहकारी हैं, प्रतियोगी नहीं, तो सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीयता की प्राप्ति हो सकेगी। इसके मार्ग में सबसे

* Nationalism when it becomes synonymous with the purest patriotism, will prove an unique blessing to humanity and to the world. (Hayes, Op. Cit.)

महान बाधा है प्रत्येक राज्य का पूर्ण स्वतन्त्रता तथा प्रभुत्व (Sovereignty) का दावा। राष्ट्रीयता तथा पूँजीवाद का गठबंधन भी, जिसने साम्राज्यवाद को जन्म दिया, एक बडी समस्या है। पूँजीवाद के विनाश और उसके स्थान पर नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में आज की राष्ट्रीयता के अनेक दोषो का निवारण हो जाने की आशा की जा सकती है।

साम्राज्यवाद

साम्राज्यवाद का कार्य—

"साम्राज्यवाद हमारे युग की सबसे अधिक चित्ताकर्षक सिद्धि तथा सबसे महान् विश्व समस्या है।"* संसार के महान् राज्यों ने मुख्यत योरोप के बडे राष्ट्रों ने, योरोप से बाहर संसार के देशों का आपस में विभाजन कर लिया है। यह विभाजन कभी शान्तिपूर्वक किया गया और कभी इसके लिये बडे भीषण संग्राम हुये। इस भूतल का आधे से अधिक भाग और विश्व की लगभग आधी जनसंख्या साम्राज्यों के उपनिवेशो, सुरक्षित प्रदेशो तथा प्रभाव-क्षेत्रों में निवास करती है।

वर्तमान युद्ध से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन का, जिसका क्षेत्रफल ९३,२८४ वर्ग मील है और जनसंख्या ४,७१,७५,०००, साम्राज्य १,३१ ६०,८६० वर्गमील भूमि पर था और उसमे ५१ ९३,८०,९७० लोग रहते थे। दूसरे शब्दों में ब्रिटिश साम्राज्य स्वयं ब्रिटेन से १४० गुना अधिक विशाल था। प्रत्येक अंग्रेज की १० औपनिवेशिक प्रजायें थी। फ्रेंच साम्राज्य का क्षेत्र विस्तार में ४४,९४,६१० वर्गमील था और उसकी जन संख्या १०,७८,५३,००० थी। उसका साम्राज्य फ्रान्स से २० गुना बडा था। डेनमार्क का क्षेत्रफल १३,२०८ वर्गमील है, परन्तु उसके साम्राज्य का क्षेत्रफल ८,०२,१९६ वर्गमील और जनसंख्या ७,५१,५७,००० थी। पुर्तगाल का साम्राज्य पुर्तगाल के क्षेत्रफल से २३ गुना बडा था और बेल्जियम का साम्राज्य बेल्जियम से ८० गुना बडा था। अमेरिका के संयुक्त राज्य ने इस क्षेत्र में देर से प्रवेश किया और उसके साम्राज्य का क्षेत्रफल ७,११ ९३९ वर्गमील था। जापान ने भी, जिसे अमरिकन नौसेना के बेडे ने उसके लिये अपना द्वार खुला रखने के लिये बाध्य

---

* Imperialism is the most impressive achievement and the most momentous world problem of our age (Moon Imperialism and World Politics p 1)

किया, पाश्चात्य नीति को अपना लिया और उनके (पाश्चात्य देशो के) साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया। उसने संयुक्त राज्य अमेरिका को फिलिप्पाइन द्वीपों मे से, अंग्रेजो को ब्रह्मा, मलय प्रायद्वीप तथा प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीपों मे से और डच लोगो को उनके प्रशान्त महासागर के साम्राज्य में से निकाल भगाया। उसने समस्त चीन पर अपना प्रभाव स्थापित करके संसार की प्रथम कोटि की शक्ति बनने का भी प्रयत्न किया। अमेरिका (दक्षिणी), अफ्रीका तथा एशिया और महासागरो के द्वीपो व राष्ट्रों एवं अनुन्नत जातियों पर योरोपियन राज्यो, अमेरिका के संयुक्त राज्य तथा जापान के राजनीतिक एवं आर्थिक आधिपत्य का नाम ही साम्राज्यवाद है। सन् १८८१ ई० से जिस वर्ष में फ्रांस ने ट्यूनिस को अपने अधिकार में किया था, यह साम्राज्यवादी विस्तार बहुत ही तीव्र गति से होने लगा और अगले ३० वर्षों मे प्रायः समस्त अफ्रीका का योरोपीय शक्तियों ने आपस में विभाजन कर लिया।

आधुनिक साम्राज्यवाद के लक्षण

साम्राज्यवाद संसार मे राष्ट्रीयता की भाँति कोई नवीन घटना नही है। प्राचीन तथा मध्ययुग में भी शासनो का विशाल भू भागो पर आधिपत्य होता था। अलेक्जेण्डर तथा चंगेजखां ने अपने साम्राज्यो को विश्व-व्यापी बनाने की चेष्टा की और रोम साम्राज्य के अन्तर्गत उस समय के सभ्य संसार का एक बहुत बड़ा भाग सम्मिलित था। परन्तु इन साम्राज्यो की तुलना जब आधुनिक काल के ब्रिटिश साम्राज्य जैसे साम्राज्यो से की जाती है, तो वे नगण्य प्रतीत होने लगते हैं। आधुनिक साम्राज्य पहले के साम्राज्यो से केवल इसी बात मे भिन्न नही हैं कि वे उनसे अधिक विशाल हैं और दूर-दूर तक फैले हुए हैं, उनमे बड़ा गहरा और मौलिक भेद है। प्राचीन काल के साम्राज्य वीर शासको या योद्धाओं की व्यक्तिगत प्रेरणा के प्रयास अथवा धार्मिक भावना के परिणाम थे परन्तु आधुनिक साम्राज्य प्रभुत्व सम्पन्न राज्यो के बीच सत्ता तथा बाजार के लिये प्रतियोगी संघर्ष का एक महत्वपूर्ण रूप है। इसका राष्ट्रीयता और पूँजीवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है जो दोनो आधुनिक घटनाएँ हैं। इन शक्तियों के बिना साम्राज्य का वर्तमान् रूप नही हो सकता था। प्राचीन या मध्य-युगीन साम्राज्य अपनी प्रकृति में अद्भुत कल्पनापूर्ण (Romantic) थे, आधुनिक साम्राज्य मुख्यतया आर्थिक हैं। उनमें दूसरा महत्वपूर्ण भेद यह है कि आधुनिक साम्राज्य स्थानीय विकास के लिये एक बड़ी सीमा तक स्वतन्त्रता

कि वह पिछड़ी हुई जातियों पर अपना शासन स्थापित कर उन्हें अपनी उच्च सभ्यता के लाभ प्रदान करे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एक महान् एजेण्ट सेसिल रोडज ने इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है "मेरा यह दावा है कि संसार में हमारी प्रजाति सबसे प्रथम है और संसार के जितने भी अधिक भाग में हमारा निवास हो वह उतना ही मानव जाति के हित में होगा।"* अंग्रेज लोग भारत का त्याग इसलिये नहीं करना चाहते थे कि यदि वे भारत से विदा हो जायेंगे तो भारतीय असभ्य बने रहेंगे और वे अशिक्षा तथा अन्ध विश्वास में डूबे रहेंगे। इटली ने भी सशस्त्र बल तथा विषैली गैस के प्रयोग द्वारा अबीसीनिया को सभ्य बनाने की चेष्टा की थी। जब एक देश को सभ्य बनाने के लिये अनेक देश उत्सुक रहते हैं, तो उसका स्वाभाविक परिणाम उनके आपसी संघर्ष में प्रकट होता है।

साम्राज्यवादी विस्तार का इतना ही महत्वपूर्ण कारण है आर्थिक आवश्यकता। ग्रेट ब्रिटेन तथा अमरिका जैसे अत्यन्त औद्योगिक देश अपने तैयार माल को दूसरे देशों में भेज कर तथा अपनी अतिरिक्त पूँजी को पिछड़े देशों में लगा कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। उनका जीवन स्तर उनकी निर्यात शक्ति पर निर्भर रहता है। इङ्गलैंड भारत को अपने माल के विक्रय के लिये सबसे उत्तम बाजार मानता था। इसी उद्देश्य से जापान भी चीन पर अपना अधिकार जमाये रखना चाहता था। जब ब्रिटेन के सूती तथा लोहे के व्यवसाय को अमेरिका तथा जर्मनी के औद्योगीकरण द्वारा ठेस पहुँची, तब ब्रिटेन को अपनी औपनिवेशिक नीति में परिवर्तन करना पड़ा और उसने विस्तार पर कमर बाँधी। औद्योगिक देशों में प्रतियोगिता अधिक तीव्र हो गई और प्रत्येक देश अपने तैयार माल के लिये नये बाजारों की खोज करने लगा। वे अपने कारखानों के लिये कच्चा माल भी चाहते थे। इङ्गलैंड मिस्र तथा सूडान पर अपना नियन्त्रण बनाये रखना चाहता था क्योंकि वहाँ की अच्छी रुई मनचेस्टर की सूती मिलों के लिये अत्यन्त आवश्यक है। रुई, रबड़, कहवा, कोको, चीनी, चाय, नारियल आदि चीजों के कारण अफ्रीका आदि में साम्राज्य स्थापित किये गये। औद्योगिक राष्ट्रों की लोहे तथा

---

* I contend that we are the first race in the world and that the more of the world we inhabit, the better it is for the human race.'

कोयले की सवव्यापी भूख न साम्राज्यवादी विकास को बडी उत्तेजना दी है। हाल मे पेट्रोल का राजनीति मे बडा महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। फारस तथा मेसापोटेमिया के तैल क्षेत्रों ने ससार के साम्राज्यवादी राष्ट्रो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है।'* दूसरा आर्थिक तत्व जो राष्ट्रो को साम्राज्यवादी बना दता है वह है अतिरिक्त पूँजी को विदेशो मे लगाने की आवश्यकता। एक बकर पिछडे हुए देश को ऊँचे ब्याज पर पूँजी उधार देता है। शासन प्रबन्ध ठीक न होने के कारण वह देश ब्याज अदा नही कर सकता। इस पर बकर अपनी राष्ट्रीय सरकार से अपील करता है और सरकार उस पिछडे हुए प्रदेश पर अपना सरक्षण स्थापित कर लेती है। इस प्रकार ऋणी देश साहूकार देश के पजे में फंस जाता है। "अतीत मे योरोप के साहूकार देशो न अफ्रीका तथा एशिया के अपने ऋणी देशो को हडप कर लेन की स्पष्ट प्रवृत्ति प्रकट की है।† इस आर्थिक तत्व का इतना अधिक महत्व है कि लेनिन ने तो साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की अतिम अवस्था बतलाया है। लेनिन के शब्दो मे "साम्राज्यवाद विकास की अवस्था मे पूँजीवाद को वह स्थिति है, जिसमे एकाधिकार तथा राजस्व पूँजी (Finance Capital) का आधिपत्य स्थापित हो जाता है, जिसम पूजी का निर्यात विशेष महत्व प्राप्त कर लेता है, जिसमे अन्तराष्ट्रीय ट्रस्टो द्वारा ससार का बँटवारा आरम्भ हो जाता है और ससार की समस्त भूमि का सबसे महान् पूँजीवादी देशा द्वारा पूण बँटवारा हो जाता है।'‡

---

* 'It is not true that the expansion of trade and the existence of larger markets necessarily lead to the formation of Empires but evidently these are some of the forces which actually did produce Imperialism (Burns Political Ideals p 205)

† The money lending countries of Europe in the past have shown a marked tendency to annex their debtors in Africa and Asia (Moon)

‡ Imperialism is capitalism in that stage of development in which the domination of monopolies and finance capital has taken shape in which the export of capital has acquired pro nounced importance in which the division of the world by international trusts has begun and in which the partition of all the territory of the earth by the greatest capitalist countries has been completed (Lenin)

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हमने ऊपर जिन आर्थिक तत्वों का उल्लेख किया है अर्थात् अतिरिक्त उत्पादन, कच्चा माल तथा अतिरिक्त पूंजी, वे साम्राज्यवादी प्रयत्नों के लिये उस समय तक प्रेरक शक्ति प्रदान नहीं करेंगे जब तक कि उनका सम्बन्ध 'आर्थिक राष्ट्रीयता' के सिद्धान्त से न जोड दिया जाय। 'आर्थिक राष्ट्रीयता' से प्रयोजन उस सिद्धान्त से है जो राष्ट्रीय समाज की आर्थिक सम्पन्नता की वृद्धि करना तथा उसे कायम रखना राज्य का एक प्राथमिक कार्य मानता है। राज्य को ऐसे कानून बनाने चाहिये और ऐसी वैदेशिक नीति ग्रहण करनी चाहिये, जो राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली बना सके। राज्य की राजनीतिक शक्ति एवं उसका प्रभाव उसकी आर्थिक स्थिति के अनुपात में होता है। कारखाने, मिल तेल क्षेत्र, खनिज-सम्पत्ति, रेल आदि राष्ट्रीय समृद्धि और राजनीतिक शक्ति के आधार हैं। अतः राष्ट्रीय सरकारों को व्यवसाय की अभिवृद्धि करनी चाहिये। इन सब बातों का यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि राष्ट्र अपने तैयार माल के लिये बाजार प्राप्त करने, विदेशों में लगी अपनी पूंजी की रक्षा करने, व्यवसाय प्राप्त करने, जलयानों के लिये कोयला प्राप्त करने तथा कच्चा माल प्राप्त करने आदि की दृष्टि से औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करना उचित समझने लगते हैं। इस प्रकार जब पूंजीवाद का आर्थिक राष्ट्रीयता से गठबन्धन हो जाता है, तब उससे साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव हो जाता है। उक्त आर्थिक साधनों पर अधिकार सीधी विजय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जैसे बर्मा, मलय प्रायद्वीप तथा अबीसीनिया में हुआ। यह कार्य अन्य देशों में रियायतें प्राप्त करके तथा प्रभाव क्षेत्र स्थापित करके भी किया जा सकता है जैसे चीन फारस, टर्की आदि में किया गया है।

साम्राज्यवादी विस्तार के दो प्रयोजन और भी हैं। जर्मनी, इटली तथा जापान जैसे अत्यधिक आबादीवाले देश अपनी अतिरिक्त आबादी को बसाने के लिये उपनिवेशों की मांग करते हैं। एक दीर्घ काल से जापान की दृष्टि आस्ट्रेलिया पर लग रही है जहाँ लाखों जापानियों को बसाया जा सकता है। इस तर्क को ले कर साम्राज्यवादियों ने अपनी नीतियों के पक्ष में प्रबल लोक समर्थन प्राप्त किया है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि उन उपनिवेशों में अतिरिक्त आबादी को बसाने में अनेक कठिनाइयां हैं। केमेरून में जर्मन प्रवासियों तथा अबीसीनिया में इटालियन प्रवासियों की

सख्या बहुत ही कम रही है, फिर भी साम्राज्यवादी प्रचार मे इस तर्क का बडा सहारा लिया जाता है ।

दूसरा प्रयोजन है सामरिक महत्व के स्थानो की प्राप्ति । जिब्राल्टर, मालटा, अदन आदि का आर्थिक मूल्य नगण्य है, परन्तु इनका सामरिक महत्व बहुत है क्योकि इन स्थानो का सामुद्रिक राजमार्गो पर अधिकार है । ये नाविक अड्डे है और यहाँ जहाज कोयला लेते है । यदि ससार के विभिन्न भागो मे ब्रिटिश नियन्त्रण मे सामरिक महत्व के स्थान न होते जहाँ उसके जहाज आश्रय तथा कोयला ले सकते, तो ब्रिटिश नौसेना का कुछ भी महत्व नही रह जाता । युद्ध-काल मे आवश्यक कच्चे माल के सम्बन्ध मे स्वाश्रयिता का तर्क भी साम्राज्यवादी अपनी नीतियो के समर्थन मे पेश करते हैं ।

उत्पादन करनेवालों, माल को बाहर भेजने तथा अन्दर मँगानेवाले व्यापारियो, बकरो, धनपतियो तथा जलयानो के स्वामियो के सेना तथा नौसेना के अधिकारी, राजदूत और औपनिवेशिक अधिकारी बड़े मित्र होते हैं , जो स्वय भी अपने हित म साम्राज्यवादी नीतियो का समर्थन करते हैं । साम्राज्यवादी प्रयत्नो के कारण सनिका, राजदूतो तथा अधिकारियो को अच्छे पद मिलते हैं, वे धनोपार्जन के साथ गौरव भी प्राप्त करते हैं । मिशनरी लोग भी साम्राज्य के एजेण्ट होते है । मिशनरियो की हत्या के कारण अनेक बार पिछडे हुए देशो पर हमले हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप वे साम्राज्यवादी देशो द्वारा हड़प लिये गये हैं । नवीन प्रदेशो की खोज करनेवाले तथा साहसिक यात्रियो ने भी दूर-दूर के प्रदेशो मे अपने देश के झण्डे गाड कर अपने देश के साम्राज्य का विस्तार किया है ।

साम्राज्यवादी साहसिक कार्यो मे सहायक साधनो की यह सूची यातायात के साधनो के मूल्य के उल्लेख के बिना अपूर्ण रहेगी । आधुनिक काल के विशाल साम्राज्य जलयानो वायुयानो, केबिल, बेतार आदि के बिना सम्भव नही हो सकते थे । पराधीन राष्ट्रो मे अपना माल भेजने तथा उनकी रक्षा के लिये सेना आदि भेजने के हेतु जलयानो की बडी आवश्यकता होती है । उन प्रदेशो के भीतरी भागो मे पहुँचने तथा वहाँ माल पहुँचाने के लिये रेलें आवश्यक होती हैं और उनके साथ सम्पर्क बनाये रखने के लिये तार तथा बेतार आवश्यक होते हैं । आजकल विज्ञान के इन क्रान्तिकारी आविष्कारो ने दूरस्थ साम्राज्यो के नियन्त्रण,

उनकी व्यवस्था तथा रक्षा के कार्य को सरल बना दिया है। आज के साम्राज्य चाहे जितनी दूरी पर हो, फिर भी इनकी सहायता से उनकी अच्छी व्यवस्था हो सकती है। साम्राज्य उन्ही देशो के सफल हो सकते हैं जो उद्योग तथा शिल्पकला (Technology) मे इतने प्रवीण हो कि उसकी सहायता से दूरस्थ देशो मे भी अपनी सैनिक तथा प्रशासनीय सत्ता का प्रयोग कर सकें।

साम्राज्यवाद का समर्थन—

यह प्रतीत होता है कि एशिया, अफ्रीका तथा महासमुद्रो के द्वीपो को दुनिया के साम्राज्यवादी देशो द्वारा विभाजित करना किसी भी आधार पर उचित नही माना जा सकता। सत्ता प्राप्त करने के लिये प्रतियोगिता का तनिक भी समर्थन नही किया जा सकता। परन्तु कुछ लेखक ऐसे भी है जो साम्राज्यवाद की परिभाषा एक ऐसी प्रणाली के रूप मे करते है जो अनेक प्रजातियो को एक शासन के अधीन कर देती है। साम्राज्यवाद के समर्थन मे तर्क भी दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, बर्न्स ने साम्राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है —"साम्राज्य एक ऐसा विशाल प्रदेश है जिसमे अनेक ऐसी प्रजातियां रहती है जो एक सरकार के अधीन है और जिसमे कोई एक जाति प्रधान होती है।"* उसका कथन है कि अनेक जातियो को एक सामान्य कानूनी प्रणाली के अधीन रखना बहुत उपयोगी एवं लाभदायक है। इससे वाणिज्य व्यापार मे बाधाएँ कम हो जाती है, उनमे परस्पर सम्पर्क बढना है और इससे सामान्यतया जीवन भी श्रेष्ठतम बन जाता है। विशाल साम्राज्य की सदस्यता व्यक्तियो के दृष्टिकोण को व्यापक बना देती है उनका मानसिक क्षितिज विस्तृत हो जाता है और प्रान्तीयता तथा स्थानिकता की भावनाएँ भी दूर हो जाती है। यदि जर्मनी, फ्रान्स, और इटली एक शासन के अधीन रहे तो उनके बीच व्यापार अवश्य बढ जायगा और उनके लोगो का सांस्कृतिक सम्पर्क अधिक होने लगेगा। एक शासन के अधीन जितना व्यापक क्षेत्र होगा, उतना ही नागरिको के लिये भी अच्छा होगा। भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य के समर्थक कहते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य के कारण ही भारत की जनता

---

*An empire is a vast territory of many races under one government and with one dominant partner (Burns Political Ideals p 200)

मे ऐसी एकरूपता एव एकता रही जो पहले विभक्त दशा म कदापि सम्भव नही थी। जब उच्च सस्कृतिवालो के साथ निम्न सस्कृति के व्यक्तियो का सम्पर्क कायम हो जाता है, तब निम्न सस्कृतिवाला का जीवन स्तर ऊँचा उठ जाता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद सभ्यता क विस्तार का एक महान् माध्यम है। यह "श्वेत पुरुष के भार' (White Man's Burden) नामक सिद्धान्त का ही अतिरजित चित्र है।

साम्राज्यवाद के दोष—

योरोप के बाहर की सर्वथा विभिन्न सस्कृति एव धर्मवाली प्रजातियो पर योरोपीय राष्ट्र तथा अमेरिका एव जापान के बलात्कारपूर्ण आधिपत्य से जो दोष पैदा होते है, वे उन लाभो से कही अधिक है, जो साम्राज्यवाद से पैदा हो सकते हैं। योरोपीय शक्तियो का पिछडी जातियो के साथ जो सम्पर्क हुआ है वह उनका सुधार करने के स्थान मे विनाश का कारण बना है। अफ्रीका की आदिम जातियो का ह्रास हो रहा है और आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड की आदिम जातियो का खात्मा ही हो चुका है। ब्रिटिश शासन ने भारत मे चाहे जो कुछ अच्छा किया हो परन्तु हमारी सभ्यता एव सस्कृति पर उसका प्रभाव अत्यन्त विनाशकारी रहा है। हम राष्ट्रीयता से हीन हो गय है हमारी आत्मा कुण्ठित हो गई है और हमारी प्रगति रुक गई है।

साम्राज्यवादी विस्तार की प्रक्रिया विजित जनता के लिये एक अभिशाप सिद्ध हुई है। "साम्राज्य का पथ उसके शिकारो के रक्त से लाल हो रहा है।' ब्रिटिश लोगो ने भारत के लिये युद्ध किये और उनमे विजय प्राप्त की। बर्मा, मलय प्रायद्वीप तथा अन्य देशो पर भी अग्रेजो ने विजय प्राप्त की। उन्होंने चीनियो अफगानो, तुर्कों तथा अरबो से भी लडाइयाँ लडी और उनका अपमान किया। इसी प्रकार फ्रास ने भी अपनी सैनिक शक्ति के बल पर साम्राज्य का विस्तार किया। विजित देशो मे जो विद्रोह और क्रान्तियाँ होती है, उनका पशु बल से दमन किया जाता है। युद्ध, विद्रोह, दमन और अत्याचार ही दुर्बल राष्ट्रो के भाग्य मे होते हैं। इस अत्याचार एव दमन की करुण कथा से ही उनके दुखो का अन्त नही हो जाता, साम्राज्यवादी शासन की स्थापना के बाद उनका निर्दयतापूर्वक आर्थिक शोषण भी किया जाता है। साम्राज्यवाद का मूल्य हम उन देशो की जनता मे बढती हुई कटुता, रोष तथा विद्रोह की

भावना और साम्राज्यवादी अधिकारियो द्वारा उनकी आत्मा को कुचलने के प्रयास पर ध्यान देकर ही आँक सकते है।

अत मे, साम्राज्यवाद का साम्राज्यवादी राष्ट्रो पर भी बहुत बुरा प्रभाव पडता है। सन् १८५४ ।६ ई० के क्रीमियन युद्ध तथा सन् १६०४ ५ ई० के रूस जापानी युद्ध को छोड सन् १६१४ ई० मे पूर्व साम्राज्यवादी देशो के बीच प्रदेशो की प्राप्ति के लिय सशस्त्र सघर्ष नही हुए। उनमे जो विवाद हुए उनका कूटनीतिक रीति से तथा समझौत द्वारा समाधान कर लिया गया। परन्तु अब ऐसे कोई प्रदेश नही बचे है जिन पर वे अपना अधिकार जमा सकें, अत साम्राज्यवाद के सघर्ष ने बडा भयकर रूप धारण कर लिया है। जब साम्राज्यवादी देशो के झगडे कूटनीतिक प्रणाली द्वारा नही निपट सके तो यारोप एक सशस्त्र शिविर बन गया जिसके परिणामस्वरूप दो विश्वयुद्ध हुए। इस प्रकार साम्राज्यवाद का अर्थ है युद्ध। पहले तो साम्राज्यवादी राज्यो तथा पिछडे राष्ट्रो के बीच युद्ध होता है और फिर साम्राज्यवादी देशो म ही आपस मे युद्ध ठन जाता है। पिछले प्रकार के युद्ध से विग्रही राष्ट्रो की बडी हानि होती है और अत मे उनका सर्वनाश सुनिश्चित है।

दूसरी बात यह है कि साम्राज्यवाद से केवल विजित राष्ट्रो का ही नही वरन् विजेता राष्ट्रो का भी नैतिक पतन होता है। जिस निरकुशता का प्रयोग साम्राज्यवादी देश अपने अधीन देशो पर करते है, उसके कारण उसका प्रयोग करनेवालो का नैतिक पतन हो जाता है। रोम साम्राज्य जिसने प्रारम्भ म बडे बलवान् शत्रुओ को पराजित किया, अत मे उत्तर की ओर से होनेवाले जगली जातियो के आक्रमणो को नही रोक सका क्योकि भ्रष्ट शासन प्रबन्ध तथा सदियो के विलासी जीवन ने उसके नागरिको का चरित्र बहुत ही दूषित और निस्सत्व कर दिया था। द्वितीय विश्व युद्ध म इन्ही कारणो से ब्रिटिश सेनाओ को अनेक लडाइयो में बडी लज्जाजनक रीति से पीछे हटना पडा था। कोई भी राष्ट्र अततोगत्वा अपना पतन किये बिना दूसरे राष्ट्र को अधिक समय तक अपने आधिपत्य में नही रख सकता।

अत मे यह कहना गलत नही होगा कि जिस मान्यता के आधार पर साम्राज्यवाद आधारित है वह उचित नही है। इस बात को हम नही मान सकते कि साम्राज्यवादी राष्ट्र की सभ्यता हर हालत म अधीन राष्ट्र की सभ्यता से श्रेष्ठ होती है। भारत तथा चीन की सभ्यता या सस्कृति

अथवा उनके निवासियों को निम्न नही कहा जा सकता। उनकी संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएँ अत्यंत प्राचीन होने के साथ-साथ बडी उच्च हैं जो पश्चिमी राष्ट्रों को बहुत कुछ सिखा सकती है। किन्तु फिर भी पाश्चात्य देशवासी इन देशो मे सभ्यता के प्रचारक बनने का दम भरते हैं। यदि तर्क के लिये यह मान भी लिया जाय कि पश्चिमी सभ्यता श्रेष्ठ है, तो भी जिस ढंग से उसे हम पर लादने की चेष्टा की गई है, उससे उसके गुण बहुत कम हो जाते है। अपनी सभ्यता को स्वीकार कराने में उन्होने जिस बल का प्रयोग किया है, उसके कारण उसकी श्रेष्ठता का दावा निर्बल पड गया है। जिस रीति से उन्होंने आदर्श की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया है, उसके दोष उसमें आ गये है। एक आदर्श तथा आधुनिक राजनीति में एक शक्ति के रूप मे साम्राज्यवाद अत्यंत निंद्य है।

अन्तर्राष्ट्रीयता

अन्तर्राष्ट्रीयता का अर्थ—

संकुचित तथा उग्र राष्ट्रीयता में जो नैसर्गिक दोष हैं और साम्राज्यवाद के मुख्य लक्षण सत्तिवाद के कारण संसार मे जो घोर अराजकता फैला है उनके कारण अनेक अच्छे व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार इतना सुनिश्चित एवं स्पष्ट नही है जैसा कि राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवाद का है। उसकी यह कहकर व्याख्या करना उचित प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता विचार तथा कार्य की एक ऐसी पद्धति है जो संसार के राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सहयोग एवं मित्रता की अभिवृद्धि चाहती है। आज के युग के व्यक्ति ही इसकी आवश्यकता का अनुभव नही करते प्राचीन काल तथा मध्य-काल में भी लोगों ने इसकी आवश्यकता का अनुभव किया था। राष्ट्रों के बीच शान्ति एवं मित्रता की इच्छा ने सदैव से लोगों को इस दिशा में प्रेरित किया है। यूनानी लोग तो प्राय अपने देश की सीमा तक ही सीमित रहे किन्तु मध्य-युग में लोग सार्वभौम साम्राज्य के विचार से परिचित थे। दाँते ने विश्व-सम्राट् तथा विश्व-कानून सहित एक विश्व राज्य की कल्पना की थी।

मध्य-युग मे सार्वभौम साम्राज्य की भावना ने अनेक सम्राटों की नीतियों पर बडा बुरा प्रभाव डाला। किन्तु मध्य-युगीन विचार को हम अन्तर्राष्ट्रीयता का नाम नही दे सकते। उसे हम विश्वबन्धुत्व का सिद्धान्त (Cosmopolitanism) कह सकते है। अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये राष्ट्रों

का अस्तित्व परम आवश्यक है, जो आधुनिक काल का विकास है। वह इन राष्ट्रों में परस्पर मैत्री स्थापित करना चाहती है। विश्वबन्धुत्व उस युग का आदर्श था जब कि राष्ट्र-राज्य का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था, वर्तमान युग में उसकी माग है कि राष्ट्रों की सीमाओं का अन्त कर दिया जाय और राष्ट्रीयता के बन्धनों को भी तोड़ दिया जाय। जहाँ तक साम्यवाद संसार के मजदूरों के सम्बन्ध में राष्ट्रीयता के भेदों को स्वीकार नहीं करता वह विश्वबन्धुत्व का पोषक है किन्तु अपने दृष्टिकोण में अन्तर्राष्ट्रीय नहीं है। आज के नर-नारियों के हृदयों में राष्ट्रीयता की भावना ने ऐसा स्थान बना लिया है कि विश्वबन्धुत्व के आदर्श को अव्यावहारिक मान कर हम उसकी उपेक्षा कर सकते हैं। किसी भी विश्व व्यवस्था की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का भी समुचित ध्यान रखा जाय। अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार इस आवश्यकता की पूर्ति करता है।

जिस किसी बात से राज्यों के बीच में मैत्री तथा शान्तिमय सम्बन्धों की अभिवृद्धि हो, वह अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रगति में सहायता करती है। ग्रोटियस के समय से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का, कूटनीतिक सम्बन्धों एवं व्यवहारों का तथा मध्यस्थों अथवा पंचों द्वारा राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों का शान्तिपूर्वक निर्णय करने की पद्धति का विकास तथा विविध प्रयोजनों से अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना, इन सब बातों से अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना अथवा 'अन्तर्राष्ट्रीय मन' के विकास में बड़ा योग मिला है। हमारा उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विकास का पूरा विवरण प्रस्तुत करने का नहीं है, ग्रोटियस, पुफेनडॉर्फ, वुल्फ, वाटल, केण्ट तथा अन्य प्रसिद्ध विधि विशेषज्ञों ने इस दिशा में जो योगदान दिया है उसके सम्बन्ध में हमें उल्लेख नहीं करना है। हेग-सम्मेलन और उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण के लिये जो प्रयत्न किये गये तथा अन्तर्राष्ट्रीय पञ्चायतों द्वारा विवादों के निर्णय के लिये तथा अपने राष्ट्रीय अधिकारों की रक्षा और अपनी शिकायतों को दूर करने के निमित्त युद्ध को रोकने के लिये योरोपियन राजनीतिज्ञों ने जो प्रयत्न किये उन पर भी यहाँ विचार नहीं किया जायगा।

हमें केवल यही उल्लेख करना है कि राष्ट्रों में अपने विवादों के निर्णय के लिये शस्त्र-ग्रहण करने की अपेक्षा विवेक तथा न्याय के आधार पर उनका शान्तिपूर्वक निर्णय करने की प्रवृत्ति अनेक प्रकार

से बढ़ती जा रही थी। राज्यों के पारस्परिक व्यवहार के क्षेत्र में कानून का राज स्थापित करने में कुछ सफलता मिल रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार कुछ प्रगति कर रहा था। यह सत्य है कि इस दिशा में प्रगति धीमी रही, परन्तु जो इस कार्य में संलग्न हैं उन्हें उत्साह प्रदान करने के लिये वह पर्याप्त थी। किन्तु सन् १९१४-१८ ई० के महायुद्ध ने इस प्रवृत्ति को एक घातक धक्का पहुँचाया। उसने यह सिद्ध कर दिया कि यदि किसी राष्ट्र ने यह दृढ़ संकल्प कर लिया है कि वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये शस्त्र ग्रहण करेगा तो अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत की शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते या निश्चय उसे रोकने के लिये पर्याप्त नहीं है।

प्रथम विश्व-युद्ध में जो भयंकर नर-संहार हुआ उसके कारण संसार के राजनीतिज्ञों को एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि करे और यदि युद्ध का अन्त नहीं कर सके तो कम से कम उसे कठिन अवश्य बना दे। इस उद्देश्य से सन् १९१९ में राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना की गई। उसका घोषित लक्ष्य "युद्ध न करने के दायित्व की स्वीकृति, समस्त राष्ट्रों में खुले, न्यायपूर्ण एवं सम्मानपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना, संसार के राज्यों की सरकारों के आचार-व्यवहार के नियमन के लिये अन्तर्राष्ट्रीय विधि के समझौतों की स्थापना तथा राष्ट्रों के बीच जो परस्पर संधियाँ हों उनके समुचित आदर द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की प्राप्ति" था।*

राष्ट्र संघ की स्थापना उस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के लिये

---

* To promote international cooperation and to achieve international peace and security by the acceptance of obligations not to resort to war by the prescription of open, just and honourable relations between nations, by the firm establishment of the understandings of international law as the actual rule of conduct among governments and by the maintenance of justice and a scrupulous respect for all treaty obligations in the dealings of organised peoples with one another'

किये गये प्रयत्नो म सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। इससे पूव के सम्मेलन मुख्यत योरोपियन अथवा ईसाई राष्ट्रो के ही हुआ करत थे, इतर राष्ट्रो के लिय उनमे कोई स्थान नही था। राष्ट्र सघ एक विस्तृत सगठन था। इसम गैर योरोपीय तथा गैर ईसाई राष्ट्रो के लिये भी स्थान था और इस प्रकार वह वास्तव म एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन था।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के उपरात पेरिस के शान्ति-सम्मेलन म एकत्रित शान्ति सधियो पर हस्ताक्षर करनेवाले सब राज्य राष्ट्र सघ के मौलिक सदस्य थे। उसकी स्थापना के बाद कोई भी स्वशासित राज्य सघ की सभा के दो तिहाई सदस्यो की अनुमति से राष्ट्र-सघ का सदस्य हो सकता था। इसके चार प्रधान अग थ—(१) सभा (Assembly), (२) परिषद् (Council), (३) सचिवालय (Secretariat) और (४) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय।

इनमे सबसे महत्वपूर्ण सस्था सभा थी जिसम प्रत्यक सदस्य राज्य के बिना छोट बड भेद भाव के तीन-तीन प्रतिनिधि हुआ करत थ परन्तु वे केवल एक मत (Vote) ही दे सकत थ। उसे विश्व शान्ति स सम्बन्धित किसी भी विषय का विचार करन का अधिकार था। उसकी वष म कम से कम एक बठक अवश्य होती थी। यह एक प्रकार स राष्ट्र सघ की विधान सभा के समान थी।

परिषद् कायपालिका के समान थी जिसम स्थायी और अस्थायी दो प्रकार के सदस्य होत थे जिनकी कुल सख्या ९ थी—पाच बडे राज्य स्थायी सदस्य थे और छोटे राज्यो म स सभा द्वारा तीन वष के लिये निर्वाचित चार अस्थायी सदस्य होते थे। बाद म इन सदस्यो की सख्या म परिवतन होता रहा। जिन राज्यो क ससार व्यापी हित और भारी राजनीतिक उत्तरदायित्व थे उन्ह स्थायी सदस्य बनाया गया था। इसकी बठके वष म कई बार हुआ करती थी और उसका काय सभा के निर्णयो को कार्यान्वित करना अथात् राष्ट्र-सघ का काय सम्पादन करना था।

सघ के सचिवालय का अध्यक्ष एक सेक्रेटरी जनरल हुआ करता था जिसकी नियुक्ति सभा क बहुमत की अनुमति स परिषद् करती थी। सचिवालय म कायकर्ताओ की नियुक्ति परिषद की अनुमति क साथ सेक्रेटरी जनरल किया करता था। सघ का समस्त काय सचिवालय क द्वारा हुआ करता था।

इन तीनो अगो का मुख्य कार्यालय स्विट्जरलैण्ड मे जनीवा नामक नगर मे था। अतराष्ट्रीय यायालय (Court of International Justice) का स्थान हालड म हेग नगर म था। इसम सभा तथा परिषद् द्वारा ६ वष के लिय निर्वाचित ११ यायाधीश तथा ४ उपयायाधीश होत थे। यह यायालय उसके समक्ष प्रस्तुत राज्या के झगडो का निपटारा करता था और सभा अथवा परिषद् को आवश्यक्ता पडने पर उनकी प्रायना पर परामश भी दता था।

इनके अतिरिक्त एक सस्था और थी—अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय (International Labour Office) जो राष्ट्र-सघ का अग तो नही था परन्तु उसके साथ सहयोग करता था और जिसका उद्देश्य ससार में सवत्र पुरुषो, स्त्रिया एव बच्चो के लिय श्रम की यायपूण एव मानवोचित अवस्थाएँ उपलब्ध करना था।

राष्ट्र सघ को विश्व शाति स्थापित करन मे कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी और विश्व शाति की समस्या ज्यो की त्यो बनी रही। उसने कुछ छोटे छोटे राज्यो के झगडो का निपटारा अवश्य किया परतु इटली, जापान, जमनी जैस बडे राज्यो की महत्वकाक्षाओ से उत्पन सकट को वह नही टाल सका और अत मे उसकी स्थापना के बीस वष बाद ही द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हा गया। राष्ट्र सघ अतर्राष्ट्रीय शाति स्थापित करने के अपने मूल उद्देश्य मे ता सफल न हो सका परन्तु सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक एव मानवीय क्षेत्रो मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयाग स्थापित करने मे उसे पर्याप्त सफलता मिली। उसने अतर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय के द्वारा सभी औद्योगिक देशो मे श्रमिको की अवस्था सुधारने का प्रयत्न किया, दासता का अत करने, स्त्रिया एव बच्चो के अतर्राष्ट्रीय व्यापार को रोकने, अफीम, कोकेन आदि हानिकर द्रव्यो के उत्पादन को केवल औषधि के काम के लिय सीमित कराने के हेतु उनके उत्पादन एव व्यापार पर नियत्रण लगान, हजा, मेलेरिया, चेचक, क्षय, कोढ आदि रागो के कारणा एव चिकित्सा के उपायो के सम्बध मे अपनी प्रयोगशालाओ द्वारा अनुसधान कराने आदि काय मे उस अपने सदस्य राज्या में पारस्परिक सहयोग को प्रात्साहन करने म काफी सफलता प्राप्त हुई। अपनी सास्कृतिक एव बौद्धिक सहयोग समिति के द्वारा विभिन्न देशा के विद्वानो एव शिक्षको मे पारस्परिक सम्पर्क के स्थापित करने का भी उसने काफी प्रयास किया ताकि विभिन्न देशो के लोग एक दूसरे की सस्कृति को समझ कर उसका

आदर कर सकें और इस प्रकार अज्ञानजन्य भय, शका, भ्रम एव विद्वेष का, जो अन्तर्राष्ट्रीय कलह के मूल कारण है, निराकरण हो सके ।

राष्ट्र सघ की असफलता के अनेक कारण थ परन्तु उसका मूल कारण राष्ट्रीयता की भावना थी। सघ के सदस्य राज्य, मुख्य कर बडे राज्य, जिनसे यह आशा की जाती थी कि वे अपने सकुचित राष्ट्रीय हित की भावना से ऊपर उठ कर मानव हित की भावना से काय करेंगे, अपने सकुचित राष्ट्र हित की भावना से सदा काय करते रहे और इस प्रकार राष्ट्र सघ के आधार पर कुठाराघात करते रहे। राष्ट्र-सघ का जहाज राष्ट्रीयता की चट्टान से टकराकर चूर चूर होगया ।

राष्ट्र सघ तो असफल होगया परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के भयकर नर सहार ने ससार के नेताओ के समक्ष यह बात स्पष्ट करदी कि यदि विश्व शान्ति के लिये किसी प्रभावकारी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की स्थापना न हुई तो मानव-समाज का विनाश हो जायगा। ऐसे सगठन की आवश्यकता की अनुभूति जर्मनी के विरुद्ध युद्ध म रत प्रमुख राष्ट्रों—अमरिका के सयुक्त राज्य, इगलैण्ड, रूस और चीन—के नेताओ को युद्ध के दौरान ही म होने लगी और उन्होंने अक्टूबर १९४३ म मास्को म तथा १९४४ म डम्बाटन आक्स के सम्मेलनो मे विश्व शान्ति के निमित्त एक सगठन स्थापित करने का निश्चय किया। इस निश्चय क अनुसार १९४५ के अप्रैल मास म सेन फ्रासिस्को मे एक सयुक्त राष्ट्र सम्मेलन ने जिसम ५० राज्यो के प्रतिनिधि सम्मिलित थे सयुक्त राष्ट्र सगठन' की स्थापना की ।

सयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र (चार्टर) मे निम्नलिखित प्रयोजनो का उल्लेख है।

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा कायम रखना और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये शान्ति के माग म उपस्थित बाधाओ को रोकने एव उनके निराकरण के लिये तथा आक्रामक अथवा शान्ति भग करनेवाले कार्यों के दमन के लिये प्रभावकारी सामूहिक कार्यवाही करना और शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा तथा न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तो के अनुकूल ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का निपटारा करना जिनसे शान्ति भग की आशका हो,

(२) समान अधिकारो एव आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न राष्ट्रो के बीच मैत्रीपूर्ण सबधो का विकास करना और विश्व शान्ति को सुदृढ करने के निमित्त अन्य उपयुक्त उपाय करना,

(३) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिये तथा मानव अधिकारों एवं प्रजाति, लिंग भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना सबके लिये मौलिक स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति के निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना और

(४) इन सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त विभिन्न राष्ट्रों के कार्यों में सामंजस्य स्थापित करनेवाले केन्द्र के रूप में कार्य करना।

घोषणापत्र की दूसरी धारा में उन सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है जिनके अनुसार सदस्य राज्यों को आचरण करना चाहिये। इस संगठन का आधार समस्त सदस्यों की प्रभुत्व सम्पन्नता एवं समानता है। सभी सदस्य राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा एस ढंग से करेंगे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा और न्याय को कोई खतरा न पहुँचे। सभी सदस्य राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी भी राज्य की प्रादेशिक अखण्डता अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध बल का प्रयोग नहीं करेंगे और न ऐसे प्रयोग की धमकी ही देंगे तथा न अन्य कोई ऐसा कार्य करेंगे जो संयुक्त राष्ट्र के प्रयोजनों के प्रतिकूल हो।

घोषणापत्र की पचपनवीं धारा में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग सम्बन्धी बातों का उल्लेख है। यह कहा गया है कि समस्त राष्ट्रों के मध्य शान्तिपूर्ण एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये आवश्यक स्थिरता एवं कल्याण की अवस्थाओं की सृष्टि के निमित्त संयुक्त राष्ट्र उन सब प्रकार के उपायों को प्रोत्साहन देंगे जिनके द्वारा लोगों का जीवन मान ऊँचा हो, उन्हें पूरा पूरा रोजगार मिल सके, आर्थिक एवं सामाजिक अभिवृद्धि के लिये उपयुक्त अवस्थाएँ प्राप्त हो सकें और वे मानव अधिकारों का उपभोग कर सकें।

संयुक्त राष्ट्र के वे सभी राज्य सदस्य हो सकते हैं जो शान्तिप्रिय हों और घोषणापत्र के दायित्वों को स्वीकार करते हों तथा जिन्हें संयुक्त राष्ट्र संगठन दायित्वों को पूर्ण करने के योग्य तथा इच्छुक समझे। संयुक्त राष्ट्र का कोई भी सदस्य जिसके विरुद्ध सुरक्षा परिषद् ने कोई निरोधक कार्यवाही की हो सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर मुअत्तिल किया जा सकता है परन्तु उसी परिषद् की सिफारिश पर वह बहाल भी किया जा सकता है। ऐसा कोई भी सदस्य जिसने बार-बार चार्टर के सिद्धान्तों का उल्लंघन किया हो सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर संयुक्त राष्ट्र से निकाला जा सकता है।

आरंभ में संयुक्त राष्ट्र के ५१ सदस्य थे परन्तु आज तक उनकी संख्या बढ़ कर १०४ हो गई है। इस संस्था की स्थापना के समय चीन इसका सदस्य था परन्तु उसके बाद चीन में साम्यवादी क्रान्ति हुई, समस्त चीन पर साम्यवादियों का अधिकार हो गया और तत्कालीन चीनी राष्ट्रवादी सरकार ने, जिसका नेता च्यांग काई शेक था, चीन छोड़ कर फार्मोसा द्वीप में शरण ली। अब चीन साम्यवादी है परन्तु संयुक्त राष्ट्र ने अभी तक साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान नहीं की है और फार्मोसा स्थित चीनी सरकार का दूत ही चीन का प्रतिनिधित्व करता है। चीन के अतिरिक्त अभी कोरिया, जर्मनी (पूर्वी तथा पश्चिमी) तथा कुछ अन्य राज्य संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं बन सके हैं।

संयुक्त राष्ट्र के मुख्य अंग निम्नलिखित हैं।

महासभा (General Assembly)—

महासभा संयुक्त राष्ट्र की प्रमुख संस्था है। संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य-राज्य इसके सदस्य होते हैं। इसमें प्रत्येक सदस्य राज्य पांच प्रतिनिधि तक भेज सकता है परन्तु उन सब का मत एक ही होता है। इस सभा के मुख्य कार्य विश्व-सहयोग के लिये सामान्य नीति निर्धारित करना, विश्व शान्ति सम्बन्धी तथा अन्तराष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करना और सुरक्षा परिषद् के समक्ष सिफारिश करना, अधीनस्थ संस्थाओं एवं विभागों के प्रतिवेदन प्राप्त करना और उन पर विचार करना, आय व्यय की व्यवस्था करना, सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों तथा संयुक्त राष्ट्र की अन्य संस्थाओं (एजेंसियों) के सदस्यों का निर्वाचन करना आदि हैं। यदि कोई स्थिति ऐसी उत्पन्न हो जाती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को खतरे की संभावना हो तो महासभा सुरक्षा परिषद् का ध्यान उसकी ओर आकर्षित कर सकती है।

महासभा के निर्णय सामान्यतया साधारण बहुमत से होते हैं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शान्ति सम्बन्धी सिफारिशों के लिये, सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों के तथा ट्रस्टीशिप कौंसिल के सदस्यों के निर्वाचन, नये सदस्यों की स्वीकृति, सदस्यों का अपदस्थ करना बजट सम्बन्धी मामलों आदि महत्वपूर्ण बातों में उपस्थित तथा मत देनेवाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। राष्ट्रसंघ में महत्वपूर्ण बातों में निर्णय सर्वसम्मति से होना आवश्यक था परन्तु संयुक्त राष्ट्र की महासभा में दो तिहाई बहुमत रखा गया है।

महासभा का अधिवेशन वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य होता है परन्तु आवश्यकता पड़ने पर एक से अधिक अधिवेशन भी हो सकते हैं। इसका कार्य सात स्थायी समितियों द्वारा होता है (१) सामान्य अथवा संचालन समिति (General or Steering Committee), (२) राजनीतिक एवं सुरक्षा समिति (Political and Security Committee) (३) आर्थिक एवं राजस्व समिति (Economic and Financial Committee), (४) सामाजिक, मानवतावादी, एवं सांस्कृतिक समिति (Social, Humanitarian and Cultural Committee), (५) ट्रस्टीशिप,समिति (Trusteeship Committee), (६) कानूनी समिति (Legal Committee) और (७) प्रशासन एवं बजट-समिति (Administration and budgetary Committee)

सुरक्षा परिषद् (Security Council)—

यह परिषद् संयुक्तराष्ट्र की कार्यपालिका संस्था है और इसका महत्व महासभा से भी अधिक है क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखने का उत्तरदायित्व इसी परिषद् का है महासभा का नहीं। इसके ग्यारह सदस्य होते हैं जिनमें से पांच अमेरिका के संयुक्त राज्य, इंगलैण्ड, रूस फ्रांस और चीन स्थायी सदस्य है। शेष ६ सदस्य अस्थायी होते हैं जिनका निर्वाचन महासभा द्वारा दो वर्ष के लिये किया जाता है। यह परिषद् ऐसी प्रत्येक समस्या पर विचार करती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न होने का भय हो और उसका शान्तिपूर्वक समाधान करने का प्रयत्न करती है। परिषद् सर्वप्रथम दोनों विवादरत पक्षों को आपस में ही अपना विवाद शान्तिपूर्ण ढंग से तै कर लेने के लिये कहती है। यदि वे ऐसा न करें तो परिषद् विवाद को निपटाने के लिये मध्यस्थता, पंच निर्णय, न्यायालय द्वारा निर्णय आदि उपायों में से किसी एक की सिफारिश करती है। यदि इससे भी काम नहीं निकलता तो परिषद् आर्थिक बहिष्कार की सिफारिश कर सकती है और यदि यह उपाय भी असफल हो जाय तो परिषद् अपने सुझावों को स्वीकार न करनेवाले राज्य के विरुद्ध युद्ध की भी घोषणा कर सकती है। ऐसे समय परिषद् सदस्य राज्यों से आवश्यक सेना की मांग करती है और सैनिक कार्यवाही के लिये आवश्यक सेना प्रस्तुत करना प्रत्येक सदस्य राज्य का कर्तव्य है। सेना सम्बन्धी मामलों में सुरक्षा परिषद् को परामर्श और सहायता देने के लिये एक समिति (Military Staff

Committee) की भी स्थापना की गई है। कोरिया मे, मिस्र पर इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा इजरेल के आक्रमण के समय तथा हाल ही मे (१९६०) कांगो मे संयुक्त राष्ट्र को अपनी सेना भेजने की आवश्यकता पड़ी है।

परन्तु इस प्रकार की कोई प्रभावकारी कार्यवाही करना सुरक्षा परिषद् के लिये सरल नही है। साधारण कार्यविधि सम्बन्धी मामलो में तो परिषद् के किन्ही भी ७ सदस्यो के मत से निर्णय हो जाता है परन्तु महत्व पूर्ण मामलो में इन सात मतो म पाचो स्थायी सदस्यो का स्वीकारात्मक मत अवश्य होना चाहिये, यदि उनमे से एक सदस्य का मत भी विरोध मे हो तो कोई कार्यवाही नही हो सकती। इन पाचो सदस्यो को इस प्रकार प्रभावकारी निषेधाधिकार (Veto) प्राप्त है।

सुरक्षा परिषद् का अधिवेशन दो सप्ताह म कम से कम एक बार अवश्य होना चाहिये, आवश्यक्ता होने पर कभी भी उसकी बैठक बुलाई जा सकती है। घोषणापत्र के अनुसार उसका अधिवेशन कभी भग नही होता, अत परिषद् के सदस्य राज्यो के स्थायी प्रतिनिधि सयुक्त राष्ट्र के केन्द्रीय कार्यालय (न्यूयार्क) मे ही रहते है ताकि तुरत ही परिषद् की बैठक मे शामिल हो सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा की चिन्ता करने के अतिरिक्त सुरक्षा परिषद् कुछ अन्य कार्य भी करती है जैसे नये सदस्यो को स्वीकृति के लिये महासभा से सिफारिश करना, ऐसे सदस्य राज्यो के, जिनके विरुद्ध सयुक्त राष्ट्र की ओर से कोई कार्यवाही की जारही हो, अधिकारो को स्थगित करने तथा ऐसे राज्यो को जो सयुक्त राष्ट्र के नियमो एव सिद्धान्तो का बार-बार उल्लघन कर रहे हो, सदस्यता से हटाने की महासभा से सिफारिश करना, महासभा के विशेष अधिवेशन बुलाना आदि।

आर्थिक एव सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council)—

इस परिषद् का कार्य युद्ध के आर्थिक एव सामाजिक कारणो को दूर करना है। यह अन्तराष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा एव स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयो पर विचार करती है और अपने विचारो एव प्रतिवेदनो को महासभा के समक्ष प्रस्तुत करती है। आर्थिक एव सामाजिक कार्यों के लिये तथा मानव अधिकारो के सवर्धन के लिये इसे आयोग (कमिशन) नियुक्त करने का अधिकार है। इसमे १८ सदस्य होते हैं जिनमे से ६ प्रतिवर्ष निवृत्त होते रहते हैं और उनके स्थान पर ६ नये सदस्यो का

तीन वर्ष के लिये महासभा द्वारा निर्वाचन होता रहता है। इस परिषद् के तत्वावधान मे अनेक महत्वपूर्ण सस्थाए काम करती हैं जसे इण्टरनेशनल बक, इण्टरनेशनल मॉनिटरी फण्ड, सिविल एविएशन, ऑर्गेनाईजेशन, फुड एण्ड एग्रीकल्चरल ऑर्गेनाइजेशन, एजूकेशनल, साइंटिफिक एण्ड कल्चरल ऑर्गेनाईजेशन (UNESCO) आदि।

न्यासित्व परिषद्—

जो प्रदेश पहले राष्ट्रसघ के आदश के अधीन शासित होते थे उनकी प्रशासनीय व्यवस्था के लिये तथा उन प्रदेशो के जो द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम स्वरूप शत्रु राज्यो से विलग होगये थे और उन प्रदेशा के प्रशासन के लिये जिन्ह उनके प्रशासनकर्ता राज्यों न स्वेच्छा से सयुक्त राष्ट्र के सरक्षण म रख दिये है इस परिषद् का निर्माण किया गया है। ऐसे प्रदेश सयुक्त राष्ट्र के पास न्यास अर्थात् धरोहर के रूप मे है। इस व्यवस्था के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा का सवधन, (२) न्यस्त प्रदेशा (Trust Territories) के निवासियों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एव शक्षणिक उन्नति करना तथा उन्हें स्वशासन के लिये शनै शन तयार करना, (३) मानव अधिकारो के लिय आदर भावना को प्रोत्साहित करना, ससार के समस्त लोगो में अन्योन्याश्रितता की भावना को प्रोत्साहित करना तथा प्रजाति, लिंग, भाषा अथवा धम के भेदभाव के बिना सबकी आधारभूत स्वतन्त्रताओ के लिये आदर भावना को बढाना और (४) न्याय के प्रशासन मे सबके लिये समान व्यवहार सुनिश्चित करना।

इस परिषद् मे (१) सयुक्त राष्ट्र के वे सदस्य होते है जो न्यस्त प्रदेशो के प्रशासन के लिये उत्तरदायी है, (२) सुरक्षा परिषद् के पाचो स्थायी सदस्यो मे से वे सदस्य जो न्यस्त प्रदेशो के प्रशासक नही है तथा (३) कुछ ऐसे सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन महासभा तीन वष के लिये करती है। इसका काय न्यस्त प्रदेशो के प्रशासको के प्रतिवेदना पर विचार करना, उन प्रदेशा के निरीक्षण की व्यवस्था करना, वहाँ के निवासियो के प्रार्थनापत्रो पर विचार करना आदि हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)—

इस न्यायालय म १५ न्यायाधीश होते हैं जिनका निर्वाचन महासभा तथा सुरक्षा परिषद् के द्वारा ९ वष के लिये होता है। इसमे एक राज्य के एक से अधिक न्यायाधीश नही हो सकते। इसकी स्थिति हॉलण्ड के हेग नगर म है।

मयुक्त राष्ट्र के समस्त सदस्य देश अपने मामले इसके सामने प्रस्तुत कर सकते हैं, और महासभा तथा सुरक्षा परिषद् किसी भी वैधानिक प्रश्न पर न्याया लय से परामर्श की प्रार्थना कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो, समझौता एव परम्पराओं की व्याख्या तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों की उपेक्षा का दण्ड निश्चित करने से सम्बन्धित सभी प्रश्न इस न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किय जा सकते हैं। सयुक्त राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य के लिये इस न्यायालय के निर्णयों को स्वीकार करना आवश्यक है। यदि कोई पक्ष इसके निर्णय का उल्लघन करे तो दूसरा पक्ष इस मामले को सुरक्षा परिषद् के समक्ष पेश कर सकता है और ऐसी अवस्था में सुरक्षा परिषद् को उस निर्णय को लागू करने के लिये आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार है।

सचिवालय (Secretariat)—

सयुक्त राष्ट्र के समस्त कार्यों का सम्पादन सचिवालय के द्वारा होता है जिसका प्रधान अधिकारी सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिये नियुक्त एक महासचिव होता है। वह महासभा सुरक्षा परिषद् आदि की बैठकों मे सचिव की हैसियत से भाग लेता है और उनके निर्णयों को कार्यान्वित करता है। वह किसी भी ऐसे मामले की ओर सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित कर सकता है जिससे उसकी राय मे विश्व शान्ति एव सुरक्षा को खतरा मालूम होता हो। उसे सयुक्त राष्ट्र के कार्यों का वार्षिक विवरण एक प्रतिवेदन के रूप मे प्रस्तुत करना पडता है। सचिवालय आठ मुख्य विभागो मे बँटा हुआ है—(१) प्रशासनीय एव वित्तीय सेवाओं का विभाग, (२) सार्वजनिक सूचना विभाग, (३) न्यासित्व और अस्वशासित प्रदेशों का विभाग, (४) कानूनी मामलों का विभाग, (५) सामाजिक मामलो का विभाग (६) सम्मेलन तथा सामान्य सर्वोदय का विभाग, (७) सुरक्षा परिषद् विभाग और (८) आर्थिक मामलों का विभाग। सचिवालय के समस्त कर्मचारियों का दायित्व सयुक्त राष्ट्र के प्रति है। महासचिव और उसके अधीन काम करनेवाले किसी भी कर्मचारी को सयुक्त राष्ट्र के बाहर किसी भी राज्य से परामर्श करने या निर्देश प्राप्त करने की अनुमति नही है। ये सभी कर्मचारी सयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों के होते हैं परन्तु जब तक वे सयुक्त राष्ट्र के सचिवालय मे कार्य करते हैं तब तक उनकी जिम्मेदारी अपने अपने राज्यो के प्रति न होकर सयुक्त राष्ट्र के प्रति होती है।

इन उपयु क्त प्रमुख सस्थाओ के अतिरिक्त अनेक अन्य विशिष्ट सस्थाएँ है जो सयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का अध्ययन करती है और उनके समाधान म सयुक्त राष्ट्र की सहायता करती हैं। उनम से कुछ उल्लेखनीय सस्थाओ के नाम और काय नीचे दिये जाते हैं।

पुनर्निर्माण तथा विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बक (International Bank for Reconstruction and Development)—जसा इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसका काय सदस्य राज्यो के पुनर्निमाण एव विकास के लिये आर्थिक सहायता देना है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)—इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास मे विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयो को दूर कर उसकी वृद्धि करना है।

भोजन तथा कृषि सगठन (Food and Agriculture Organization)—इसका उद्देश्य ससार म कृषि की उन्नति, खाद्य पदार्थों का अधिक उत्पादन और उनका समुचित बँटवारा करना है।

सहायता और पुनर्वासन सगठन (United Nations Relief and Rehabilitation Organization)—इसका उद्देश्य युद्ध से पीडित जनता की सहायता करना और उसके पुनर्वासन की व्यवस्था करना है।

विश्व स्वास्थ्य सगठन (World Health Organization)—इसका काय रोगो के सम्बन्ध मे अनुसधान करना, रोगो की रोक थाम के लिये आवश्यक परामर्श देना, नई चिकित्सा पद्धतियो का प्रसार करना आदि है।

शिक्षा, विज्ञान, सस्कृति सम्बन्धी सगठन (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization)—इसका उद्देश्य शिक्षा, विज्ञान एव सस्कृति द्वारा युद्ध रोकना और विश्व शान्ति को प्रतिष्ठित करना है। इस सस्था के सविधान की भूमिका मे कहा गया है कि 'क्योकि युद्ध मनुष्यो के मस्तिष्क मे आरम्भ होते हैं, अत शान्ति की रक्षा की व्यवस्था भी मनुष्यों के मस्तिष्को मे की जानी चाहिये। मानव इतिहास से यह बात स्पष्ट हो रही है कि ससार के विभिन्न देशो के निवासियो के रहन-सहन के ढग आदि की परस्पर जानकारी न होने से ही वह शका उत्पन्न होती है जिससे मतभेद युद्ध का रूप धारण कर लेते है।
केवल शासनो के राजनीतिक एव आर्थिक समझौतो पर आधारित शान्ति को ससार के निवासियो का स्थायी और हार्दिक समर्थन प्राप्त नहीं हो

सकता। अतः यदि शान्ति को विफल नहीं होना है तो उसका आधार मानव समाज की बौद्धिक एवं नैतिक एकता होना चाहिये।'

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office)—

यह संस्था पुरानी है और भूतपूर्व राष्ट्र-संघ के सम्बन्ध में इसकी चर्चा हो चुकी है।

समीक्षा—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा एवं सहयोग के साधन के रूप में संयुक्त राष्ट्र संगठन को भूतपूर्व राष्ट्र संघ की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली एवं सक्षम बनाने का प्रयत्न किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि संयुक्त राष्ट्र में राष्ट्रसंघ की अपेक्षा युद्ध को रोकने की क्षमता अधिक है। राष्ट्रसंघ के संविदा पत्र (Covenant) में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से तै करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया था किन्तु उसमें सदस्य राज्यों के लिये युद्ध का पूर्ण रूप से परित्याग आवश्यक नहीं था परन्तु संयुक्त राष्ट्र संगठन में युद्ध के परित्याग पर जोर दिया है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की धारा २ के अनुसार यह आवश्यक है कि सभी सदस्य राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा करें ताकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सुरक्षा और न्याय के लिये कोई संकट उपस्थित न हो सके। सभी सदस्य राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी भी राज्य की प्रादेशिक अखंडता अथवा उसकी स्वतन्त्रता के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे और न उसकी धमकी ही देंगे तथा अपनी शक्ति का प्रयोग संयुक्त राष्ट्र संगठन के उद्देश्य के प्रतिकूल अन्य किसी प्रकार से भी नहीं करेंगे। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संगठन ने युद्ध के परित्याग पर स्पष्ट रूप से जोर दिया है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ के पास कोई सेना नहीं थी जिसकी सहायता से वह अपने निर्णयों पर अमल करवा सकता। संयुक्त राष्ट्र संगठन के पास भी स्वयं अपनी कोई सेना नहीं है परन्तु आवश्यकता पड़ने पर, जैसा कोरिया, स्वेज तथा कांगो के मामलों में हुआ है, वह अन्तर्राष्ट्रीय सेना एकत्र कर सकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलताएँ—

अपने १५-१६ वर्ष के कार्यकाल में संयुक्त राष्ट्र संघ ने विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सफलताएँ प्राप्त की हैं। युद्ध रोकने और राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों के शान्तिपूर्ण निराकरण के लिये इसने कई जगह सफल प्रयास किया है। इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता के प्रश्न पर हॉलैण्ड और इण्डोनेशिया में युद्ध छिड़ने की नौबत आ चुकी थी परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ की मध्यस्थता से

परिणामस्वरूप युद्ध रुक गया और इण्डोनेशिया स्वतंत्र हो सका। इसी प्रकार पेलेस्टाइन मे भी उसको अरबो और यहूदियो के बीच युद्ध को रोकने में सफलता प्राप्त हुई और यहूदियो के स्वतंत्र राज्य इजराइल का जन्म हुआ। काश्मीर के प्रश्न पर भी भारतवर्ष के आवेदन पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने भारतवर्ष और पाकिस्तान के बीच मध्यस्थता कर युद्ध रोका हालांकि अभी तक इस समस्या का समाधान नहीं हो सका है। इसी प्रकार जब १९५६ में इङ्गलण्ड और फ्रांस ने स्वेज नहर के क्षेत्र पर और उनके साथ मिल कर इजराइल ने सिनाई प्रायद्वीप पर आक्रमण किया तो संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयत्नो के फल स्वरूप ही आक्रमणकारी सेनाएँ हटाई जा सकी। इजराइल और इजिप्ट के बीच तनाव की स्थिति अभी भी बनी हुई है जिससे उत्पन्न हो सकनेवाली युद्ध की सम्भावना को दूर करने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ ने दोनो राज्यो के बीच में स्थित गाजा के प्रदेश मे एक अंतर्राष्ट्रीय सेना भी रख छोडी है। इसी प्रकार जब १९५० मे उत्तरी कोरिया ने चीन की मदद से दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया तो संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना भेज कर आक्रान्ता को परास्त कर खदेड दिया और वहाँ शान्ति स्थापित की। यह इतिहास में प्रथम अवसर था जब कि सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत पर आचरण हुआ। लाओस में भी युद्ध को रोकने मे इसे सफलता प्राप्त हुई। अभी हाल ही मे कांगो के स्वतंत्र होने के उपरान्त उसके एक प्रान्त कटंगा के पृथक होने की आकांक्षा के फल-स्वरूप जब वहाँ उपद्रव होने लगे और कांगो की केन्द्रीय सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ से सहायता की प्रार्थना की तो उसने वहाँ एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना भेजी जो बडी कठिनाइयो का सामना करते हुए वहाँ शान्ति और देश की एकता को कायम रखने का प्रयत्न कर रही है।

सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रो में भी संयुक्त राष्ट्र संघ को काफी सफलता प्राप्त हुई है। इन क्षेत्रो मे इसके अनेकानेक कार्यों का संक्षिप्त विवरण भी देना यहां संभव नहीं है, केवल कुछ बातो का उल्लेख ही किया जा सकता है। सामाजिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र के कार्य हैं—(१) सामाजिक कल्याण का नियोजन संगठन और प्रशासन, (२) समुदाय, परिवार और शिशु कल्याण (३) अपराध निरोध तथा वेश्यावृत्ति जैसे अनाचारो का दमन आदि समाज की रक्षा के कार्य, (४) विकलांगो का पुनर्वासन, (५) मकानों का, निर्माण तथा नगरो एवं गांवो का नियोजन द्वितीय विश्वयुद्ध मे जो अनेक प्रदेश बिल्कुल नष्ट भ्रष्ट हो गये थे उनके असंख्य

निवासियो को जो अन्य देशो मे शरण ले रहे है, फिर से बसाने की भीषण समस्या को हल करने मे सयुक्त राष्ट्र सघ की विशिष्ट एजेंसिया ने बडा काय किया है और उन लोगो को अपने ही देश मे या अन्य देशो मे फिर स बसाने मे काफी सफलता प्राप्त की है। शिशु-कल्याण, प्रसूता-कल्याण, शिशु रोगा के नियत्रण आदि अनेक कार्यो म सयुक्त राष्ट्र का शिशुकोष बडी तत्परता से काय कर रहा है। इस कोष की स्थापना द्वितीय महायुद्ध म जो असख्य बालक अनाथ हो गय थे उनकी देखभाल के लिय की गई थी। अब यह सस्था स्थायी बन गई है और अब इसका काय मुख्यकर अल्पविकसित देशा के बालको का कल्याण सम्पादन करना है। सयुक्त राष्ट्र विभिन्न देशो मे, विशेष कर अल्पविकसित देशो म, ग्राम्य क्षेत्रो मे सामुदायिक विकास को प्रोत्साहन देना, कम कीमतवाले मकानो का निर्माण, औद्योगिक विकास, जनसख्या की वद्धि, शहरी क्षेत्रो के द्रुत विकास आदि से उत्पन्न होनेवाली समस्याओ को हल करना, स्वास्थ्य की उन्नति, शिक्षा का विस्तार, काम के अवसरो का विकास, श्रमिको के कल्याण, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक बीमा आदि अनेकानेक काय सफलता क साथ कर रहा है। अल्पसख्यको के साथ भेद भाव का निराकरण, नशीले पदार्थो का नियत्रण, सयुक्त राष्ट्र के आश्रित प्रदेशो मे करोडो निवासियो का कल्याण-सम्पादन, उपनिवेशो म स्वशासन का विकास आदि अनेकानेक अन्य कार्यो मे भी सयुक्त राष्ट्र की एजेंसियाँ सलग्न हैं। सयुक्त राष्ट्र का मानव कल्याण के मूलाधार के रूप म एक विशिष्ट उद्देश्य ससार के मानवमात्र के लिये मूल अधिकार-सुलभ करना भी है और इसी दृष्टि से उसने १० दिसम्बर १९४८ को मानव अधिकारो की घोषणा की जिनमे कुछ मुख्य अधिकार है—जीवन का अधिकार, स्वतत्रता, वयक्तिक सुरक्षा, शिक्षा प्राप्त करने, कानून के समक्ष समानता, आने जाने, आदोलन, धम, अन्य लोगो से सम्पक, सूचना प्राप्त करने आदि की स्वतत्रता राष्ट्रीयता, समान काय के लिय समान वेतन काम करने के लिये अनुकूल वातावरण, विवाह करने एव परिवार बसाने आदि के अधिकार। इन अधिकारो मे सम्बधित दो अन्तराष्ट्रीय समझौते तैयार किये गये है। जो राज्य इन समझौतो को स्वीकार करेंगे उनके लिये अपन नागरिको को समस्त मानव अधिकार प्रदान करना अनिवाय होगा।

असफलताएँ—ऊपर हमने सयुक्त राष्ट्र की विभिन्न क्षेत्रो मे प्राप्त सफलताओ की ओर सकेत किया है। हम देख रहे हैं कि भूतपूव राष्ट्रसघ के इतिहास की सयुक्त राष्ट्र के सम्बध मे पुनरावृत्ति हो रही है। भूतपूव

राष्ट्रसघ के समान सयुक्त राष्ट्र को भी राजनीतिक क्षेत्र मे पृथक अन्य क्षेत्रो म काफी सफलता प्राप्त हुई है परन्तु राजनीतिक क्षेत्र मे वह बहुत कम सफलता प्राप्त कर सका है। यद्यपि कुछ मामलो मे जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, उसने युद्ध रोकने म सफलता अवश्य प्राप्त की है, फिर भी अनेक मामले अभी ऐसे विद्यमान है जिनमे वह कुछ भी नही कर सका और जिनसे विश्वशाति को खतरा बना हुआ है। जमनी, कोरिया और वियतनाम क दश दो दो भागो म विभक्त है परन्तु उनका एकीकरण अभी तक नही हो पाया है। काश्मीर के एक भाग पर पाकिस्तान का अवैध अधिकार बना हुआ है परन्तु इतन वर्षो के बाद भी सयुक्त राष्ट्र पाकिस्तान को आक्रामक तक घोषित नही कर सका है। दक्षिण अफ्रिका भूतपूव जमन दक्षिणी पश्चिमी अफिका पर, जो सयुक्त राष्ट्र के सरक्षण मे होना चाहिय अधिकार किय हुए है और विश्व जनमत की उपक्षा करते हुए अपने राज्य म रग भेद और प्रजातीय पृथक्करण की नीति पर आचरण कर रहा ह परन्तु सयुक्त राष्ट्र इन दोनो मामला में दक्षिण अफिका पर कोई प्रभाव नही डाल सका है। इजराइल क निर्माण को कइ वष हो गये परन्तु सयुक्त राष्ट्र इजराइल तथा पडोसी अरब दशो क बोच अभी तक कोई स्थायी समझौता नही करा सका आर लाखा अरब शरणार्थिया की समस्या अभी तक ज्यो की त्यो बनी हुई है। साम्यवादी चीन का अभी तक सयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्राप्त नही हो सकी ह जिसस अन्तराष्ट्रीय तनाव म समय समय पर वृद्धि होता रहता ह। विश्वशाति क लिय अत्यन्त आवश्यक निःशस्त्रीकरण तथा अणु एव उद्जन बमा क परीक्षण पर नियन्त्रण सम्बन्धी प्रयत्नो म भी अभी तक लेशमात्र भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी ह। वर्षो स अमेरिका क सयुक्त राष्ट्र और सोवियत रूस के बीच तनाव (शीतयुद्ध) चल रहा ह जिसक कारण कभी भी विश्व-युद्ध छिड सकता ह परन्तु सयुक्त राष्ट्र इस तनाव को कम करन म बिलकुल असफल रहा है। सोवियत रूस न १९५६ म हगरी क रूस क चगुल स निकलन के प्रयत्न को बडी निदयता स दबा दिया और चीन न तिब्बत हडप लिया पर इन मामला म सयुक्त राष्ट्र कोई भी प्रभावकारी कायवाही नहीं कर सका। पुतगाल अपन उपनिवेशो म भीषण नरसहार कर रहा है परन्तु सयुक्त राष्ट्र असहाय की तरह दख रहा है।

सयुक्त राष्ट्र की निर्बलताए—

इन अनक मामलो म सयुक्त राष्ट्र असफल हो रहा है। हम ऊपर

संयुक्त राष्ट्र अपने उद्देश्यो म तभी सफल हो सकता है जब कि ससार के समस्त राज्य अपनी प्रभुता का परित्याग कर उसे एक वास्तविक विश्व राज्य का रूप दे दें। आथर मूर के विचार म एक विश्वसगठन के प्रभावकारी रूप मे काय कर सकने के लिए चार बातें आवश्यक है—(१) विश्व-सगठन राष्ट्रीय शासना का नही ससार के राष्ट्रो का प्रतिनिधित्व करे अर्थात् उस सगठन की कार्यपालिका के सदस्य विभिन्न राष्ट्रो की जनता द्वारा निर्वाचित हो, राष्ट्रीय शासना द्वारा मनोनीत नही, (२) उसके पास एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय सेना तथा ससार भर मे सनिक अडडे हो जिनकी माँग आजकल बडी शक्तियाँ अपनी सुरक्षा की दृष्टि से करती है (३) विश्व-सेना के निर्माण पर राष्ट्रीय शासना की सैन्य शक्ति घटा कर उतनी ही कर दी जाय जितनी उनकी आन्तरिक सुरक्षा के लिए आवश्यक हो और (४) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयो को अन्तर्राष्ट्रीय सेना कार्यान्वित करे। स्पष्टत आथर मूर विश्व-सगठन को एक विश्वराज्य का रूप देना चाहता है परन्तु वर्तमान अवस्था म इसकी कोई सभावना नही दिखाई देती। नूर्मा के विचार में वतमान रूप म सयुक्त राष्ट्र के तीन विशिष्ट राजनीतिक उपयोग हैं। 'इस सस्था का प्रयोग (१) विभिन्न राज्य परम्परागत ढग पर निर्मित अन्य राज्यो के विरुद्ध अपने गुटो को प्रचार द्वारा अथवा कानूनी एवं नैतिक तर्कों से उनका औचित्य प्रकट करके सुदृढ बनाने, या (२) सावजनिक वाद विवाद अथवा निजी तौर पर बातचीत, परामर्श, तथ्य सम्बन्धी खोजबीन आदि के द्वारा शक्ति सम्बन्धी समस्याओ का शान्तिपूर्ण समाधान ढूढने अथवा (३) राज्यो के सहयोग के आधार पर सामान्य प्रयोजनो की सिद्धि के लिये कर सकते है। यदि सयुक्त राष्ट्र को भूतपूर्व राष्ट्रसघ के मार्ग का अनुसरण नही करना है तो उसका भविष्य इनमे से तीसरे प्रयोजन की सिद्धि पर निभर रहेगा। सयुक्त राष्ट्र के चाटर के निर्माताओ की यह आशा थी कि ससार के बडे राज्य कुछ न्यूनतम सामान्य उद्देश्यो के लिये सह ोग करते रहगे जैसे वे द्वितीय विश्वयुद्ध मे कर रह वश्वयुद्ध की समाप्ति के कुछ समय बाद ही युद्धकालीन सहयोग स्समी राष्ट्रो तथा साम्यवादी राष्ट्रों के बीच शीत उ आशा भग्न हो गई। सयुक्त राष्ट्र सार्थक है जब कि सभी राज्य विशेष कर बडे हितो का सम्पादन करते हुए भी, भी, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की भावना

नही लिया था। परन्तु इस बहुमत मे शामिल राज्यों की कुल जनसंख्या ७६ करोड थी और शेष सदस्य राज्यों की जनसंख्या ८० करोड थी। इस प्रकार जनसंख्या की दृष्टि मे यह प्रस्ताव अल्पमत द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव था।

(६) संयुक्त राष्ट्र की असफलता का मुख्य कारण ससार के विभिन्न राज्यो की अपने अपने राष्ट्रीय हित से प्रेरित होकर कार्य करने की तथा राष्ट्रहित के सामने विश्वहित का तुच्छ समझने की प्रवृत्ति है। आजकल ससार के अधिकाश राष्ट्र दो गुटो में बटे हुए है जिनमे से एक का नेता अमरिका का संयुक्त राज्य है और दूसरे का रूस। संयुक्त राष्ट्र भी इसी गुटबन्दी के आधार पर बटा हुआ है और उसमे किसी भी मामले पर निर्णय न्याय अथवा संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यो की पूर्ति की दृष्टि से नही, उस निर्णय का राष्ट्रहित पर सम्भावित परिणाम की दृष्टि से किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र के अधिकाश सदस्य, विशेष कर बडे सदस्य, प्रत्येक प्रश्न पर इसी दृष्टि से विचार करते हैं और मत देते है। ऐसी दशा मे संयुक्त राष्ट्र उन्ही मामलो मे सफलता पूर्वक कार्य कर सकता है जिनमे इन बडे राज्यो के हित नही टकराते। बडे राज्यो ने संयुक्त राष्ट्र को अपने विरोधियो को बदनाम करने उनमे दोष निकालने तथा अपने राजनीतिक विरोधो की अभिव्यक्ति का साधन बना रखा है। ये राज्य संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यो का तभी तक आदर करते है जब तक उनके हितो को कोई हानि नही पहुँचती किन्तु जब उन्हे उसके उद्देश्यो का पालन करने मे अपने राष्ट्रीय हितो को क्षति पहुँचने की सभावना दिखाई देती है तो वे उनकी अपेक्षा करने तथा अप्रकट रूप मे उनका विरोध करने मे जरा भी सकोच नही करते। आजकल (१९६१ ६२) हम कागो मे स्पष्ट देख रहे है कि इंगलैण्ड और बेलजियम कटगा मे अपने आर्थिक हितो की सुरक्षा की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र की कार्यवाही को अनेक प्रकार से असफल करने के प्रयत्न मे लगे हुए है। वास्तव मे ऐसा मालूम होता है कि इन बडे राज्यो को संयुक्त राष्ट्र की क्षमता मे कोई विश्वास नही है। इस कथन की सत्यता इसी बात से प्रमाणित होती है कि संयुक्त राष्ट्र के विद्यमान होते हुए भी तथाकथित पश्चिमी राष्ट्रो ने एटलटिक पैक्ट सीएटो, मीडो आदि तथा रूस ने वार्सा पैक्ट जैसे स्वतंत्र सैनिक संगठन स्थापित कर रखे है। इससे निश्चय ही एक विश्व सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के विकास मे और संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यो की पूर्ति मे बाधा पडती है।

सयुक्त राष्ट्र अपने उद्देश्यो मे तभी सफल हो सकता है जब कि ससार के समस्त राज्य अपनी प्रभुता का परित्याग कर उसे एक वास्तविक विश्व राज्य का रूप देदें। आथर मूर के विचार मे एक विश्वसगठन के प्रभावकारी रूप मे काय कर सकने के लिये चार बाते आवश्यक है—(१) विश्व-सगठन राष्ट्रीय शासना का नही ससार के राष्ट्रा का प्रतिनिधित्व करे, अर्थात् उस सगठन की कामपालिका क सदस्य विभिन्न राष्टो की जनता द्वारा निर्वाचित हो, राष्ट्रीय शासनो द्वारा मनोनीत नही, (२) उसके पास एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय सेना तथा ससार भर मे सनिक अडडे हा जिनकी माग आजकल बडी शक्तिया अपनी सुरक्षा की दृष्टि से करती ह, (३) विश्व-सेना के निर्माण पर राष्ट्रीय शासनो की सैय शक्ति घटा कर उतनी ही कर दी जाय जितनी उनकी आतरिक सुरक्षा के लिय आवश्यक हो और (४) अतर्राष्ट्रीय यायालय के निणया का अतर्राष्ट्रीय सेना कायवित कर। स्पष्टत आथर मूर विश्व सगठन का एक विश्वराज्य का रूप दना चाहता है परन्तु वतमान अवस्था म इसकी कोई सभावना नही दिखाइ दती। शूमा के विचार म वतमान रूप मे सयुक्त राष्ट्र क तीन विशिष्ट राजनीतिक उपयोग है। "इस सस्था का प्रयोग (१) विभिन्न राज्य परम्परागत ढग पर निर्मित अय राज्यो के विरुद्ध अपने गुटो का प्रचार द्वारा अथवा कानूनी एव नतिक तर्को से उनका औचित्य प्रकट करके सुदृढ बनाने या (२) सावजनिक वाद विवाद अथवा निजी तौर पर बातचीत, परामश तथ्या सम्बधी खोजबीन आदि के द्वारा शक्ति सम्बधी समस्याओ का शान्तिपूण समाधान ढूढने अथवा (३) राज्या के सहयोग के आधार पर सामाय प्रयाजनो की सिद्धि के लिये कर सकते है। यदि सयुक्त राष्ट्र को भूतपूव राष्ट्रसघ के माग का अनुसरण नही करना है तो उसका भविष्य इनमे से तीसर प्रयोजन की सिद्धि पर निभर रहेगा। सयुक्त राष्ट्र के चाटर के निर्माताओ की यह आशा थी कि ससार के बडे राज्य कुछ यूनतम सामाय उद्देश्या की पूर्ति के लिये सहयोग करते रहगे जसे व द्वितीय विश्वयुद्ध म कर रह थे। परन्तु विश्वयुद्ध की समाप्ति क कुछ समय बाद ही युद्धकालीन सहयोग का अन्त हो गया और पश्चिमी राष्ट्रा तथा साम्यवादी राष्ट्रो के बीच शीत युद्ध आरम्भ हो गया जिससे यह आशा भग्न हो गई। सयुक्त राष्ट्र साथक और प्रभावकारी तभी हो सकता है जब कि सभी राज्य विशेष कर बडे शक्तिशाली राज्य, अपने अपने राष्ट्रीय हितो का सम्पादन करत हुए भी पारस्परिक भेद और विरोध होत हुए भी शान्तिपूण सह अस्तित्व की भावना

नही लिया था। परन्तु इस बहुमत मे शामिल राज्यो की कुल जनसख्या ७६ करोड थी और शेष सदस्य राज्यो की जनसख्या ८० करोड थी। इस प्रकार जनसख्या की दृष्टि से यह प्रस्ताव अल्पमत द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव था।

(६) सयुक्त राष्ट्र की असफलता का मुख्य कारण ससार के विभिन्न राज्यो की अपने अपने राष्ट्रीय हित से प्रेरित होकर काय करने की तथा राष्ट्रहित के सामने विश्वहित को तुच्छ समझने की प्रवृत्ति है। आजकल ससार के अधिकाश राष्ट्र दो गुटो में बटे हुए हैं जिनमे से एक का नेता अमेरिका का सयुक्त राज्य है और दूसरे का रूस। सयुक्त राष्ट्र भी इसी गुटबन्दी के आधार पर बटा हुआ है और उसमे किसी भी मामले पर निणय न्याय अथवा सयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यो की पूर्ति की दृष्टि से नही, उस निणय का राष्ट्रहित पर सम्भावित परिणाम की दृष्टि से किया जाता है। सयुक्त राष्ट्र के अधिकाश सदस्य, विशेष कर बडे सदस्य, प्रत्येक प्रश्न पर इसी दृष्टि से विचार करते हैं और मत देते है। ऐसी दशा मे सयुक्त राष्ट्र उन्ही मामलो मे सफलता पूवक काय कर सकता है जिनमे इन बडे राज्यो के हित नही टकराते। बडे राज्यो ने सयुक्त राष्ट्र को अपने विरोधियो को बदनाम करने, उनमे दोष निकालने तथा अपने राजनीतिक विरोधो की अभिव्यक्ति का साधन बना रखा है। ये राज्य सयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यो का तभी तक आदर करते हैं जब तक उनके हितो को कोई हानि नही पहुँचती किन्तु जब उन्हे उसके उद्देश्यो का पालन करने मे अपने राष्ट्रीय हितो को क्षति पहुँचने की सभावना दिखाई देती है तो वे उनकी उपेक्षा करने तथा अप्रकट रूप मे उनका विरोध करने मे जरा भी सकोच नही करते। आजकल (१९६१ ६२) हम कागो मे स्पष्ट देख रहे हैं कि इगलैण्ड और बलजियम कटगा मे अपने आर्थिक हितो की सुरक्षा की दृष्टि से सयुक्त राष्ट्र की कायवाही को अनेक प्रकार से असफल करने के प्रयत्न मे लगे हुए है। वास्तव मे ऐसा मालूम होता है कि इन बडे राज्यो को सयुक्त राष्ट्र की क्षमता मे कोई विश्वास नही है। इस कथन की सत्यता इसी बात से प्रमाणित होती है कि सयुक्त राष्ट्र के विद्यमान होते हुए भी तथाकथित पश्चिमी राष्ट्रो ने एटलटिक पेक्ट सीएटो, मीडो आदि तथा रूस ने वार्सा पक्ट जसे स्वतत्र सैनिक सगठन स्थापित कर रखे हैं। इससे निश्चय ही एक विश्व सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के विकास मे और सयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यो की पूर्ति मे बाधा पडती है।

संयुक्त राष्ट्र अपने उद्देश्यो म तभी सफल हो सकता है जब कि ससार के समस्त राज्य अपनी प्रभुता का परित्याग कर उसे एक वास्तविक विश्व राज्य का रूप दर्दें। आथर मूर के विचार म एक विश्वसगठन के प्रभावकारी रूप मे काय कर सकने के लिय चार बातें आवश्यक है—(१) विश्व-सगठन राष्ट्रीय शासनो का नही ससार के राष्ट्रो का प्रतिनिधित्व करे अर्थात् उस सगठन की कायपालिका के सदस्य विभिन्न राष्ट्रो की जनता द्वारा निर्वाचित हो, राष्ट्रीय शासनो द्वारा मनोनीत नही, (२) उसके पास एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय सेना तथा ससार भर मे सनिक अड्डे हो जिनकी माग आजकल बडी शक्तिया अपनी सुरक्षा की दृष्टि से करती है, (३) विश्व सेना के निर्माण पर राष्ट्रीय शासनो की सैन्य शक्ति घटा कर उतनी ही कर दी जाय जितनी उनकी आतरिक सुरक्षा के लिये आवश्यक हो और (४) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निणयो को अन्तर्राष्ट्रीय सेना कायन्वित करे। स्पष्टत आथर मूर विश्व सगठन को एक विश्वराज्य का रूप देना चाहता है परन्तु वतमान अवस्था म इसकी कोई सभावना नही दिखाई देती। शूमाँ के विचार मे वतमान रूप म सयुक्त राष्ट्र के तीन विशिष्ट राजनीतिक उपयोग हैं। 'इस सस्था का प्रयोग (१) विभिन्न राज्य परम्परागत ढग पर निर्मित अन्य राज्यो के विरुद्ध अपने गुटो को प्रचार द्वारा अथवा कानूनी एव नैतिक तर्कों स उनका औचित्य प्रकट करके सुदृढ बनाने, या (२) सावजनिक वाद विवाद अथवा निजी तौर पर बातचीत, परामश तथ्यो सम्बन्धी खोजबीन आदि के द्वारा शक्ति सम्बन्धी समस्याओ का शान्तिपूण समाधान ढूढने अथवा (३) राज्यो के सहयोग के आधार पर सामान्य प्रयोजनो की सिद्धि के लिये कर सकते है। यदि सयुक्त राष्ट्र को भूतपूव राष्ट्रसघ के माग का अनुसरण नही करना है तो उसका भविष्य इनमे से तीसरे प्रयोजन की सिद्धि पर निभर रहेगा। सयुक्त राष्ट के चाटर के निर्माताओ की यह आशा थी कि ससार के बडे राज्य कुछ न्यूनतम सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिये सहयोग करते रहेगे जैसे वे द्वितीय विश्वयुद्ध मे कर रहे थे। परन्तु विश्वयुद्ध की समाप्ति के कुछ समय बाद ही युद्धकालीन सहयोग का अन्त हो गया और पश्चिमी राष्ट्रो तथा साम्यवादी राष्ट्रो के बीच शीत युद्ध आरम्भ हो गया जिसस यह आशा भग्न हो गई। सयुक्त राष्ट्र साथक और प्रभावकारी तभी हो सकता है जब कि सभी राज्य, विशेष कर बडे शक्तिशाली राज्य, अपने अपने राष्ट्रीय हितो का सम्पादन करते हुए भी, पारस्परिक भेद और विरोध होते हुए भी शान्तिपूरण सह अस्तित्व की भावना

का विकास करते हुए, प्रतियोगिता की अपेक्षा सहयोग को अधिक महत्व देते हुए, मानव समाज के हितो को सवश्रेष्ठ समझ कर सामान्य प्रयोजनो की सिद्धि के लिये परस्पर सहयोग द्वारा प्रयत्न करें। दुर्भाग्यवश वतमान स्थिति मे इसकी कोई सभावना नही दिखाई दती और यदि इन बडे राज्यो में सद्बुद्धि नही आई तो सयुक्त राष्ट्र की भी वही गति होती हुई दिखाई देती है जो भूतपूर्व राष्ट्र सघ की हुई थी।

परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि सयुक्त राष्ट्र बिलकुल निरथक है। उसने आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्रो म काफी सफलता प्राप्त की है और यद्यपि उसे राजनीतिक क्षेत्र में कम सफलता प्राप्त हुई है तथा बडे राज्यो के युद्ध पर उतारू हो जाने पर युद्ध रोकने की क्षमता भी उनम नही है तो भी उसकी उपस्थिति से शान्तिपूर्ण समझौता के अवसरो मे वृद्धि हुई है और शान्तिपूर्ण ढगो के प्रयोग को प्रोत्साहन मिला है। छोटे राज्यो के युद्ध को वह सफलतापूवक रोक सका है और बडे राज्य भी उसकी उपस्थिति म सरलता से युद्ध न छेड कर सयुक्त राष्ट्र म अपने पक्ष को तथा अपनी नीतियो को न्यायोचित सिद्ध करके विश्वजनमत को अपने पक्ष मे करने का प्रयास करते हैं। धीरे धीरे ससार के अनेक परतत्र देश स्वतन्त्र होकर सयुक्त राष्ट्र के सदस्य बनते जा रहे हैं और जैसा हम देख चुके हैं, उसके सदस्यो की सख्या ५१ से बढ कर अब १०४ हो गई है जिनमे से अनेक देश ऐसे हैं, जैसे भारतवर्ष, इण्डोनेशिया बर्मा, लका, युगोस्लाविया तथा अनेक नये अफ्रीकी राज्य, जो किसी गुट म शामिल न होकर निष्पक्ष दृष्टि से काय करते हैं। इनका कोई एक गुट नही है परन्तु फिर भी इन राज्यो के द्वारा सयुक्त राष्ट्र म एक प्रकार से एक तीसरी शक्ति का निर्माण हो गया है जो दोनो गुटो के बीच मध्यस्थ का काय कर युद्ध रोकने का काय कर सकते है। यह एक बडी महत्वपूर्ण घटना है और विश्वशान्ति की दृष्टि से इसके मूल्य को सही न आकना गलत होगा।

ऊपर हमने सयुक्त राष्ट्र की जो कमजोरियाँ देखी है उनम से कुछ को दूर करके सयुक्त राष्ट्र को सुदृढ बनाने के लिये कुछ उपाय भी सुझाये जा रहे हैं। सयुक्त राष्ट्र का सगठन वसा ही बना हुआ है जसा उसके निर्माण के समय था। उस समय एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देश परतत्र थे और सयुक्त राष्ट्र मे योरोपीय तथा अमरीकी राज्यो का ही महत्व था परन्तु अब एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देश स्वतत्र होकर उसके सदस्य बन गये हैं और बनते जा रहे हैं। उन्हे इस सगठन में उचित स्थान दिया जाना

चाहिये ताकि उसका आधार न्यायपूर्ण हो सके और उसके लिये सभी देशो मे ममत्व एव आदर भावना का उदय हो सके। इसके अतिरिक्त जो राज्य अभी सयुक्त राष्ट्र की सदस्यता से वचित हैं उन्हे सदस्यता प्रदान कर उसे वास्तविक रूप मे विश्व-सस्था बनाना भी आवश्यक है। सुरक्षा परिषद् में पाँच स्थायी राज्यो को जो निषेधाधिकार है उसका अन्त करने का भी सुझाव दिया जा रहा है। परन्तु यह सुधार उन राज्यो की अनुमति पर ही निर्भर है और रूस इसका अन्त करने के लिये तयार नही है। सुरक्षा परिषद् पर विश्व शान्ति एव सुरक्षा कायम रखने का दायित्व है किन्तु उसकी शक्तियाँ इस महान दायित्व के निर्वाह के लिये पर्याप्त नही हैं। उसके निर्णय सदस्य राज्यो पर बन्धनकारी नही होते, वे सिफारिश मात्र होते हैं। यदि उससे यह आशा की जाती है कि वह अपना दायित्व पूरा करे तो उसे अपने निर्णयो को कार्यान्वित करने के लिये आवश्यक अधिकार एव सत्ता प्राप्त होनी चाहिये। 'अदरूनी मामलो' की स्पष्ट व्याख्या की जानी चाहिये ताकि दक्षिणी अफ्रीका तथा पुर्तगाल जैसे राज्य अपनी प्रजा के मूल अधिकारो का हनन कर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न न कर सकें जो विस्फोटक हो और विश्व शान्ति के लिये घातक बन सके। जसे हम ऊपर बतला आये है दोनों गुटो ने जो अपने अपने प्रादेशिक गुट बना रखे है उनसे एक विश्व सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के विकास मे बाधा पड रही है। उनका अन्त होना चाहिये।

उपयुक्त सुझावो मे से अनेक सुझाव चार्टर मे सशोधन द्वारा ही कार्यान्वित किये जा सकते है परन्तु चार्टर मे कोई भी सशोधन तभी हो सकता है जब कि महासभा मे उसे पाँचो स्थायी सदस्यो सहित कम से कम दो तिहाई सदस्य राज्यो की स्वीकृति प्राप्त हो। इस स्वीकृति के प्राप्त होने की कोई आशा नही दिखाई देती क्योंकि बडे राज्य अपने विशेष अधिकार छोडना नही चाहते। ऐसी स्थिति मे जो कुछ हो सकता है वह इतना ही कि महासभा तथा सुरक्षा परिषद् की जो वर्तमान् शक्तियाँ है उनका पूर्ण प्रयोग हो। वे उन सब कार्यो को करें और उन सब तत्वो का प्रयोग करे जो उनके प्रयोजन के लिये आवश्यक हो और जिनका चार्टर मे निषेध न हो। जब इण्डोनेशिया की स्वतत्रता का प्रश्न सुरक्षा परिषद् के समक्ष प्रस्तुत हुआ था तो नीदरलैंड ने उसे अपना उपनिवेश होने के कारण उसे अपने घरेलू अधिकार-क्षेत्र का प्रश्न बतला कर सुरक्षा परिषद् के हस्तक्षेप का विरोध किया था परन्तु

सुरक्षा परिषद् ने उस विरोध की उपेक्षा कर हस्तक्षेप किया और इण्डोनेशिया को स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकी। अन्य उपनिवेशों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही कार्यवाही की जा सकती है। महासभा और सुरक्षा परिषद् अपने अधिकारों का उनकी विस्तृत व्याख्या करके विस्तार कर सकती हैं परन्तु इसमें भी बड़े राज्यों की सहमति और उनका सहयोग आवश्यक है और वर्तमान् स्थिति में इस प्रकार बिना चार्टर के संशोधन के संयुक्त राष्ट्र की शक्तियों के विस्तार की संभावना अत्यन्त सीमित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त राष्ट्र की त्रुटियों को दूर करके उसे सुदृढ़ बनाना वर्तमान शीत युध्द के वातावरण में जब कि संसार के दोनों शक्तिशाली राज्य एक दूसरे के प्रति सशंक हैं और दोनों ने अपने अपने गुट बना रखे हैं, संभव नहीं है। संसार के अधिकांश राष्ट्र दो गुटों में बंटे हुए हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके बीच युद्ध अनिवार्य है। पिछले विश्व युद्ध के भयंकर विनाश की स्मृति और अणु एवं उद्जन-बम की विध्वंसकारिणी शक्ति से सर्वनाश के भय के कारण ऐसा नहीं मालूम होता कि बड़े राष्ट्र सरलता से युद्ध के लिये तयार हो जायेंगे। इस प्रकार विश्व शान्ति को अभी कोई वास्तविक खतरा दिखाई नहीं देता। परन्तु इस प्रकार की भयजनित शान्ति वास्तविक शान्ति नहीं और इस प्रकार का सह अस्तित्व भी सच्चे अर्थ में सह अस्तित्व नहीं। सच्चा सह अस्तित्व और सच्ची शान्ति तो तभी हो सकती है कि जब सब राष्ट्र सामान्य प्रयोजनों के लिये सहयोग करें। इसके लिये यह आवश्यक है कि जिन कारणों से विभिन्न राष्ट्रों के बीच मनोमालिन्य, शंका, ईर्ष्या, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं उनका निराकरण किया जाय। आजकल दो बड़े शक्तिशाली प्रभाव अशान्ति के कारण बने हुए हैं—(१) परतन्त्र देशों का शोषण और उनकी स्वतन्त्र होने की इच्छा अर्थात् परतन्त्र देशों की राष्ट्रीय भावना और (२) पूंजीपतियों तथा श्रमिकों का विश्व-व्यापी संघर्ष। यदि समस्त परतन्त्र प्रदेशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है तो विश्व शान्ति को खतरे में डालने वाला एक बहुत बड़ा कारण मिट जायगा। पूंजीवादी देशों में श्रमिकों का शोषण बन्द होना चाहिये और ऐसी कोई व्यवस्था होनी चाहिये जिसमें धनियों और निर्धनों की असमानता दूर हो तथा पूंजीपतियों एवं श्रमिकों दोनों ही के प्रति न्याय हो। साम्यवादी व्यवस्था का अभी तक का अनुभव विशेष आशाप्रद नहीं मालूम होता। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी के न्यासित्व (Trusteeship) सिद्धान्त का, जिसके अनुसार पूंजीपति अपनी

सम्पत्ति को समाज की धरोहर समझ कर उसका उपयोग करता है, प्रयोग आशाजनक दिखाई देता है, हालाँकि बहुत से आलोचक उसे कोरा आदर्शवाद कह कर उसका उपहास करते है। यदि इन दोनो अनिष्टकारी स्थितियो का अन्त हो जाता है तो ससार मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है है जिसमें वास्तविक सह अस्तित्व एव सहयोग सभव हो सके और सयुक्त राष्ट्र सफलतापूर्वक कार्य कर सके। ग्रीन के इस कथन में बहुत कुछ सत्य दिखाई देता है कि युद्ध राज्यो की अपूर्णता और आतरिक सामजस्य के अभाव का द्योतक है। ज्यो-ज्यो राज्य पूर्णता की ओर अग्रसर होते जायगे अर्थात् ज्यो ज्यो राज्य अपने नागरिको के लिये अधिकाधिक आदर्श अधिकार सुलभ करते जायँगे त्यो-त्यो युद्धो का अभाव होता जायगा और अन्त मे न केवल युद्धो का अपितु युद्ध की प्रवृत्ति का भी लोप होता जायगा।

अन्त में यह ध्यान रखना चाहिये कि सयुक्त राष्ट्र उसके सदस्य राज्यो से भिन्न कुछ नही है। सयुक्त राष्ट्र के कार्य वे ही हो सकते है जो उसके सदस्य-राज्य करते हैं। यदि उसके विभिन्न सदस्य राज्य उसके उद्देश्यो का आदर न करते हुए अपने अपने राष्ट्रीय हितो की सिद्धि मे ही लगे रहे तो सघर्ष अनिवार्य हो जायगा। वह तो एक साधन है, उसकी सफलता अथवा असफलता इस बात पर निर्भर है कि उसका प्रयोग किस बात के लिये किया जाता है। ससार के विभिन्न राज्य उसका अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिये ही उपयोग करें यह उनकी जनता पर निर्भर है। किसी भी देश की जनता युद्ध नही चाहती, युद्ध से किसी का लाभ नही होता, उल्टे उससे सबको अपार हानि एव कष्ट ही होता है। प्रत्येक देश की जनता का यह कर्तव्य है कि वह इस बात को समझते हुए युद्ध का विरोध करे और अपने देश को युद्ध में शामिल न होने दे। इस प्रकार यदि विश्व जनमत युद्ध विरोधी एव शांतिप्रिय बन जाय तो युद्ध असभव हो जायगा और सयुक्त राष्ट्र सच्ची शान्ति, सच्चा सह अस्तित्व एव अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग सुनिश्चित कर सकेगा। मानव कल्याण इसी सत्य को हृदयगम कर लेने मे है। भारत वर्ष की सदा से यही नीति रही है उसने सदैव विश्व को यही सदेश दिया है और आजकल भी वह इसी नीति के अनुसार व्यवहार कर रहा है। उसकी नीति का विश्व राजनीति पर कुछ प्रभाव भी पड रहा है और हम आशा करते है कि धीरे धीरे यह प्रभाव अधिकाधिक व्यापक होता जायगा। यदि ऐसा हो सका और ससार युद्ध की विभीषिका से मुक्ति पाकर शान्ति का अनुभव कर सका तो यह भारत की मानव-समाज की एक बडी सेवा होगी।

प्रश्न

१ राष्ट्रीयता की परिभाषा करते हुए उसके लक्षण बतलाइये और उसके गुण दोषों पर प्रकाश डालिये।

२ क्या राष्ट्रीयता मानव सभ्यता एव विश्व शान्ति की शत्रु है ?

३ राष्ट्र राज्य से क्या तात्पर्य है ? क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि 'आधुनिक ससार की सबसे बड़ी आवश्यकताओ मे से एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण की है जिसमे राज्य और राष्ट्र की सीमाएँ आवश्यक रूप से समान न हो ?

४ साम्राज्यवाद से आप क्या समझते हैं ? उसकी परिभाषा कीजिये और उसके विकास मे सहायक तत्वो का वर्णन कीजिये।

५ साम्राज्यवाद के पक्ष और विपक्ष मे दिये जानेवाले तर्कों का विवेचन कीजिये।

६ क्या साम्राज्यवाद राष्ट्रीयता का आवश्यक परिणाम है ?

७ क्या हम साम्राज्यवाद को राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का समन्वय कह सकते हैं ?

८ अन्तर्राष्ट्रीयता से क्या आशय है ? उसके विकास मे किन किन तत्वों ने सहायता दी है ?

९ अन्तर्राष्ट्रीयता की सफलता के मार्ग मे क्या-क्या बाधाएँ हैं ? उनका निराकरण कैसे हो सकता है ?

१० राष्ट्र सघ (League of Nations) क्यों असफल रहा ?

११ सयुक्त राष्ट्र सघ के सगठन का सक्षिप्त वर्णन कीजिये।

१२ सयुक्त राष्ट्र सघ मे आपको क्या कमजोरियाँ दिखाई देती हैं ? वे कैसे दूर की जा सकती हैं ?

१३ सयुक्त राष्ट्र सघ की सफलताओं एव असफलताओं का वर्णन कीजिये।

चुने हुए पाठ्य ग्रन्थ

Appadorai,	The Substance of Politics
Asirvatham,	Political Theory
Barker,	Political Thought in England from Spencer to the Present Day
"	Principles of Social and Political Theory
Burns,	Political Ideals
Coker,	Recent Political Thought
Cole,	*A Guide to Modern Politics*
"	Social Theory
Dhawan,	Political Philosophy of Mahatma Gandhi
Garner,	Political Science and Government
Gettell,	Introduction to Political Science
Gilchrist,	Principles of Political Science
Ilyas Ahmad,	The First Principles of Politics
Joad,	Modern Political Theory
Kranenberg,	Political Theory
Laski,	Introduction to Politics
"	A Grammar of Politics
"	State in Theory and Practice
Leacock,	Elements of Political Science
Lord,	Principles of Politics
Russell,	Roads to Freedom
Wassermann,	Modern Political Philosophers
Wilde,	Ethical Basis of the State
Wilson,	Elements of Modern Politics
Willoughby,	The nature of the State

मुद्रक श्याम प्रिंटिंग प्रेस, मद्दीरपाड़ा, राजामंडी, आगरा।